उत्सर्ग

जो जीवित कालमें मुझे पुत्रवत् स्नेह करती थीं,
जिनका तपस्विनीकी भाँति आदर्श जीवन
हिन्दू रमणीमात्रके लिए ही अनुकरणीय है
जो शोकसन्तप्ता होकर निर्विण्णमानससे मृत्युके कुछ महीने पहले
मेरे पास आकर अन्तमें
सिन्धुतट पर पुरुषोत्तम धाममें ज्ञानावस्थामें भगवन्नाम
स्मरण करते-करते शरीर त्याग करके
वैकुण्ठ-धामको चली गयी हैं,
उन्हीं देवी प्रतिमा मेरी जननीस्थानीया
"स्वर्गीया नृत्यकाली देवी" के पवित्र नाम पर
और
जो मेरी समस्त दीनताकी उपेक्षा करके भी
मुझे शिशुकालसे बहुत ही स्नेह करती थीं,
जो दया, परोपकार, साधुता और सत्यनिष्ठाकी आदर्श थीं,
जो
भगवान्के प्रति एकान्त अनुरागिणी,
स्वजनवत्सला और पतिपरायणा थीं,
मेरी उन्हीं स्नेहमयी भगिनी
"स्वर्गीया रचदा देवी" की
पवित्र स्मृतिके निमित्त
यह ग्रन्थ श्रद्धा और भक्तिके साथ
उत्सर्ग किया गया।

—लेखक

सम्पादकीय निवेदन

हमारे इस दैनिक जीवनके "घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धन-चिन्ता" के राज्यसे मनुष्य सोपानके बाद सोपानको अतिक्रम करके ईश्वरोपलब्धिके राज्यमें किस प्रकार पहुँचता है—उसकी कहानी नितान्त ही चित्ताकर्षक है। प्रथम जीवनकी लक्ष्यहीन आकांक्षा किस तरह धीरे-धीरे परम व्याकुलतामें रूपान्तरित हो जाती है, वह व्याकुलता फिर किसी चुम्बकीय आकर्षणसे ईश्वरोन्मुख हो जाती है—सम्भवतः सभी पाठकोंके जीवनमें वह अमूल्य अभिज्ञता कम-से-कम एक बार आयी होगी। किन्तु उसी स्थानपर तो इस मृत्युञ्जयी कहानीका आरम्भ है! हमलोगोंके बीचसे ही फिर दो-चार मनुष्य "येनाहं नामृत स्याम" कह कर आगे बढ़ जाते हैं, और उसके बाद ही शुरू होती है मानव-जीवनकी वह अग्निपरीक्षा—जहाँ जो कुछ तुच्छ है, जो कुछ मलिन है—सभी जल जाते हैं, सभी मलिनताओंसे मुक्त होकर विकासोज्ज्वल मानवात्मा ईश्वरको प्रत्यक्ष देख पाते हैं! साधारण मनुष्योंके बीचसे निकल आते हैं महामानव—रत्नाकर हो जाता है बाल्मीकि, तुच्छ ग्रामीण कवि हो जाता है सन्त तुलसीदास, भक्त सूरदास, सन्त ज्ञानेश्वर!

सहजमें ही यह बात समझमें आजाती है कि ईश्वरोपलब्धि ... ...ा एकदम सरल नहीं है। उपनिषद्में ऋषिने कहा है—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।"

शाणित क्षुरके फलककी तरह यह पथ दुरतिक्रमणीय है। इसीलिए तो इस पथके पथिक इतने कम हैं। गीतामें भी यही बात कही गयी है—

> "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥"

हे अर्जुन, सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य मेरे लिए साधना करता है, और इस प्रकार सहस्र-सहस्र सिद्ध साधकोंमें कदाचित् कोई एक मेरे स्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है! ऐसे तत्त्वदर्शी व्यक्ति झुण्डके झुण्ड नहीं मिलते—इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हमारे जीवनका परम सौभाग्य है कि ऐसे ही एक कर्मनिष्ठ पुरुषके सम्पर्कमें हमलोग आये हैं, निकट रह कर उनकी जीवन-धाराको हमने पर्यवेक्षण किया है, उनकी साधन-पद्धति और उपलब्धियों से हम परिचित हुए हैं, और सबसे बढ़कर आनन्दका विषय यह है कि, उनकी उपलब्धियाँ उनकी विभिन्न रचनाओंमें भविष्यकालके लिए सञ्चित हैं। ऐसा सुसंयोग सहजमें नहीं मिलता।

इस 'विल्वदल' नामक ग्रन्थमें ग्रन्थकारका मूल वक्तव्य और उनकी उपलब्धियोंकी प्रायः सभी बातें उपस्थित हैं। उस दृष्टिसे यह ग्रन्थ-रचयिताके जीवनका दर्पणस्वरूप है। जो लोग इस पथके पथिक हैं, इस रसके पिपासु हैं, उन लोगोंको यह उपलब्धिमय

ग्रन्थ चिरनूतन होकर दीर्घकालव्यापी एक ज्योतिर्मय पथ-निर्देश करेगा।

कम-से-कम इसी बात पर हम विश्वास करते हैं। इसीलिए बङ्ग भाषा के द्वितीय संस्करणके समय जब यह ग्रन्थ हमारे हाथ में आया, तब उपलब्धियोंके अनुसार सिलसिलेवार सजानेकी आवश्यकता मालूम हुई, अत: अपने ज्ञान और अपनी बुद्धिके अनुसार हमने इस पथकी पद्धति और उपलब्धिकी धाराका अनुसरण किया है, और उसी प्रकार निबन्धोंको सजाया है। सम्भवतः नवीन पाठकोंके लिए इन पर्यायोंकी साधारण व्याख्या की आवश्यकता हो सकती है--इसीलिए इन क्रमोंका विवरण यहाँ देना हम उचित समझते हैं।

इस ग्रन्थके प्रथम खण्डमें 'मुखबन्ध' नामक शीर्षकमें जो निबन्ध हैं वे मनुष्य जीवन, अध्यात्मराज्य और इन दोनोंके पारस्परिक सम्पर्क पर ग्रन्थकारके अपने विचार हैं। ग्रन्थके दूसरे अध्यायोंमें भी अध्यात्मवादके सम्बन्धमें कुछ वक्तव्य हैं, किन्तु उनकी अन्यान्य विशेषताओंके कारण उन्हें विशेष पर्यायों के अन्तर्गत किया गया है। ये निबन्ध उन विशेषताओंसे मुक्त होनेके कारण 'मुखबन्ध' पर्यायके अन्तर्गत रखे गये हैं।

दूसरे पर्यायोंका प्रत्येक निबन्ध मूलत: साधनपथका अनुभूतिमूलक है। इस पथके पथिक मात्र इनका अध्ययन करते समय इस बातकी उपलब्धि करेंगे। साधारण पाठकोंकी जान-

कारीके लिए एक बात कही जायगी कि उपनिषदोंके युगसे लेकर आजतक भारतीयोंमें जो एक विशेष साधन-पद्धति चली आ रही है, जिसका पश्चिम देशोंके रहनेवाले Mysticism कह कर परिचय देते हैं-ये निबन्ध मूलतः उसी पद्धतिके धारक और वाहक हैं।

'उद्बोधन' पर्यायके सभी निबन्ध इसी पद्धतिकी अनुभूतिके प्रथम सोपान हैं। इस धरणीके सभी सौन्दर्यों और माधुर्योंमें रहते हुए भी मनुष्यका मन किसी समय एक नामविहीन अभावकी अनुभूतिसे विषादग्रस्त हो उठता है, तब सभी बातें बेसुरी जान पड़ती हैं। मनुष्य अपने चित्तके इस अचिन्तनीय परिवर्तनसे चकित होकर अन्धकारके बीच मार्ग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक लोकातीत शक्तिके सम्बन्धमें सचेतन हो जाता है, ईश्वरको ही अपना एकमात्र शरणदाता समझने लगता है। इस खण्ड के निबन्धोंमें ये ही बातें बतलायी गयी हैं।

उसके बाद आरम्भ होती है 'साधना'। शाणित छुरकी धार की भाँति दुरतिक्रमणीय, अज्ञात, गहन मार्गमें चलनेका दुस्तर प्रयास होने लगता है। भुक्तभोगी मात्र ही जानते हैं कि साधक के जीवनमें ये स्तर कितने कठिन हैं। जीवनके इस पर्यायकी अनुभूतियोंको ही हमने तीसरे खण्डमें एकत्रित किया है।

किन्तु साधकोंका कहना है कि सैकड़ों कठोरताओं, सैकड़ों नियमोंके रहते भी शायद मनुष्यके मनकी मलिनता सहजमें दूर नहीं होना चाहती। इसी कारणवश सर्वदा सत्सङ्ग, सदालाप तथा ईश्वर-चिन्तनका प्रयोजन है। जो संशय

निरन्तर मस्तक ऊँचा करना चाहता है, उसे महाजनपन्था दिखाकर निवृत्त करना आवश्यक है। इस पद्धतिकी ओर लक्ष्य रखकर हमने इस श्रेणीके निबन्धोंको 'संशयमोचन' शीर्षक देकर चतुर्थ खण्डमें सन्निवेशित किया है।

पञ्चम खण्डकी रचनाओंको 'पागल' शीर्षकके अन्तर्गत रखा गया है, इन रचनाओंकी विशेषताके कारण भी ऐसा किया गया है। इसके अतिरिक्त एक और बात है। Mystic या मर्मी पन्थ के साधक मात्र ही उपलब्धिके ऊर्द्ध्वस्तर पर साधारण मनुष्यों से कुछ बेमेलसे हो जाते हैं। उस समय उनका व्यवहार देखकर साधारण लोग उन्हें पागलके सिवा और कुछ नहीं समझ पाते। ख्रीष्टीय साधु सेन्ट फ्रान्सिस, सूफी साधक मनसूर या भारतीय साधक कबीर इत्यादि सभीको समय विशेष पर यह आख्या प्राप्त करनी पड़ी थी। इस पर्यायकी उपलब्धियाँ इस खण्डमें वर्णित हैं।

षष्ठ खण्डके निबन्धोंको 'फूल' नाम देकर एकत्रित किया गया है। मूलतः ये निबन्ध पूर्ववर्ती अध्यायोंकी ही अनुवृत्ति हैं। केवल इन रचनाओंमें अनुभूति और भी निविड़ हुई है। पञ्चम खण्ड की अनुभूतियोंमें जो चञ्चलता या अस्थिरता थी वह यहाँ सहसा अपूर्व समाहित अवस्था पा चुकी है। समस्त चित्त मानो अञ्जलिबद्ध शुभ्र पुष्पकी भाँति ईश्वरके चरणोंमें समर्पित हो गया है। इस अध्यायका नामकरण केवल उसी अर्थमें हुआ है।

अन्तिम खण्डकी रचनाएँ एक विशेष उद्देश्यसे एकत्रित की गयी हैं। सवितृ-मण्डल-मध्यवर्ती नारायण भारतीयोंकी सभी

साधनाओंके लक्ष्य हैं। इसलिए सारी अनुभूतियाँ ही उसी भगवान् के चरणोंमें जाकर समाप्त हो जायँगी—इसी प्रत्याशा से हम ने इन आलोचनाओंको "कृष्ण-कथा" नाम देकर अन्तिम खण्डमें रख दिया है।

अन्तमें एक बात कहना आवश्यक है। इस प्रकारकी अनुभूतियोंसे परिपूर्ण ग्रन्थमें जिस किसी भी प्रकारका विभाग क्यों न किया जाय, मूल लक्ष्यमें अन्तर नहीं होता। जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थके जिस निबन्धको ही जब भी क्यों न पढ़ें, रसोपलब्धि की कोई हानि न होगी। उस अवस्थामें वे उपर्युक्त विभागोंकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। शिक्षालाभ ही हमारा मूल उद्देश्य है, वाह्य रूप कोई आवश्यक नहीं है।

— *श्री गिरिजापति सान्याल*

सम्पादक—बंगला-संस्करण

इस अमूल्य ग्रन्थकी उपादेयता को देखते हुए इसके अधिकांश निबन्धों तथा ग्रन्थकारके कुछ अन्य स्फुट लेखोंका संग्रह भक्तप्रवर श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दारने अपने गीता प्रेस गोरखपुरसे हिन्दी भाषा भाषियोंके हितार्थ 'पूजाके फूल' नामक पुस्तकमें प्रकाशित किया था। इसका प्रथम संस्करण सं० १९९२ में तथा दूसरा संस्करण सं० १९९७ में निकला था। इस बीच मूल ग्रन्थ 'विल्वदल' का बंगला संस्करण अनेक अंशोंमें परिवर्द्धित तथा परिमार्जित रूपमें प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पुस्तकमें उसीका अविकल हिन्दी अनुवाद है। इसे दो भागोंमें विभक्त कर

दिया गया है। प्रथम भागमें 'मुखबन्ध', 'उद्बोधन', 'साधना' तथा 'संशयमोचन' शीर्षक लेख दिये गये हैं। दूसरेमें शेष तीन पर्याय—'पागल' 'फूल' और 'कृष्णकथा' शीर्षक निबन्ध रहेंगे। हमें विश्वास है कि हिन्दी जगत् इस सारगर्भित पुस्तक द्वारा लाभ उठावेगा। यदि किसी भी अशान्त हृदयको इन लेखों द्वारा सान्त्वना मिल सकी, यदि ये किसी भी सन्तप्त प्राणीके लिए पथ-निर्देशक बन सके तो हम लोगोंका प्रयास सफल हो जायगा।

इस हिन्दी संस्करणके प्रकाशनमें हमें अधिकांश आर्थिक सहायता कलकत्ता निवासी सेठ राधाकृष्ण जी चमड़िया द्वारा प्राप्त हुई तथा इसके मुद्रण, प्रूफ संशोधन, इत्यादि कार्योंका भार भागलपुरके श्री छेदीलाल हिम्मतसिंहका जीके ऊपर रहा। इन सज्जनोंके हमलोग विशेष कृतज्ञ हैं।

ज्वालाप्रसाद तिवारी
बाँके बिहारीलाल
सम्पादक—हिन्दी-संस्करण

भूमिका

इस पुस्तकमें जो निबन्ध संगृहीत होकर प्रकाशित हुए हैं, उनमेंसे अधिकांश ही पुरीके समुद्रतट पर श्री भगवान्‌के श्रीचरणों के नीचे रचित हैं। कुछ निबन्ध अति प्राचीन हैं, बहुत पहले लिखे गये थे। इन निबन्धोंमें से अनेक आर्यधर्म संरक्षिणी सभा-द्वारा परिचालित 'प्रचारक' (बंगला) पत्रिकामें और अशेष शास्त्रज्ञ श्रीयुक्त राजेन्द्र लाल मुखोपाध्याय परिचालित सुप्रतिष्ठित "पन्था" पत्रिकामें कभी-कभी प्रकाशित हुए थे। मेरे पुरीमें रहते समय जो सब "आर्त्त" या "जिज्ञासु" इष्टमित्र (स्त्री-पुरुष) मेरे पास आते थे, उनके प्रश्नोंके उत्तर रूपमें और उनकी सान्त्वना के लिए भी कुछ निबन्धोंकी रचना हुई थी।

मेरे ये अकिञ्चित् छोटे-छोटे निबन्ध वास्तवमें उनका सन्देह दूर करने या उनको सान्त्वना प्रदान करनेमें समर्थ हुए थे या नहीं यह बात मैं नहीं जानता, किन्तु आज उन्हीं लोगोंके विशेष आग्रहसे और उनकी ही सहायतासे यह छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई।

मैं स्वयं ज्ञानहीन क्षुद्र व्यक्तिमात्र हूँ। इस कारण मेरी यह अकिञ्चित् छोटी-सी पुस्तक, किसी जटिल मीमांसा-साधनमें या किसी नवीन अपूर्व विषयकी अवतारणामें समर्थ होगी यह आशा मुझे नहीं है।

दिया गया है। प्रथम भागमें 'मुखबन्ध', 'उद्बोधन', 'साधना' तथा 'संशयमोचन' शीर्षक लेख दिये गये हैं। दूसरेमें शेप तीन पर्याय—'पागल' 'फूल' और 'कृष्णकथा' शीर्षक निबन्ध रहेंगे। हमें विश्वास है कि हिन्दी जगत् इस सारगर्भित पुस्तक द्वारा लाभ उठावेगा। यदि किसी भी अशान्त हृदयको इन लेखों द्वारा सान्त्वना मिल सकी, यदि ये किसी भी सन्तप्त प्राणीके लिए पथ-निर्देशक बन सके तो हम लोगोंका प्रयास सफल हो जायगा।

इस हिन्दी संस्करणके प्रकाशनमें हमें अधिकांश आर्थिक सहायता कलकत्ता निवासी सेठ राधाकृष्ण जी चमड़िया द्वारा प्राप्त हुई तथा इसके मुद्रण, प्रूफ संशोधन, इत्यादि कार्योंका भार भागलपुरके श्री छेदीलाल हिम्मतसिंहका जीके ऊपर रहा। इन सज्जनोंके हमलोग विशेप कृतज्ञ हैं।

ज्वालाप्रसाद तिवारी
बाँके बिहारीलाल
सम्पादक—हिन्दी-संस्करण

भूमिका

इस पुस्तकमें जो निबन्ध संगृहीत होकर प्रकाशित हुए हैं, उनमेंसे अधिकांश ही पुरीके समुद्रतट पर श्री भगवान्‌के श्रीचरणों के नीचे रचित हैं। कुछ निबन्ध अति प्राचीन हैं, बहुत पहले लिखे गये थे। इन निबन्धोंमें से अनेक आर्यधर्म संरक्षिणी सभा-द्वारा परिचालित 'प्रचारक' (बंगला) पत्रिकामें और अशेष शास्त्रज्ञ श्रीयुक्त राजेन्द्र लाल मुखोपाध्याय परिचालित सुप्रतिष्ठित "पन्था" पत्रिकामें कभी-कभी प्रकाशित हुए थे। मेरे पुरीमें रहते समय जो सब "आर्त्त" या "जिज्ञासु" इष्टमित्र (स्त्री-पुरुष) मेरे पास आते थे, उनके प्रश्नोंके उत्तर रूपमें और उनकी सान्त्वना के लिए भी कुछ निबन्धोंकी रचना हुई थी।

मेरे ये अकिञ्चित् छोटे-छोटे निबन्ध वास्तवमें उनका सन्देह दूर करने या उनको सान्त्वना प्रदान करनेमें समर्थ हुए थे या नहीं यह बात मैं नहीं जानता, किन्तु आज उन्हीं लोगोंके विशेष आग्रहसे और उनकी ही सहायतासे यह छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई।

मैं स्वयं ज्ञानहीन क्षुद्र व्यक्तिमात्र हूँ। इस कारण मेरी यह अकिञ्चित् छोटी-सी पुस्तक, किसी जटिल मीमांसा-साधनमें या किसी नवीन अपूर्व विषयकी अवतारणामें समर्थ होगी यह आशा मुझे नहीं है।

यदि यह पुस्तक किसीके चित्तमें अणुमात्र भी भगवत् प्रेमका सञ्चार कर सके, या इससे कोई अपने हृदयके एकाध सुगभीर प्रश्नका भी समाधान पा जायँ, या किसीके शोकतप्त हृदयमें यह विन्दुमात्र भी सान्त्वना प्रदान कर सके, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

आज मुझे अपने बहुतसे मित्रोंकी—जो लोग अब इस मर्त्यलोकमें नहीं हैं—विशेषरूपसे याद पड़ रही है। इन प्रबन्धोंको प्रकाशित देखकर जो लोग सुखी होते, दुःखकी बात है कि इसके पुस्तकाकार प्रकाशित होनेके पहले ही भगवानने उनलोगोंको अपने चरणों में बुला लिया है।

अन्त में जिन लोगोंने इस पुस्तकके प्रकाशनका भार ग्रहण करके तरह-तरहके प्रयत्न और परिश्रम किये हैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके इस शुभ अवसरकी मैं किसी तरह भी उपेक्षा नहीं कर सकता। इस कारण मैं अपने सहोदरवत् मित्रोंके प्रति कृतज्ञ हूँ। महामहोपाध्याय श्रीमान विधुशेखर शास्त्री तथा स्वर्गीय यतीन्द्रमोहन गुप्त (जो मुंगेरके सुप्रसिद्ध वकील थे) के नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इन लोगोंने इन निबन्धोंका (बंगलामें) आदिसे अन्त तक देखकर संशोधन किया था।

—ग्रन्थकार

नरसिंह गढ़ (C. I)
१ आश्विन, १३२४ (बङ्गाब्द)

मुखवन्ध

मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य

ईश्वर साकार है या निराकार ?

श्री भगवान और उनकी प्राप्तिके उपाय

साधन-पथका सम्बल

श्री गुरुभ्यो नमः

बिल्वदल

मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य

जडवादके प्रबल प्रचारसे यद्यपि हमारी चिन्ताशक्ति आज बहिर्मुखी हो गयी है, यद्यपि आज हम अपने पूर्वजोंके आचार-व्यवहारोंके प्रति पूरी श्रद्धा नहीं रखते, यद्यपि ऋषि-मुनिसेवित भारतवर्षमें आज तपश्चर्याकी विमल प्रभा दशों दिशाओंको प्रकाशित नहीं करती, यद्यपि आज उषाकालमें [illegible] साथ ऋषिकुमारोंके कोमल कण्ठसे निकला हुआ [illegible] तपोवनोंको मुखरित नहीं करता [illegible]

अतुलनीय ज्ञानका प्रवाह आज निदाघ-सन्तप्त नदीकी तरह अत्यन्त क्षीण हो चला है, भारतवर्ष की सौभाग्यरेखा आज अस्ताचलको जाते हुए सूर्यकी भाँति हीनप्रभ और मलिन हो रही है, तथापि आज हम जीवित हैं। इतनेपर भी हमारा नाम जगत्के इतिहासमें क्यों स्थान पा रहा है? इस बातको जब-जब सोचते हैं तब-ही-तब विस्मित होना पड़ता है। मृत्युकी विराट् छायाने चारों ओरसे हमें घेर रक्खा है, रोगकी भीषण यन्त्रणासे एक क्षणके लिये भी शान्ति नहीं है, इतनेपर भी इस जातिका नाम अबतक क्यों नहीं मिट गया? यह बात अवश्य ही विचारणीय है।

अन्तिम श्वास छोड़नेके पहले क्षणतक भी जैसे रोगी अपने छूटनेवाले शरीरके सम्बन्धकी रक्षा करता है इसी प्रकार यद्यपि भारतवर्षकी प्राचीन रीति-नीति, धर्म-कर्म आदिका प्रायः लोप हो चला है तथापि उसके स्थूल और बाह्य आचरणोंका अब भी प्राचीनताके साथ सम्बन्ध बन रहा है।

प्रथम तो वृद्धावस्था और दूसरे रोगोंसे पीड़ित! ऐसी अवस्थामें मृत्युको कौन रोक सकता है! वृद्ध शरीरमें सभी रोग जोरसे अपना घर कर लेते हैं, इसी प्रकार आज भारतवर्षमें भी समस्त दोषोंने घर कर लिया है, इसीसे आज हममें न उद्यम है और न उत्साह है। शुभ कर्मोंकी तो स्पृहातक नहीं होती। बुरी क्रियाओंमें फँसे हुए, बुरे आचरणोंमें लगे हुए, रोग-शोकभरी वीभत्स मूर्तिमें आज हम प्रत्येक एक-एक

जीवित प्रेतकी तरह केवल मृत्युकी बाट देखते हुए जी रहे हैं। मानो जीवनका और कोई उद्देश्य या लक्ष्य ही नहीं है, मरनेके सभी सामान तैयार हैं। आश्चर्य तो यही है कि इतनेपर भी हम मरते नहीं।

हमारी ऐसी दशा क्यों हो गयी? हमने अपने रूप-तेज और वीर्यको कैसे खो दिया? हम इस पापके गहरे कीचड़में क्योंकर फँस गये? इन प्रश्नोंका समाधान करना बिल्कुल सहज बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हम केवल अपने ही कियेका फल इस समय भोग रहे हैं। आज हमें भारतकी वह प्राचीन पवित्र और आदर्श जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था अच्छी नहीं लगती, क्योंकि हम लक्ष्य-भ्रष्ट हो चुके हैं। इस समय पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान और विज्ञानने तथा उनकी बाह्य सम्पत्ति, भोगविलास और नित नयी फैसनने हमारे चित्तको चञ्चल कर डाला है, अपने घरकी चीजसे हमारा मन हट गया है, परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के भी असली आदर्शको हम ग्रहण नहीं कर सकते। इस अवस्थामें हमारे उभय-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना ही अधिक है। यदि इस समय हम इसके प्रतिकारका कोई उपाय नहीं करेंगे तो फिर हमारे भाग्यमें मृत्यु ही अनिवार्य है।

प्रत्येक देशके प्रत्येक समाजमें एक-एक विशेष भावका कुछ विशेषत्व रहता है, उसी भावको प्रस्फुटित कर देना उस देशके लिये प्राण-सञ्चारका एक श्रेष्ठ उपाय समझा जाता

है। हिन्दू जातिका विशेषत्व है उसकी—'धर्मप्राणता'। हिन्दू जातिके व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी सामाजिक रीतियाँ और उसकी राजनीति या शासन-प्रणाली सभी धर्मपर प्रतिष्ठित हैं और यह धर्म ही भारतके चरित्र और अनुष्ठानमें भरा हुआ है। भारतके लिये धर्म एक काल्पनिक युक्ति नहीं है परन्तु वह सुस्पष्ट, मूर्तिमान् और जीवित पदार्थ है। इस धर्मकी उपेक्षा करके हम जो कुछ भी करेंगे उससे कल्याण कभी नहीं होगा। विरोधी सभ्यताके सहसा संघर्षणसे भारतकी तमोमयी निद्राका भाव कुछ घटा है परन्तु उसीके साथ-साथ वह अपने सनातन आदर्शसे भ्रष्ट हो गया है। इसीलिये आज हिन्दू जाति अपने पुरातन आदर्शसे च्युत होकर विजातीय सभ्यताकी ऐश्वर्यमयी राजमूर्तिकी ओर लोलुप दृष्टिसे ताक रही है। परन्तु उसकी आशा केवल दुराशामात्र है। पर्वतके शिखरसे उतरकर नदी जैसे धीमे-धीमे अपना रास्ता बनाती हुई अपने अनुकूल स्थानका निर्णयकर धीरे-धीरे सागरमें आकर मिल जाती है, इसी प्रकार अपने उद्देश्यके अनुकूल भाव, अभ्यास और रीति-नीतिको ग्रहणकर तथा अपने प्रतिकूल आचार, रीति और आदर्शको त्यागकर जातीय जीवनका विशेषत्व भी धीरे-धीरे अपना मार्ग निश्चय कर लेता है, पर नदीको दूसरी ओर चलानेकी चेष्टा करनेमें जैसे फैले हुए बालूके टीलोंमें उसके लुप्त हो जानेकी सम्भावना रहती है इसी प्रकार जातीय जीवनको भी उसके निश्चित

प्राचीन साधन-पथसे हटाकर दूसरी ओर ले जानेमें उसके नाशकी आशङ्का है। हमारे सनातन मार्गसे चलनेपर यूरोपका ऐश्वर्य, यूरोपका विलास और यूरोपके भोग चाहे हमें न मिलें परन्तु भारतकी शान्ति, भारत का प्रेम और आनन्द तो प्राप्त होगा ही!

हमारे पूर्वजोंने इसी सनातन मार्गका अवलम्बन करके अपने जीवनको धन्य और कृतार्थ किया था। उन्होंने धर्मके उज्ज्वल प्रकाशको अपने हृदयोंमें सुस्पष्ट देखकर यह घोषणा की थी कि केवल 'परब्रह्म ही आर्यों की सर्वापेक्षा प्रियतम वस्तु है, वह पुत्रसे भी उत्तम है और धनसे भी उत्तम है और उसी, सबकी अपेक्षा अन्तरतम तथा सर्वापेक्षा प्रियतम परमात्माको प्राप्त करके जीवनको कृतार्थ करना चाहिये।'* भारतीयों के लिये वही सबकी अपेक्षा अधिक लुभानेवाली वस्तु है, वे लोग विलास की सामग्रियों के लिये, धनके खजानेके लिये, विद्या, अर्थ या प्रसिद्धिके लिये कभी कामना न करते थे, उनकी कामनाकी वस्तु थी केवल एक यह—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं....॥
(मुण्डक० २।२।२)

जो तेजोमय हैं, जो अणुसे भी अणु हैं और जिनमें सारे लोक तथा लोकनिवासीगण निहित हैं, वे ही अक्षरब्रह्म हैं, वे ही

* बृह० १।४।८ में देखना चाहिये।

प्राण हैं, वे ही वाक्य और मन हैं, वे ही सत्य हैं तथा वे ही अमृत हैं। वे जानते थे कि 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' अध्रुवसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं होती।

भारतका वह दिन चला गया जिस दिन वह बड़े जोर के साथ कह सकता था कि 'यदि अमृतकी प्राप्ति नहीं हुई तो और उपकरणों की क्या आवश्यकता है—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।' आजकल हम घरमें, बाहरमें और मनमें केवल शत्रुकी गुलामी कर रहे हैं। प्राचीन आचार्यगण ब्रह्मको हस्तामलककी नाईं प्राप्त करते थे और इसीसे वे घोषणा करते थे कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' हमने उसे पा लिया है, 'हमने उसे जान लिया है।' आज दुर्भाग्यवश हमें इस बातपर विश्वास भी नहीं होता।

यही तो हमारी स्थिति है, अब बात यह है कि इस मुमूर्षुको मरने देना चाहिये या इसे बचानेकी कुछ चेष्टा करनी चाहिये? यदि मृत्यु ही वाञ्छनीय हो तब तो आजकल हम जिस पथसे चल रहे हैं, वह बिल्कुल ठीक है, स्वाभाविक ही यह पथ मृत्युकी ओर बढ़ रहा है। परन्तु सुना है कि रोगीको बिना बाधाके अनायास ही मृत्युकी ओर जाने देना किसी-किसीके मतसे ठीक नहीं है—किसीको भी विनाशके मार्ग-पर ढकेलना उचित नहीं है, उसे बचानेके लिये यथासाध्य सहा-यता अवश्य ही करनी चाहिये। विशेषतः उसके लिये कि जिसके बचनेकी बड़ी आवश्यकता है, ऐसेको बचानेकी चेष्टा करना

सर्वथा युक्तिसंगत और पुण्यकर है। जो केवल मरनेके लिये जीते हैं, वे मर जायँ, इससे कोई हानि नहीं है परन्तु जो एक दिन अमृतकी प्राप्तिके लिये मृत्युको आलिंगन करना चाहते थे, जो दूसरोंके हितके लिये सर्वस्वत्याग करनेमें भी नहीं हिचकते थे, जो एक दिन अमृतकी खोजमें धन-जन-पुत्र-परिवारको अकातर भावसे परित्याग कर, बाण लगे हुए मृगकी तरह व्याकुल हुए हिमालयके शिखर-शिखरपर और गुफा-गुफामें अपने हृदयकी गहरी मर्मवेदनाको बड़े आर्तस्वरसे उस विश्वदेवताके चरणोंमें उपस्थित कर चुके हैं, उन्हीं भरद्वाज, गौतम, कश्यप, शाण्डिल्य और वात्स्यादिकी सन्तानको अनायास मृत्युकी तरफ बढ़ने देना कदापि उचित नहीं है। कम-से-कम उन्हें उन्नत और पवित्र करनेकी चेष्टा तो एक बार अवश्य ही कर देखनी चाहिये।

इस आनन्दशून्य—उत्साह और उद्यमशून्य समयमें हमारा क्या कर्तव्य है? यदि बचानेकी चेष्टा ही करनी है तो फिर जिससे इस मुमूर्षुकी शक्ति क्षय न हो वरन् कुछ बढ़े, इसी बात-पर अधिक सयत्न रखना चाहिये। अन्न जैसे स्थूल शरीरकी पुष्टि करता है इसी प्रकार धर्म अध्यात्मजीवनका पोषण करता है। धर्म ही जगत्‌की प्रतिष्ठा या आश्रय है और 'धर्मेण पापम-पनुदति'—धर्म ही पापका नाश करता है। अतएव यदि भारतको बचाना है तो इसे धर्मरूप पथ्यका सेवन कराकर उसके बलको बचाना होगा और उसके पापरूपी बुढ़ापेका नाश करना पड़ेगा!

भारतके लिये धर्म ही औषध है और धर्म ही पथ्य है। भारतके प्राचीन ऋषि, जैसे छोटा बालक माताको जोरसे पकड़े रखता है, इसी प्रकार धर्मको सबकी अपेक्षा प्रिय समझकर पकड़े हुए थे। उन्हींके धर्म-बलसे आज इन प्रतिकूल घटनाओंके चक्रमें पड़ा हुआ भी भारत, अपने विशेषत्वको किसी अंशमें बचाये हुए है। नहीं तो अतीत इतिहासको देखनेपर पता लगता है कि न मालूम कितनी जातियाँ, कितने प्रभावशाली साम्राज्य और कितने विश्वविजयी सम्राट् जो एक समय बड़े उन्नत थे, अतीतके परदेमें छिप गये। परन्तु यह सबसे प्राचीन जाति जो किसी अतीत युगमें, एक दिन मेघहीन, शुभ्र किरणोज्ज्वल आकाशके तले जाग्रत् होकर सहर्ष उस जगत्-रचयिताके पूजनीय प्रकाशको प्रणामकर प्रेमपुष्पाञ्जलि अर्पण कर चुकी थी, इस बातको आज कितने युग बीत गये, कितने बुरे-बुरे योग और बुरी-बुरी घटनाएँ हो गयीं परन्तु इसका ऐसा एक भी युग नहीं बीता जो किसी न किसी स्थानीय घटनाकी विजय-वैजयन्तीको अपने वक्षस्थलपर बिना धारण किये ही अतीतके गर्भमें लीन हो गया हो। ऐसी धर्मप्राण जाति अपने प्राचीन गौरवको भूलकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे केवल मृत्यु-की बाट देखती रहे, यह जानकर किसका हृदय विदीर्ण नहीं होगा? इसीसे कहा जाता है, इसे बचाये रक्खो। इसके बचे रहनेमें समस्त जगत्का मंगल है। अतएव हमें सावधान होना चाहिये, कहीं हम अपनी ही इच्छासे मृत्युको न बुला लें—

अपने ही हाथों खाई खोदकर उसमें न गिर पड़ें! बड़ी सावधानीसे हमें अपने पूर्वजों द्वारा सेवित प्राचीन पथपर चलकर घर लौटना पड़ेगा। मार्ग बड़ा ऊँचा-नीचा है, बड़ा दुर्गम और विकट है। सावधान! हठसे कहीं आत्मविनाश न हो जाय।

प्राचीन कालकी काम्य-वस्तुओंमें पुत्र एक विशेष अभीष्ट वस्तु थी। विद्वान् और धार्मिक पुत्रके लिये तप किया जाता था और पितृगणोंसे प्रार्थना की जाती थी कि—

""दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयञ्च नोऽस्तु ...॥

हे पितृगण! हमारे वंशमें दाताओंकी संख्या बढ़े, वेदोंकी आलोचना सम्यक् प्रकारसे हो। वंशपरम्परा बनी रहे, वेदपर अटल श्रद्धा सदैव बनी रहे और दान करनेके लिये द्रव्यका अभाव कभी न हो।

लोग पुत्र तो अब भी चाहते हैं परन्तु अबमें और तबमें बड़ा अन्तर है, उस समयकी काम्य प्रार्थनामें भी जगत्के मङ्गलकी भावनाको लोग भूलते नहीं थे, केवल अपना भला सोचकर ही वे निश्चिन्त नहीं हो जाते थे। समस्त विराट्के साथ हमारा कितना गहरा संयोग है, इस तत्त्व को शायद ही पृथ्वीपर कोई दूसरे लोग उपलब्ध कर सके हों, परन्तु हमारे पूर्वजोंकी सर्वोच्च प्रार्थना होती थी—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्।'

मैं ब्रह्मको अस्वीकार नहीं करूँगा और ब्रह्म भी मुझे अस्वीकार न करे। और आजकल केवल अपनी बात ही इतनी बड़ी हो

गयी है कि जगत्का मङ्गल तो दूर रहा अपने पड़ोसियोंके सुख-दुःखकी बातोंके लिये भी हमारे अन्तःकरणमें स्थान नहीं है। यह लक्षण अत्यन्त मोहग्रस्त अनार्योंके हैं। परन्तु आज हमारे चित्त की अवस्था ऐसी ही है इस बातको अस्वीकार कैसे किया जाय?

पहलेके लोग कहते थे—

'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः।'

उस पुत्रसे क्या लाभ है कि जो न विद्वान् है और न धार्मिक! परन्तु आजकल सन्तान यथार्थ धार्मिक और संयमी है या नहीं इस बातका खयाल कौन रखता है? धन कमाना चाहिये, फिर कोई भी दोष नहीं। अर्थकी ऐसी उत्कट इच्छा भारतीय सभ्यतासे तो कदापि अनुमोदित नहीं है!

आजकल हम जब प्रपञ्च (संसार) का कार्य करते हैं तब केवल प्रपञ्चको ही पकड़ रखते हैं, संसारसे परे कुछ और भी होगा इस बातकी हमें धारणा ही नहीं होती। परन्तु प्राचीन कालमें संसार या प्रपञ्चके सभी कार्य परमात्माको केन्द्र बनाकर किये जाते थे। इसीसे उन्हें संसार कभी भाररूप नहीं होता था, इसी से वे कहते थे—

'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्।'

वे अपने सारे जीवनकी समस्त क्रियाओंमें धर्मको प्रत्यक्ष रूपसे देख पाते थे और इसीलिये शोकमें, दुःखमें, लाभ में, हानिमें, जीवनमें और मरणमें कभी उनके चित्तमें शान्तिका

अभाव नहीं होता था। आजकल हमलोग धर्मका पालन प्राणोंसे नहीं करते, कुछ लोग-दिखाऊ वाह्याडम्बरोंने ही हमारे धर्मका स्थान अधिकृत कर लिया है। इसीसे आज न हमारे चित्तमें शान्ति है और न हमारे प्राणोंमें आराम है। कुछ शुष्क अर्थहीन नियमोंके पालनको ही धर्म नहीं कहते हैं, जो अनेकके साथ एकका और एकके साथ अनेकका ऐक्य स्थापन करा सकता हो, जो सान्तके साथ अनन्त और मृत्युके साथ अमृतका मिलन करा देता हो उसीका नाम धर्म है। इस ऐक्यके भावको—इस मिलनके माधुर्यको ही हमें अपने गन्तव्य पथका दिग्दर्शक वना लेना होगा। जहाँ इस भावका अभाव प्रतीत हो वहीं समझना होगा कि यहाँ धर्मके नामपर अधर्मको आश्रय मिल गया है। हमारे आजकलके आचार-व्यवहारमें इसी अधर्मका प्रवल आक्रमण देखनेमें आता है।

ऋषिगण संसारके असंख्य जीवोंको असंख्यरूपसे नहीं देखते थे। वे इस समस्त संसारको एक विराट् शरीरके रूपमें अनुभव करते थे। इस वड़े भारी देहमें कोई मस्तक है, कोई हाथ है, कोई मुख है, कोई पैर है, इस प्रकार सब नाना प्रकारसे नाना स्थानोंमें अपने-अपने अधिकारानुसार एक ही देहके अवयवरूपमें संगठित हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादि उसीके वाहरी रूप हैं। उन्होंने किसी स्वार्थसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रादिको कर्मक्षेत्रके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर बैठा दिया है ऐसी

कोई भी वात नहीं है। "केवल जीवनयात्रा-प्रणालीको सुगम करनेके लिये, वहिर्मुखी वृत्तिको आत्माभिमुखी बनानेके लिये और आध्यात्मिक जीवनमें सवको अपने-अपने अधिकारानुसार सुयोग तथा सुविधा कर देने के लिये ही उनकी यह व्यवस्था थी, इससे उनकी असाधारण सूक्ष्मदर्शिता का ही पता लगता है। यदि स्वार्थ रहता तो यह निश्चित है कि जनसाधारण इस व्यवस्थाको आग्रहके साथ कभी स्वीकार न करता।"

जैसे मस्तकका कार्य पैर नहीं कर सकता और पैरका कार्य मस्तकसे नहीं हो सकता परन्तु अपने-अपने कर्मक्षेत्रमें सभी स्वाधीन हैं, सभी स्वतन्त्र हैं, साथ ही सभी एक दूसरेके साथ सूक्ष्म सूत्रसे जुड़े और मिले हुए भी हैं। मस्तिष्कमें विचार-शक्ति है इसलिये पैरकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसी प्रकार पैरको भी मस्तकका कार्य करनेके लिये कोई उद्वेग नहीं होता। अपने-अपने कर्मक्षेत्रपर सभी इन्द्रियोंकी स्वाधीनता और विशेषता है, परन्तु किसी अंगमें कुछ भी क्षति होनेपर सभीको अपने-अपने स्थानकी क्षतिका अनुभव होता है और उस क्षतिग्रस्त दुर्बल स्थानको फिरसे पूर्ण बलवान् बनानेके लिये सभी अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्यका उपयोग करते हैं।

हमारे समाजका भी आदर्श यही होना चाहिये और पूर्वकालमें इसी आदर्शपर समाज संगठित था। शरीरके किसी भी स्थानपर चोट लगनेसे सारे शरीर और सभी इन्द्रियोंसे उसकी घोषणा क्यों होती है? इसीलिये कि वे एक ओरसे तो

स्वतन्त्र हैं, परन्तु दूसरी ओरसे एक दूसरेके विना उनमें स्वयं कोई पूर्ण नहीं है। यदि ऐसी ही बात है तो फिर हमें समाजके किसी भी अंगके कैसे भी सुख-दुःखसे उदासीन क्यों रहना चाहिये? क्योंकि किसी भी एकको छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। जमीनके साथ पहले मंजिलका और पहलेके साथ दूसरेका खूब घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीसे तो जमीनके साथ दूसरे मंजिल का सम्बन्ध प्रमाणित होता है। इसी प्रकार इस जनसमुदायमें सबके साथ सबका एक बड़ा गहरा सम्बन्ध है इस बातका छातीके जोरसे स्वीकार न करनेमें केवल मूर्खता ही प्रकट होती है। दूसरा और तीसरा तल्ला होनेपर भी जैसे उनका जमीनके साथ नित्यसम्बन्ध बना हुआ है इसी प्रकार व्यवहारमें हम कोई पण्डित हैं तो कोई मूर्ख हैं, कोई धनी हैं तो कोई दरिद्र हैं, कोई ब्राह्मण हैं तो कोई शूद्र हैं, परन्तु हमारा परस्परका स्वार्थ इतना अटूट और अखण्ड है कि हम उसकी कभी उपेक्षा कर ही नहीं सकते। यह केवल स्वार्थका बन्धन नहीं है। विचार करनेपर पता लगता है कि यह बन्धन प्रेमका है। इस प्रकारसे जगतमें इस सत्यसम्बन्धको स्वीकार करना ही परम धर्म है और हमलोगोंमेंसे जो जितने उन्नत हैं वे इस सत्यसम्बन्धको उतने ही विकसित रूपसे देख पाते हैं। जिसके हृदयकी वृत्ति जितनी अधिक विस्तृत है उतने ही परिमाणमें वह अधिक ज्ञानसम्पन्न और भक्त है और उतने ही परिमाणमें वह लोकसमाजका शिक्षक या गुरु है।

बात तो जोरके साथ कही जा सकती है कि यह पथ कठिन भले ही हो परन्तु मनुष्य-जीवनके चरम वाञ्छनीय स्थानपर केवल इसी पथसे पहुँचा जा सकता है और कोई उपाय ही नहीं है। जिसको अपने लक्ष्य स्थलपर पहुँचनेकी टान है, वह मार्गके किसी भी कष्टको बड़ा नहीं समझता। आर्यसभ्यता-में यही एक विशेषता थी कि उसमें लक्ष्यकी प्राप्ति ही परम लाभ माना जाता था। अतएव मार्गके कष्टोंको वारंवार स्मरण-कर व्यर्थ मनपर भार नहीं डालना चाहिये।

जिस दिनसे हमने संसारको बड़ा देखना सीखा उसी दिनसे हमारी अन्तर्दृष्टि जाती रही। जिस दिनसे संसारके विविध भोग और उनके साधन अर्थके लिये हमने जोरसे चिल्लाना आरम्भ किया—संसारकी बाहरी चमक-दमक से हमारी दृष्टि मोहित हुई, उसी दिनसे हम अपने अन्दर उस अन्तरात्माकी आवाज सुननेसे वञ्चित हो गये, उसी दिनसे हमारे कान बहरे हो गये। स्वार्थकी घनघोर गड़गड़ाहटमें उस प्रियतम परमात्माकी वंशीका मधुर स्वर कानोंमें प्रवेश नहीं कर सकता। हमे उस सत्य सुन्दरके सुविमल किरणोंसे उद्भासित चरणकमलोंकी निर्मल और शुभ्र ज्योतिका कहीं पता नहीं लगता, हमने तो संसारको ही चारों ओरसे बड़ा समझकर सजा रक्खा है। इसीसे प्राणोंके प्राण, आत्माके आत्मा, विश्वके अधीश्वर उस शिव-सुन्दरके शिवभावकी उपलब्धि हमें नहीं होती। वे हमसे बहुत दूर चले गये हैं। संसार-

की जरा-जरासी वस्तुओंसे भी वे छोट हो गये हैं। इसीसे वे हमें नहीं दीखते, पर क्या यह सत्य है कि वे हमसे दूर हो गये हैं? नहीं! वे तो दूर नहीं गये, हमींने मिथ्या मायाके मोहमें फँसकर उन्हें अलग कर रक्खा है, इसीलिये अब हम अपने उस यथार्थ 'अपने' को पहचान नहीं सकते!

संसारसागरमें जो तरंगोपर तरंगें उठती हैं और पड़ती हैं, हमारे नेत्र और हमारा मन तो उन्हींमें लग रहा है। हमारे वे चिरस्थिर, चिरसुहृद् और चिरप्रेमिक हमारे अत्यन्त समीप हैं तथापि हम उन्हें नहीं देख पाते।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि संसारने हमारे लिये लुभावनी डाली सजाकर रख छोड़ी है और उसमें हमारी आसक्ति भी कम नहीं है परन्तु देखते हैं कि कभी-कभी यह मन-पक्षी यहाँसे छूटकर भागना चाहता है, संसारकी क्षुद्र सीमाको लाँघकर किसी अनन्त शून्यकी तरफ दौड़ता है, इससे मालूम होता है कि संसार हमें फँसाकर भी पूरी तरहसे नहीं फँसा सका है। इसीसे पता लगता है कि इस संसारकी अपेक्षा और भी कोई प्रियतम वस्तु है जिसके लिये यह मन समय-समय छूटकर दौड़ना चाहता है। परन्तु संसारकी मोहिनी शक्ति उसे फिर भुलावेमें डाल देती है।

क्यों ऐसी भूल होती है? मायाको छोड़ना चाहनेपर भी कौन हमें बन्धनमें बाँधता है? यह कैसा भ्रम है? क्या माया है? कितने पथिक, कितने यात्री, हमारे देखते-देखते इस माया-

के प्रवाहमें वह गये, तो भी हमें चेत नहीं होता, किसने हमें मायामें जकड़ रक्खा है ?

बहुत-से लोगोंने देखा होगा कि नदीमें कई जगह भँवर हुआ करते हैं, भँवरमें पड़ जानेपर किसी भी यात्री या नौकाका बचना कठिन हो जाता है, भँवर जोरसे उसे नीचे ले ही जाता है। इसी प्रकार इस संसारसागरके भँवरमें पड़नेसे ही हमारी यह दुर्दशा हो रही है।

यह भँवर ही विलक्षण अहंज्ञान या आत्माभिमान है। जो भँवरकी टानमें पड़ता है वह तुरन्त इस चक्रके मुखमें पड़कर डूब जाता है। हम भी इस अहंज्ञान (मैं, मैं) की प्रबल टानमें डुबकी खाते हुए डूबनेकी तैयारीमें हैं। अपनी तरफ मनुष्यको कितनी टान है ? समस्त संसार उन्मत्तकी भाँति अपने-अपने केन्द्रके चारों ओर बड़े वेगसे घूम रहा है।

कविने कहा है—

घेर घेर कर केवल निजको पल-पल में डूबे मरते

हम केवल अपने ही सुख-दुःख, अपने ही अभाव-अभियोग और अपनी ही बातोंमें मग्न हो रहे हैं, केवल 'मैं-मैं' और 'मेरे-मेरे'की ही चिल्लाहट मची हुई है! यही ममतारूपी भँवरकी भारी टान है, इस टानमें पड़कर जो अचेत हो जाता है, फिर उसकी आशा नहीं रहती! परन्तु जो पुण्य-बलसे भँवरके बाहर किसी खूँटेको या और किसी सहारेको मजबूतीसे पकड़ लेता है वह भँवरमें पड़कर नहीं डूबता, वह तुरन्त

निकल जाता है। इस भवसागरमें सभी जगह भँवर नहीं हैं, जहाँ संकीर्णता है वहीं भँवर है; परन्तु बाहर तो खुला हुआ अनन्त जल है जो धीर, स्थिर और प्रशान्त है। यह मन 'मैं-मैं' करके ही भँवरकी रचना करता है। जिसका मन 'मैं' को छोड़कर एक अनन्त विश्वकी तरफ चल पड़ता है वही सौभाग्यवान् पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है। चक्की घूमती रहती है और उसमें पड़े हुए सब दाने पीसे जाते हैं परन्तु जो दाना कीलसे चिपककर रह जाता है वह बच जाता है, इसी प्रकार इस संसार-सागरके भँवरमें पड़कर जो उस सत्यस्वरूप परमात्माका दृढ़ताके साथ आश्रय लेता है उसके नाश होनेकी कोई आशङ्का नहीं रहती। भगवान्ने कहा है कि मायासे तरना बड़ा कठिन है परन्तु—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'—जो मेरा ही आश्रय लेते हैं, वे मायासे तर जाते हैं। इससे अधिक भरोसेकी बात और क्या हो सकती है?

बहुत-से लोग मुक्तिकी इच्छा करके यह समझ बैठते हैं कि मानो जगत्में उनका कोई कर्तव्य ही नहीं है और इस कर्तव्यहीनतासे ही उन्हें मुक्ति मिल जायगी। उन्हें याद रखना चाहिये कि जो पथ हमारे मनको सबसे अलग कर रखता है, तथा हमारे परस्परके विछोह और भेदको और भी बढ़ा देता है वह अहंकारका भँवर ही है, उसमें पड़ जानेसे मुक्तिकी सम्भावना नहीं रहती। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सारे अनैक्यमें एकको उपलब्ध करना ही मुक्तिका नामान्तर है।

हमें सकीर्णसे असंकीर्ण, क्षुद्रसे महान् और आवर्त (भँवर) से आवर्तहीन स्थानपर जाना होगा। महान्‌को समझना ही— महान्‌को पाना ही यथार्थ ज्ञान और यथार्थ लाभ है। कारण 'भूमा' ही हमारा परम धाम है और 'भूमा' ही हमारा परम आनन्द है। ससारसागरमें ममताका एक छोटा-सा भँवर उत्पन्न हुआ है। परन्तु उसकी टान वडी जोरकी है। यदि हम इस भँवरसे निकलकर एक बार उस आवर्त (भँवर)-हीन अनन्तमुक्त जल-राशिमें जाकर पड सकें तो वस काम बन गया। वहाँ अभिमानरूपी भँवरकी टान नहीं है। वहाँ जो कुछ है सो सभी आनन्दसे परिपूर्ण है, वहींपर हमारा सदाके लिये छुटकारा है। सीमाबद्ध स्थानमें ही मोहका आकर्षण होता है, असीममें कोई मोह नहीं है। यदि हम इस मोहमय आकर्षण-से छूटना चाहते हैं तो हमें इस क्षुद्रत्वका प्रेम त्याग करना पड़ेगा। क्षुद्रता-हीनताको लेकर वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता। वहाँ जानेवालेको तो उस प्रदीप्त ब्रह्मानलमें अपने क्षुद्र स्वार्थ और अभिमानकी पूरी आहुति देनी पड़ती है, इसके विना वह यज्ञेश्वर प्रसन्न नहीं होता।

यदि हम इस बातको सत्य समझकर मान लें कि अपने क्षुद्र स्वार्थका त्याग किये विना भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे तब फिर इन क्षुद्र सुख-दु ख, लाभालाभ और मानापमानादि द्वन्द्वों-की सहजहीमें उपेक्षा कर सकते हैं। इस विश्वमें 'मैं' कितना-सा है और उसके सुख-दु खका मूल्य ही क्या है? हमारा अभाव

तो प्रायः कल्पना ही है। जैसे किसी बड़े स्वार्थके लिये छोटे स्वार्थको छोड़नेमें कोई कठिनता नहीं होती, वैसे ही जगत्के सुख और मङ्गलके लिये हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करनेमें भी कुछ कष्ट न होना चाहिये। हमें आरम्भमें जो कुछ दुःखरूप प्रतीत होता है वह वास्तव में दुःख ही है, सो बात नहीं है, कई बार तो हम केवल कल्पनासे ही दुःखका अनुभव करते हैं। कई बार केवल अपने अविचारसे ही हम किसी अवस्थाविशेषको दुःख मान बैठते हैं। जोरसे हवा चलती है, छोटे-छोटे घर या गाँव उड़ जाते है, कुछ लोगोंको बड़ा कष्ट होता है, परन्तु जगत्में वैसे प्रचण्ड पवनकी कितनी आवश्यकता है? जब इस बातपर विचार किया जाता है तब अपने सामान्य सुख-दुःखकी बात सोचनेके लिये कहीं स्थान नहीं रह जाता। बाढ़ आती है, तो धन, जन और मकान बह जाते हैं, कुछ लोग तो निराश्रय हो जाते हैं परन्तु उस बाढ़से जगत्का जो अपार मङ्गल होता है उसको देखते हमारी जरा-सी हानिकी चिन्ता करनेमें लज्जा आती है!

जो भगवान्के उन जगत-शरण्य चरणारविन्दोंको अपने हृदयमें धारण करना चाहता है वह क्षुद्रके लिये कभी विचार नहीं करता, अपने (शरीर) के लिये चिन्ता नहीं करता। अखिल विश्व उसका घर है और विश्वके समस्त निवासी उसके अपने हैं, वह अपनेको किसीसे पृथक् नहीं समझ सकता। शास्त्रमें इसी अवस्थाको 'पराभक्ति' कहा है। हमारे हृदयमें

इस परमभक्तिका प्रादुर्भाव कब होगा ? क्या हम मत्त मधुकर-की भाँति उन वेधादिदेववन्दित चरणसरोरुहोंमें लिपटकर अपनी युगयुगान्तर सञ्चित कलङ्ककालिमाको सर्वथा धो सकेंगे ?

जब हृदयमें उसके अभावका अनुभव होता है, जब उस 'अमृत'को पानेके लिये प्राणोंमें व्याकुलता उत्पन्न होती है तब ऐसा कौन है जो अपने प्राणोंकी उस तीव्र पिपासाको बुझाये बिना निश्चिन्त हो सके ? व्याकुल भक्त को 'यह करो और यह न करो' कहकर सावधान नहीं करना पड़ता, वह यथार्थ ही विधि-निषेधकी सीमासे बाहर गया होता है। जबतक मोह-का नाश होकर विवेक जागृत नहीं होता, तभीतक साधकके लिये विधि-निषेधका विधान है परन्तु ऐसे साधकको भी चेष्टा तो यही करनी चाहिये कि जिससे उसके हृदयमें (परमात्म-प्राप्ति के लिये) व्याकुलता बढ़े। जबतक रोग रहता है तबतक भूख नहीं लगती। किसी भी पदार्थपर रोगीका मन नहीं चलता। परन्तु रोगका नाश हो जानेपर जब जोरकी भूख लगती है तब उसे बिना खानेके दूसरी बात ही नहीं सुहाती। इसी प्रकार सद्गुरुकी कृपासे जिसका भवरोग नाश होने लगा है उसको भगवत्प्राप्तिकी भूख बड़े जोरसे लग जाती है इसी-लिये वह सब कुछ भूलकर उसीके लिये परम व्याकुल हो उठता है।

जब भक्त, भगवान्के लिये व्याकुल होता है तब भगवान् भी उससे छिपकर नहीं रह सकते। तब वे किसी एक मूर्तिमें

ही नहीं, किसी एक स्थानविशेषमें ही नहीं परन्तु विश्वेश्वर बनकर विश्वके स्थावर-जङ्गम और सजीव-निर्जीव प्रत्येक पदार्थमें स्थित होकर भक्तके द्वारा समर्पितकी हुई पूजाकी सामग्री ग्रहण करनेके लिये अपने दोनों हाथ फैला देते हैं। उस समय भक्तको अखिल विश्वमें केवल भगवान् दीखते हैं। शिशुको जैसे मातृस्तनोंके लिये आग्रह रहता है वैसे ही माताके प्राण भी अपने बच्चेको स्तन्यपान करानेके लिये व्याकुल रहा करते हैं, इसी प्रकार जैसे भक्त भगवान् के लिये व्याकुल रहता है, भगवान् भी भक्तके लिये वैसे ही व्याकुल रहते हैं। भगवान् एक स्थानसे नहीं परन्तु नाना स्थानोंसे, एकके अंदरसे नहीं परन्तु सबके अंदरसे हमारे प्रेमको अनवरत आकर्षण कर रहे हैं। क्या उनके करुणार्द्र हृदयकी नीरव वीणा हमारे हृदयोंमें कभी नहीं बजती है ? यदि ऐसा न होता तो किसी व्यथित व्यक्तिकी व्यथासे हमारे हृदयमें समवेदना क्यों होती ? वास्तवमें इस समवेदनाका प्रकाश वे ही करते हैं क्योंकि वे 'सर्वभूतस्थित' ईश्वर हैं और इस विश्वके परम अधीश्वर हैं।

भगवान्के साथ हमारा जो यह नित्य सम्बन्ध बना हुआ है इसको हमें स्पष्टरूपसे समझ लेना चाहिये। लोगोंके कहनेसे नहीं परन्तु यथार्थमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि वास्तवमें भगवान् ही हमारे अन्तरके भी अन्तरतम हैं। यह उपलब्धि केवल कविताकी भाषामें नहीं, परन्तु अन्तःकरणकी निर्मलतामें होनी चाहिये। केवल ऐश्वर्यके विलासमें नहीं, परन्तु दुःखोंकी-

कठिनतामें। जीवनकी शान्त स्निग्ध ऊषामें नहीं, परन्तु मृत्युकी भीषणतामें भी उसे पहचानकर कहना चाहिये कि बस, तुम्हीं हो-तुम्हीं हो! तुम्हीं हो हमारे प्राणोंमें, तुम्हीं हो हमारे मनमें! तुम्हीं हो हमारी साधनामें, तुम्हीं हो हमारी सिद्धि में! तुम्हीं हो हमारे आयोजनमें और तुम्हीं हो हमारी सफलता में—केवल विश्वाससे नहीं परन्तु तुम प्रत्यक्षगोचर हो!

सन्तान के लिये जननी की कितनी आवश्यकता है, इस बातको तथा उसके असीम और अकृत्रिम स्नेहको एवं उसकी अतुलनीय निस्वार्थ भावनाको लड़कपनमें कोई बालक नहीं समझता, बुद्धिके परिपक्व होनेपर यह बात समझमें आती है परन्तु तो भी वह वाक्यहीन, चलनशक्तिहीन और ज्ञानहीन बालक किस मन्त्रबलसे माताको सबसे बढ़कर अपनी समझता है? क्यों वह अटल निर्भरताके साथ माता की गोदमें परम तृप्त होकर रहता है? इसीलिये कि उस शिशुके लिये जननी एक सहज सत्य वस्तु है। बस, भगवान् भी भक्तके लिये इसी प्रकार सहज सत्य हैं। भक्त नहीं समझकर भी भगवान्‌को छोड़कर उसे अन्य किसी भी, पदार्थकी आकांक्षा नहीं होती। भगवान् ही उसका परम आश्रय हैं और भगवान् ही प्रतिदिनके खानपानादिकी तरह उसके लिये नित्य सत्य और परम प्रयोजनीय पदार्थ हैं।

साधारणतः मनुष्य ऐश्वर्य, सुख, सम्पत्ति और यश चाहता है एवं ये सभी भगवान्‌में पूर्ण मात्रासे रहते हैं। हमलोग

ज़रा-ज़रा-से धन-ऐश्वर्य और सुख-सम्मानके लिये जीवनभर छटपटाते हैं तब भी वह हमें नहीं मिलता। जीवनभर सुख सम्पत्तिकी मायामरीचिकाके पीछे दौड़ते रहनेपर भी हमें कभी सत्य और नित्यसुखके दर्शन नहीं होते। जगत्‌का यत्किञ्चित् सुख-सौन्दर्य उस नित्य और असीम सुख-सौन्दर्यका आभास ही तो है। जब छायाके लिये इतना मतवालापन है तब उस छायाके आधार सत्य पदार्थको पाकर तो न जाने कितनी मत्तता होती होगी? इसीलिये भक्तगण जगत्‌के समस्त दुःख, समस्त दीनता, पीड़ा और लाञ्छनाका भार अपने सिरपर उठाकर उस परमधामके यात्री बनते हैं, इसीलिये ही कुल, मान, लज्जाको त्यागकर गोपियाँ मन्त्रमुग्धकी तरह उनसे मिलनेके लिये अभिसारिणी बनी थीं। आजतक न मालूम कितने

उसे भोगता है उतना ही वह अपनी नित्य-नयी रूपछटासे भक्त-को मुग्ध करता है। भक्त भगवान्की उस अतुल रूपराशि और हृदयमाधुरीका स्मरणकर क्षण-क्षणमें रोता-रोता कहता है—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु,
नयन ना तिरपित भेल।
लाख लाख जुग हिया माझ राखनु,
तबु हिया जुड़न ना गेल॥
(विद्यापति)

प्रेममयी गोपियोंने भगवान्से कहा था—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्याम॰ कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥
(श्रीमद्भा॰ १० । २९ । ३४)

'हमारा चित्त जो इस समयतक सुखसे घरके कामोंमें लग रहा था वह अब तुमने हर लिया है यही दशा हाथोंकी हुई है अब ये पैर भी तुम्हारे चरणतलको छोड़कर कहीं एक पद भी नहीं चल सकते इसलिये अब हम व्रजको कैसे जायँ और वहाँ जाकर क्या करें ?'

इसीलिये तो कहा जाता है कि संसारमें ऐसा कौन-सा सुख है जो भगवान्की समता कर सकता हो ? इहलोक और पर-लोकमें भगवान् ही विराजमान हैं, यह संसार न मालूम कितनी

जरा-जरा-से धन-ऐश्वर्य और सुख-सम्मानके लिये जीवनभर छटपटाते हैं तब भी वह हमें नहीं मिलता। जीवनभर सुख-सम्पत्तिकी मायामरीचिकाके पीछे दौड़ते रहनेपर भी हमें कभी सत्य और नित्यसुखके दर्शन नहीं होते। जगत्का यत्किञ्चित् सुख-सौन्दर्य उस नित्य और असीम सुख-सौन्दर्यका आभास ही तो है। जब छायाके लिये इतना मतवालापन है तब उस छायाके आधार सत्य पदार्थको पाकर तो न मालूम कितनी मत्तता होती होगी? इसीलिये भक्तगण जगत्के समस्त दुःख, समस्त दीनता, पीडा और लाञ्छनाका भार अपने सिरपर उठाकर उस परमधामके यात्री बनते हैं, इसीलिये ही कुल, मान, लज्जाको त्यागकर गोपियाँ मन्त्रमुग्धकी तरह उनसे मिलनेके लिये अभिसारिणी बनी थीं। आजतक न मालूम कितने ऐश्वर्यवान और विद्वान् एक बार उस मोहनका मोहक 'शब्द' सुनते ही समस्त ऐश्वर्य-मानको खखारकी तरह त्यागकर विरहव्याकुल प्राणोंसे उसकी खोजमें निकल पड़े हैं। यह निरा पागलपन नहीं है, सचमुच ही उसके अन्दर इतना मिठास है और ऐसा सौन्दर्य है। वह मधुरिमासे इतना सना हुआ है कि जगत्की किसी वस्तुसे उसकी आंशिक भी तुलना नहीं हो सकती। पृथ्वीके भोग-सुख चार दिनकी चाँदनी हैं परन्तु उस भगवत्माधुर्यका भोग कभी पूरा नहीं होता, उससे कभी अनिच्छा नहीं होती, कभी मन नहीं अघाता। भक्त अपने गक्र कभी पूरा नहीं कर सकता, वह जितना

उसे भोगता है उतना ही वह अपनी नित्य-नयी रूपछटासे भक्त-को मुग्ध करता है। भक्त भगवान्‌की उस अतुल रूपराशि और हृदयमाधुरीका स्मरणकर क्षण-क्षणमें रोता-रोता कहता है—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु,
नयन ना तिरपित भेल।
लाख लाख जुग हिया माझ राखनु,
तबु हिया जुड़न ना गेल॥
(विद्यापति)

प्रेममयी गोपियोंने भगवान्‌से कहा था—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्याम: कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३४)

'हमारा चित्त जो इस समयतक सुखसे घरके कामोंमें लग रहा था वह अब तुमने हर लिया है यही दशा हाथोंकी हुई है अब ये पैर भी तुम्हारे चरणतलको छोड़कर कहीं एक पद भी नहीं चल सकते इसलिये अब हम व्रजको कैसे जायँ और वहाँ जाकर क्या करें ?'

इसीलिये तो कहा जाता है कि संसारमें ऐसा कौन-सा सुख है जो भगवान्‌की समता कर सकता हो ? इहलोक और पर-लोकमें भगवान् ही विराजमान हैं, यह संसार न मालूम कितनी

वार बनता है और बिगड़ता है, हम न मालूम कितनी वार जाते हैं और आते हैं, चन्द्रमा और सूर्य न मालूम कितनी वार नये-नये बनकर आते हैं परन्तु वह ज्यों-का-त्यों है वही सदा सुकुमार और सदा सुकोमल है। आनन्द और माधुर्यका नित्य नवीन निर्झर है, चिर नवीनता में वह चिर दिन वर्तमान है।

समस्त विश्वका सुर पल-पलमें बजकर जिसके चरणोंमें मूर्च्छित होता है एक दिन हम लोगोंका हृदय भी उस अमल-धवल परम ज्योतिमें अवश्य ही विलीन होगा। नदीको समुद्रके विना और गति कहाँ है? अतएव बन्धुओ! आओ! जो जहाँपर हों वहींसे आओ, जो जिस अवस्थामें हों उसीमें आओ, आओ! आज हम सब मिलकर उसके मृत्युभयसे छुड़ानेवाले अभय चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करें! यदि मृत्यु अनिवार्य है, यदि मरना ही है तो आओ! उसके चरणोंमें पड़कर मृत्युको माँग लें और इन बहु-भार-पीड़ित, जन्म-मृत्यु-त्रासित, शोक- ख-मसित, तापित प्राणोंको शीतल करें!

हमलोगोंमें कितने ही लोग भगवान्‌को भी ठगना चाहते हैं और इसीलिये अपनी कमजोरियोंको छिपाकर वे लोगोंमें साधु बनते हैं। इससे कुछ लाभ तो होता ही नहीं, परन्तु उनकी उन्नतिका पथ कण्टकाकीर्ण अवश्य हो जाता है। जो दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें चतुर होते हैं वे समझते हैं कि हम इसी तरहसे भगवान्‌को भी धोखा दे सकेंगे परन्तु उनका ऐसा समझना निरा पागलपन है। अपनी कमजोरियोंको छिपानेकी

चेष्टा न कर भगवान्से यही कहना चाहिये कि 'प्रभो ! हम दुर्बल हैं, शक्तिहीन हैं, दीन हैं, अशरण हैं, अब तुम्हारी शरण लेते हैं, दया करके तुम हमें बचाओ।'

हमारी कमजोरियाँ और हमारा छोटापन भगवान्से छिपा नहीं है वे सब कुछ जानते है, तो भी वे इतने निर्मम या कठोर-हृदय नहीं हैं कि काँटेपर तौल-तौलकर ही हमारे लिये फल-विधान करें। यदि वे ऐसा करते तो लोग पापोंसे कभी नहीं छूट सकते !

इस संसारमें यदि कुछ सुख है तो उसके साथ ही दुःख भी तो भरा हुआ है। यदि किञ्चित् आशा है तो निराशाका भी अपार समुद्र उमड़ रहा है। इसलिये इस भले-बुरे, सुख-दुःख, शान्त-अशान्त और धूप-छायाके प्रपञ्चसे किसी तरह छुटकारा पाना जीवका चिरन्तन लक्ष्य है। जीवका जीवन वास्तवमें इस जगत्के ऐश्वर्य, सौन्दर्य और दुःख-दैन्यके वैद्युतिक अभिनयसे तृप्त नहीं है। वह चाहता है उस नित्य स्थिर और नित्य सुकोमल परमस्थान को, जहाँ जाकर वह कुछ शान्ति पा सके। इसीलिये भक्त संसारके घात-प्रतिघातसे उकताकर कह उठता है कि यह सब कुछ भी नहीं है—तुम्हीं सब हो—तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो !

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

ऐसी अवस्थामें उसे संसारका सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर सकता। वह भक्त केवल अपने प्राणोंके देवताको ही चाहता है और वह उसीको सब तरहसे आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। वह कहता है—

सुख-सम्पदमें तब प्रसाद-अमृतका, हूँ मैं करता पान।
दुख-सङ्कटमें पाता हूँ तव, मंगल-करका स्पर्श, ममान॥
तव अनन्त आशाका दीपक अमर जला दो जीवनमें।
मरण अनन्तर सुप्रभात हो तव पदपङ्कज-सेवनमें॥
ले लो सब आनन्द और यह प्रीत-गीत सब ले लो साथ।
भीतर बाहर एकमात्र हो तुमही मेरे जीवन-नाथ॥

समय-समय पर भक्तकी परीक्षा हुआ करती है; कहना नहीं होगा कि वह परीक्षा विश्वविद्यालयोंकी परीक्षासे सर्वथा भिन्न प्रकारकी होती है। एक चतुर सुनार जैसे सोनेको धधकती हुई अग्निमें जलाकर उसकी उज्ज्वलताको और भी बढ़ा देता है उसी प्रकार श्रीभगवान् भी अपने भक्तको अग्नि-परीक्षामें डालकर उसके अन्तरकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालिमातकको, मिटाकर उसकी उज्ज्वलताको और भी चमका देते हैं। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि वे व्यर्थ ही भक्तको कठोर कष्टसे घायल करके उसकी आशाके बीजाङ्कुरको ध्वंस कर डालते हैं।

कई लोगोंका कहना है कि भगवान्‌को पुकारने पर भी उसका उत्तर नहीं मिलता; इससे बढ़कर झूठी बात और क्या हो सकती है? अबतक जिसने उसको पुकारा है उसीने तत्काल

उत्तर पाया है। जिसने उसका आश्रय चाहा है उसीने उसकी करुणाको हृदयंगम किया है। हमलोगोंमेंसे कितने ऐसे हैं कि जिन्होंने यथार्थ प्रेमके साथ प्राणोंकी आवाजसे उसको पुकारा है? हमें अन्यान्य कार्योंके लिये समय खूब मिल जाता परन्तु भगवान् के लिये बिल्कुल नहीं मिलता। हम पार्थिव धन-सम्पत्तिके लिये तो चेष्टा करते हैं और उसे किसी अंशमें पाते भी हैं किन्तु उस परमात्माके लिये हमने कितने दिन जी तोड़ परिश्रम किया, कितने दिनों तक भूखे और प्यासेकी तरह उसे चाहा? कभी नहीं; यदि एक दिन भी उन्हें इस प्रकार चाहते तो अवश्य उत्तर मिलता। हमने चाहा धन, जन, सुख; उन्होंने हमें वही दे दिया 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' इन शब्दोंको उन्होंने पूरा निबाहा। हमने अपने सारे धर्मकर्मोंको त्यागकर कब उनकी शरण ली है? इसीलिये जलराशिमें रह कर भी हम प्याससे छटपटाते हुए मर रहे हैं। उनके चरणोंका आश्रय एक दिन भी तो नहीं लिया। ऐसी अवस्थामें हमें उनकी यह दिव्यवाणी कहाँसे सुनायी देगी कि 'मत डरो, मत डरो'— 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' रे हतभागे जीव! तू किस मुँहसे कहता है कि वे नहीं सुनते! उन्होंने तो तेरे लिये सब कुछ किया है परन्तु तैंने उनके लिये कुछ भी नहीं किया!

तब भी वे तो बोलते हैं, कितनी बार झाँकी-सी मार जाते हैं, परन्तु हम उनकी ओर देखते ही कहाँ हैं? पिता-माता भाई-

वहिन, पुत्र-कन्या, पति-पत्नी और दास-दासी आदिमें भी नित्य उन्हींके हृदयका निदर्शन प्राप्त होता है। इन ग्रह-नक्षत्रोंमें, चन्द्र-सूर्यमें, आकाशमें, नद-नदियोंमें, सागर-सलिलमें और अनल-अनिलमें जो उनका चमकता सुन्दर मुख दीख रहा है क्या हमने कभी उसे देखनेकी चेष्टा की है ? वे तो हमारे प्रत्यक्ष ही हैं परन्तु न मालूम हम किस जघन्य लोभसे—किस प्रबल दुराकांक्षासे उनकी असीम मर्यादाको पद-पदपर ठुकरा रहे हैं। वास्तवमें 'दूराद् दूरतर' नहीं हैं, वे हमारे अत्यन्त समीप हैं।

जब साधक समस्त वासनाओंके मोहको छोड़कर केवल भगवान्‌की प्राप्तिही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बना लेता है तब भगवान् स्वयं आकर उसको अपनी गोदमें उठा लेते हैं। सुतरां यदि हम इन क्षुद्र-वासनाओंको छोड़कर उन्हे चाहें, अपने-अपने काम-सङ्कल्पसे उत्पन्न स्वार्थको त्यागकर हृदयमे प्रेमकी शुभ वृत्तिका अनुशीलन करें तो वे अवश्य ही हमारे हाथोंमें पड़नेको तैयार हो जायँ। परन्तु जबतक जरा-सा भी स्वार्थ रहेगा तबतक उनका मिलन नहीं होगा। हाँ, इससे पहले भी चेष्टा करनेवाले भक्तके पीछे-पीछे वे अवश्य घूमते हैं, दो-एक बार झलक-सी भी दिखा देते हैं, कभी-कभी आँखोंके सामनेसे दौड़ जाते हैं, परन्तु स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होते।

इसीलिये खोज-खोजकर हृदयकी कमजोरियोंको हटाना पड़ेगा। साधनमें बड़ी दृढ़ताके साथ लगना होगा, उत्साहके

साथ सद् अभ्यास करना पड़ेगा तब महावनमें छिपे हुए सिंहकी तरह इस हृदयगुफामें ही हमें उनके दर्शन होंगे।

हमारे चारों ओर स्वार्थपरताका नाटक हो रहा है, इसीलिये स्वार्थत्याग हमें बड़ा कठिन प्रतीत होता है, हम एक पैर आगे बढ़ते हैं तो दस पीछे हटना चाहते हैं, बस, यहींपर अपनी सतृष्ण दृष्टिको जाग्रत् रखना चाहिये। कभी न सोकर, सदा बिना आलस्यके उनकी खोज करनी चाहिये। स्वार्थकी तरफ कभी न देखकर निरन्तर उनमें प्रीति बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर कभी-न-कभी वे अवश्य मिलेंगे।

माता लड़केके हाथमें कोई खिलौना देकर उसे भुला देती है और अपने दूसरे काम करने लगती है, जबतक बच्चा रोता नहीं तबतक माता उसकी ओर ध्यान न देकर दूसरी तरफ मन लगाये रहती है। परन्तु कई ऐसे हठी लड़के होते हैं जो खिलौनेसे भूलना या किसी तरह भी सोना नहीं चाहते। जबतक माताकी गोदमें रहते हैं तबतक चुप रहते हैं, जहाँ माताने गोदसे उतारा कि लगे चिल्लाने! ऐसे बच्चोंको माता कभी भुला नहीं सकती। उन्हें सदा साथ ही रखना पड़ता है। क्या हम उस जगज्जननीके ऐसे हठी और रुदनशील लड़के नहीं बन सकते? ज्यों ही वह हमें सुलाकर छोड़ना चाहे त्यों ही यदि हम रोने लगें तो वह विश्वजननी कभी हमें अपनी गोदसे अलग नहीं कर सकती, ऐसी अवस्थामें हम बिना विवाद उस सच्चिदानन्दमयी

जननीकी गोदमें शान्तिमग्न होकर, उसका अमृत स्तन्य पानकर अनायास ही अमर हो सकते हैं।

मा तो सवेरेसे ही हमें गोदसे उतारकर दूसरे कार्योंमें लग गयी है, हम किस ससार-खिलौनेपर भूल रहे हैं? यह कैसी विडम्बना है? सन्ध्या होने चली, धीरे-धीरे रात्रिका अन्धकार चारों ओर फैल गया, भाई! क्या अब भी तुम्हारा खेल समाप्त नहीं हुआ? अन्धकार बढता जा रहा है, चलनेका मार्ग धीरे-धीरे अन्धेरेसे ढका जा रहा है, साथियोंका कहीं पता नहीं है, चारों ओर बनैले पशुओंकी भयानक चिल्लाहटसे कान बहरे हुए चले जाते हैं। दिशाका छोर अन्धकारसे ढक गया है। अरे भूले हुए पथिक! रे अबोध! क्या अब भी तू चेत नहीं करता? वह सुन! समीप ही माताके मन्दिरोंमे नगारे बज रहे हैं, शंख और घड़ियालके बाजेके साथ माताकी आरतीका दीपक कैसा सुन्दर जल रहा है। एक बार उसको सुनकर कह कि 'मा! मेरा खेल पूरा हो गया, अब नहीं खेलूँगा, रातकी अँधेरी छायामें खेलनेपर मन नहीं चलता, अब मुझे अपने विश्वशरण चरणतलोंमें बुला ले।'

'मा! मैं बहुत खेला। खेलते-खेलते थक गया। एक बार मेरे पास खड़ी होकर अपना शान्त और नादभरा मुख मुझे दिखला दे! मा, खेलते-खेलते सब कुछ भूल गया, अब और न भुला। एक बार इस अन्धेरेको मथकर, दिव्य साजसे सज्जित हो, अपनी मधुर हँसीके विकासमे मेरे हृदयके आनन्द-निर्झरको

खोल दे। दसों दिशाओंको अपनी असीम सुन्दरतासे भर दे! आँखोंकी झपकी दूर कर दे! जगज्जननि! एक बार फिर इस क्लान्त भक्तके हृदयदेशमें विश्वव्यापी जगन्मोहिनी वेशमें खड़ी हो जा मा! और मैं एकतान चित्त होकर यह गाऊँ—

अनाथस्य दीनस्य तृष्णातुरस्य
भयार्त्तस्य भीतस्य बद्धस्य जन्तोः।
त्वमेका गतिर्देवि निस्तारदात्री
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥
लीलावचांसि तव देवि ऋगादिवेदाः
सृष्ट्यादिकर्मरचना भवदीयचेष्टा।
त्वत्तेजसा जगदिदं प्रतिभाति नित्यं
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥
न जानामि दानं न च ध्यानयोगं
न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्।
न जानामि पूजां न च न्यासयोगं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥

ईश्वर साकार हैं या निराकार

भगवान्‌को साकार कहें या निराकार ? उनको कैसा समझना ठीक है ? साकारवादी भगवान्‌को निराकार सुनते ही भड़क उठते हैं, और निराकार माननेवाले भगवान्‌के रूपकी बात सुनते ही जरा उपेक्षाकी हँसी हँसते हुए साकारवादियोंकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे देखकर और उनकी बुद्धिके जडत्व-पर विचारकर हताश हो जाते हैं। भारतके विभिन्न समाजोंमें बहुत प्राचीन समयसे इस बातपर न मालूम कितना वितण्डावाद और कलह हो चुका है। जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के साकार-विग्रहका वर्णन है, उनपर निराकारवादी विश्वास नहीं करते और जिन ग्रन्थोंमें भगवान्‌का निराकारत्व प्रदर्शित किया गया है, उनको साकारवादी बिल्कुल मानना नहीं चाहते।

इनमें कौन-सी बात शास्त्रसम्मत है? साकार सत्य है या निराकार? दोनो दलोंके इस वितण्डावादमें पडनेसे कोई लाभ नहीं है। इन दोनों मतोंकी उपेक्षा न कर शास्त्र और आचार्योंके मतोंके अनुसार मेरे हृदयने जैसी सम्मति दी और उससे मैं जो कुछ समझ सका हूँ, उसे यहाँ लिखता हूँ।

भगवान् न तो केवल साकार हैं और न केवल निराकार। वे साकार होते हुए भी निराकार हैं और निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे साकार-अवस्थामें भी निराकार हैं और निराकार-अवस्थामें भी आकारयुक्त हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाव असम्भव-सा प्रतीत होनेपर भी, भगवान्में ये दोनों ही भाव सम्भव हैं। क्योंकि उनमें सम्भव-असम्भव सभी सम्भव है, उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।

इस विश्व-जगत्की ओर देखनेसे यह समझमें आ जाता है कि भगवान्का शरीरधारण या रूप सम्भव है। वे असंख्य रूपों और अगणित भावोंमें प्रकट हो रहे हैं। इस विश्वके प्रकाशमें हम उन्हींके रूपको देखकर तो परम आश्चर्य-चकित होते हैं। इतने रूपोंवाला यदि अरूप है तो रूपवान् कौन होगा? इधर उनका निराकारत्व भी ऐसा गम्भीर और विस्मयोत्पादक है कि उसका स्मरण करते ही रूपमात्रको भुला देना पड़ता है। अमावस्याकी घोर रात्रिमें दिगन्तहीन मेघाच्छन्न आकाशकी ओर देखनेपर अपने शरीरके अस्तित्व-पर भी मानो सन्देह-सा होने लगता है। इस दृष्टिसे न तो

साकारको अस्वीकार करते बनता है और न निराकारको ही इन्कार करनेसे काम चलता है। पर यहाँ तो भगवान्के विशिष्ट रूपपर विचार करना है। अस्तु

समय-समयपर विशिष्ट रूपसे भगवान् मनुष्यके सामने या मनुष्य-समाजमें आविर्भूत होते हैं या नहीं ? मनुष्य उनको अपने ही जैसे मनुष्यरूपमें देख सकता है या नहीं ? भगवान् कितने ही महान विराट्स्वरूप और कैसे ही ऐश्वर्यशाली क्यों न हों, जबतक उनको मनुष्य अपने-जैसे मनुष्यरूपमें नहीं देखता, तबतक सम्भवतः वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्को मनुष्यकी ऐकान्तिक आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये मनुष्यके समान बनकर मनुष्यके निकट आना पड़ता है। उनका यही भक्तों पर अनुग्रह करनेवाला रूप लीला-विग्रह या अवतार-शरीर है। भगवान् मानवसमाजमें इस प्रकार आते हैं, यह अनेकों पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है एवं गीतामें तो भगवान्ने अपने श्रीमुखसे हमें यह सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

मैं धर्म-संस्थापनके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

परन्तु जब भगवान् अपनी योगमायामें अधिष्ठित हो देह धारण करते हैं तो अन्य शरीरोंके सदृश ही प्रतीत होनेपर भी उनका वह भागवती शरीर होता है, हमारे पाञ्चभौतिक शरीरोंके सामान वह भूतमय या भौतिक शरीर नहीं होता। उस समय मनुष्यके समान दीखनेपर भी उनके शरीरमें और

हमारे शरीरमें बड़ा भारी भेद है। हमारा शरीर जडभावापन्न है परन्तु उनके शरीरमें जडभाव है ही नहीं। वह जडवत् बोध होनेपर भी सर्वशक्तिमय, चैतन्यमय और आनन्दमय है।

जिस प्रकार जल जमनेपर बर्फ हो जाता है, बर्फमें जलके सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार भगवत-शरीर सच्चिदानन्द-मय है. उसका प्रत्येक अणु सच्चिदानन्दसे पूर्ण है। हम कर्मोंके अधीन हो इस संसारमें बार-बार आते-जाते हैं, भगवान् कर्म-रहित हैं, हमारे समान कर्मोंके अधीन होकर वे संसारमें नहीं आते, क्योंकि कर्म न होनेसे कर्म-फल-भोगरूप शरीरकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनका वह शरीर पञ्चभूतोंसे गठित नहीं होता, वे स्वेच्छासे शरीर धारण करते हैं, इसीसे जब वे मनुष्य-शरीरसे जगत्में अवतीर्ण होते हैं तो उनका वह शरीर उस सच्चिदा-नन्द-भावका स्वत: स्फुरण ही होता है। इसीलिये उसमें ऐसा चिर नवीन सौन्दर्य होता है जिससे जीवोंके मन प्राण स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। अनेकों बार देखनेपर भी वह पुराना नहीं होता, जितना देखा जाता है उतनी ही और देखनेकी इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नव
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।

शास्त्रोंमें अनेकों जगह भगवान्के श्रीविग्रहका वर्णन है। वहाँ उसे माया-तनु या लोकविमोहन शरीर ही कहा गया है। परन्तु इस माया-तनुका अर्थ मिथ्या शरीर या हमलोगोंको

ठगनेके लिये शरीर-धारण नहीं है वह शरीर अलौकिक शक्तिका आधार या क्रियाक्षेत्र है। भगवान्‌की अलौकिक ईश्वरीय शक्ति ही पुञ्जीकृत या घनीभूत होकर इस विशिष्ट रूपको धारण करती है।

भगवान्‌का रूप देश-कालसे परिच्छिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। देहधारी होकर भी भगवान् मनुष्यके समान सीमित, सान्त या जडभावापन्न नहीं होते। उस शरीरमें उनकी वही, असीम अनन्त चैतन्य सत्ता विद्यमान रहती है। जिस प्रकार सूर्य बहुत विशाल वस्तु है पर हमारी दृष्टि-शक्ति इतनी बड़ी वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकती, अतएव हमारी दृष्टिकी अल्पताके अनुरूप सूर्य हमें छोटे रूपमें दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार अनन्त, अपरिमेय परमात्मा हमारे नयन-गोचर होनेपर हमारी नेत्र-शक्ति के अनुसार छोटे रूपमें दीखने पर भी वास्तवमें वे क्षुद्र हो नहीं जाते। यही उनका असीम शक्ति-युक्त, भक्त-अनुग्रहकारी रूप होता है। भक्तकी तृप्तिके लिये भगवान्‌को भक्तकी दृष्टि-शक्तिकी सामर्थ्यके अनुरूप रूप धारण करना पड़ता है। इससे वे छोटे नहीं हो जाते। यदि कोई अन्य अधिक सामर्थ्यवान् पुरुष उनको उसी समय देखना चाहे तो उस एक ही समयमें वे साधककी शक्तिके अनुसार बड़े रूपमें भी दिखलायी पड़ सकते हैं। इसीलिये भगवान्‌के प्रति भक्तका आग्रह बढ़ता ही रहता है। हम उनको अपने खिलाड़ी साथीके भेषमें, उसीके रूपमें प्राप्त

कर सकते हैं; साथ ही गुरु, पिता, माता, विधाताके रूपमें भी पा सकते हैं। आवश्यक होनेपर वे हमारे प्राणोंके परमोत्सव रूपमें नवीन-नटवर मदन-मोहन प्राण-कान्तके रूपमें आकर हमारे साथ रसालाप भी कर सकते हैं। हमारे विषयव्याकुल चित्तको अपनी सुमनोहर वंशी-ध्वनिद्वारा अपने चरणों में खींचकर हमारी अनन्तकाल की दारुण संसार-पिपासाको मिटा दे सकते हैं।

वे निराकार, अरूप-रूप से भी यह सब कुछ कर सकते हैं और साकार-रूपसे हमारे समीप बैठकर हमारी व्यथासे व्यथित होकर हमें अनेक प्रकारसे सान्त्वना भी दे सकते हैं।

यह सब उनकी महिमा है और यह महिमा ही उनकी माया या अघटनघटनापटीयसी अलौकिक शक्ति है।

> एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
> मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥
> यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
> एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥

जो भगवान् वस्तुतः चिन्मय एवं रूपवर्जित हैं, यह स्थूल-रूप भी उन्हीं चिन्मयका रूप है। (भाफ के आकार में जो अदृश्य था बस वही जलाकार में दिखलायी पड़ने लगा) क्योंकि जिन तीनों गुणोंके विकारसे यह स्थूल रूप बनता है, वे तीनों इस चिन्मयके ही अंश हैं। वे ही स्थूलरूप मे अधिष्ठित हैं। यद्यपि स्थूल रूप भगवान्का ही रूप है, पर उनका स्वरूप सभी

रूपोंसे भिन्न है। जिनकी बुद्धि अविद्याके मोहसे मुग्ध है उन अबुद्धि मनुष्यों द्वारा 'दृश्यत्वम्' दृश्यभावको यानी स्थूलरूप को 'द्रष्टरि' द्रष्टा पुरुष (जीव और ब्रह्म) के ऊपर आरोप किया जाता है।

जो विश्व-मूर्तिरूपसे वासुदेव हैं, प्राणाधीशरूपसे अखिल प्राणमय दिव्य-तेजपूर्ण देहधारी हैं, उन्हींका मनुष्य-सदृश रूप भी है। पर मानव-सदृश होकर भी वह अमानव हैं। उसी रूपको देखनेके लिये भक्तमात्रके प्राण व्याकुल रहते हैं। विश्व-रूप देखनेके बाद अर्जुनने इसी रूपको देखना चाहा था और भगवान्ने भी कृपा करके अर्जुनको वह रूप दिखलाया था। इस रूपके दर्शन कर लेनेपर भक्तकी रूप-तृष्णा सदाके लिये मिट जाती है। मनुष्यके अन्दर रूप-तृष्णा बड़ी प्रबल होती है, इस रूप-तृष्णा या रूप-दर्शनके नशेको मिटानेके लिये ही वे अपूर्व श्यामसुन्दरमूर्ति धारण करते हैं। शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर विविध छन्दों और अनेक भाव-भङ्गियोंसे इस मदनमोहन, पुरुषोत्तमरूपके आविर्भावका वर्णन है। इस सुसंवादसे हमारा चित्त मानो स्वाभाविक ही आश्वासन प्राप्त करता है।

भगवान्के रूपयुक्त और रूपहीन दोनों भावोंका वर्णन शास्त्रोंने हमें सुनाया है। एक सीमाहीन, अन्तहीन, चैतन्य, इन्द्रियोंके अगोचर, अरूप और सत्तामात्र हैं तो दूसरे अनन्त शक्तिके आधार, अनन्त-क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, प्रेम-पूर्ण, रूपमय,

भुवन-मनोमोहन, चिन्मय, लीलाविग्रह हैं। एकमें अनन्त शक्ति शुद्ध और अव्यक्त है तो दूसरेमें अनन्त शक्तिका खेल है, अनन्त रूपका नित्य-निकेतन है। जहाँ शक्ति शुद्ध है, अपने आपमें मग्न है, उस अरूप भावका वर्णन भाषामें कोई भी नहीं कर सकता, वहाँ वे निराकार हैं, परन्तु जहाँ वह शक्ति जाग्रत् है, क्रीडाशील है, वहाँ वे निराकार होते हुए भी साकार हैं, क्योंकि जहाँ शक्तिका स्फुरण है वहीं रूप है। शक्तिका स्फुरण होते ही कुछ अवलम्ब या आश्रय लेना पड़ता है। यह आश्रय-केन्द्र ही उनके रूपको प्रकाशित करता है। यह रूप-परिग्रह-केन्द्र-शक्ति भावमयी है। यह रूप, विशिष्ट रूप होनेपर भी चिन्मय-भावके साथ एवं अरूप-सत्ताके साथ नित्य सम्बन्धित है। इसीसे जब भक्त भयभीत होकर उन्हें 'मा' कहकर पुकारता है तब भक्तको अभय प्रदान करनेके लिये वे अनन्त-चैतन्य-सत्ताका विस्तारकर अनुपमरूपमें भक्तके सम्मुख प्रकट होते हैं। उस समय वे हमारे ही समान बातें करते हैं, अपने भक्तके मनकी बात सुनते हैं। भक्तके दिये हुए पदार्थ ग्रहण करते हैं, खाते हैं। प्रभुकी वह कैसी अपूर्व करुणा है? भक्त प्रह्लादसे जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि 'क्या इस स्तम्भ में तेरा भगवान् है?' तो भक्त प्रह्लादने निर्भीक-चित्त और विश्वासपूर्ण हृदयसे उत्तर दिया कि 'निश्चय ही हैं, पिताजी! वे सर्वव्यापी हैं, इस स्तम्भमें भी हैं।' हिरण्यकशिपुने चिर-शत्रु भगवान्‌को इतना निकट जानकर ज्यों ही खड्ग उठा

प्रचण्ड वेगसे स्तम्भपर आघात किया त्यों ही सर्वव्यापी होते हुए भी भक्तके प्रभु, भक्तप्राणके देवता भगवान् भक्तकी बात सच्ची करने एवं हिरण्यकशिपुके अज्ञानतमको ध्वंस करनेके लिये उसी समय कितने भीषण और कितने मधुर रूपमें भक्तके सामने प्रकट हो गये और भक्तके हृदय-क्षोभको सदाके लिये मिटा दिया !

इस रूपके धारण करनेपर उनकी भक्तवत्सलता कहाँ रहती ? भक्तको भगवान् उसी प्रकार कृतार्थ करते हैं। यहाँ यह सोचना ठीक नहीं होगा कि भगवान् जब एक जगह आविर्भूत हो गये तो अन्य स्थानोंपर शायद नहीं रहे। वे सर्वव्यापी रहते हुए ही एक समयमें ही अनेकों स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं एवं सभी रूपोंमें उनकी असीम शक्ति पूर्ण रहती है। जिस प्रकार एक महान् अद्वितीय भगवत्स्वरूपमें उनकी असीम शक्ति है, खण्डरूपसे प्रतीत होनेवाले असंख्य स्वल्पायतनोंमें—छोटे शरीरोंमें भी उनकी वही असीम शक्ति विद्यमान रहती है। यही उनकी भगवत्ता है। एक परमाणुमें वे जिस प्रकार पूर्णात्पूर्णतर रूपमें विराजमान हैं, अनन्त ब्रह्माण्डमें अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी अधिष्ठानमें भी वे वैसे ही पूर्णात्पूर्णतर रूपमें विराजित हैं। हमलोगोंकी भाँति भगवान्का एक स्थानपर स्थित रहते दूसरी जगह अभाव नहीं होता। परन्तु जब वे अपनेको किसी देश, काल और आधार में प्रकाशित करते हैं तब वह एक अपूर्व प्रकाश होता है। उस देश, काल, आधारमें रहकर भी वे

उस देश, काल और स्थानसे अतीत ही रहते हैं। वे भक्तकी पुकार सुनते हैं, एवं भक्तको अभय देनेके लिये उसी देश, काल और स्थानमें अपनेको प्रकट करते हैं। द्रौपदीने दुःशासनके अत्याचारसे भयभीत हो कौरव-सभामें उनको करुण-भावसे पुकारा था, उन्होंने कातर भक्तके आह्वानसे आकर्षित होकर तत्काल भक्तका भय दूर कर दिया। उनकी आर्तत्राणपरायणताके ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं।

जैसे दुर्गन्धमय, कीचड़-भरे, संकीर्ण जलमें भी कमल अपूर्व शोभा, सुगन्ध और सुन्दर वर्णको लेकर खिलता है, भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे इसी देश, काल और आधारमें अपनी अपूर्व भक्तभयहारी मूर्तिको उसी प्रकार प्रकट करते हैं। यही उनका मदनमोहन रूप या भुवन-मन-मोहन ईश्वरीय भाव है। इसी भावमय-रूपमय सत्ताके दर्शन करनेपर साधकका हृद्-रोग नष्ट हो जाता है। इस रूपको देखते-देखते साधक विह्वल हो उठता है। इस रूपसागरमें डूब-डूबकर भी वह अपने प्राणों की आशा मिटा नहीं सकता। भक्त कहता है—

जन्म अवधि हम रूप निहारिनु, नयन ना तिरपित भेल।

श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय

हम अल्पबुद्धि प्राणी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें क्या प्रमाण पेश करें? हम-जैसे इन्द्रियाराम मनुष्योंकी बातों और युक्तियोंका मूल्य ही क्या है? और लौकिक युक्तियों द्वारा आजतक उनको सिद्ध ही कौन कर सका है? ध्याननिष्ठ ज्ञानी और नित्य आत्मसमर्पित भक्तके अचल हृदयासनपर वे सदा ही विराजित रहते हैं; और हम क्या प्रमाण दिखावें?

हमलोगोंके द्वारा, भगवान्के अस्तित्वमें प्रमाण प्रदर्शित करना एक प्रकारसे पागलका प्रलाप ही समझना चाहिये।

सूर्यको देखनेके लिये जैसे दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें भी अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है। भक्त और ज्ञानियोंकी स्वानुभूति और सम्पूर्ण ज्ञानोंकी खान, साक्षात् ईश्वरवाणी भगवती श्रुति ही उनके अस्तित्वमें सर्वोत्तम और प्रबल प्रमाण है। जो श्रुति-प्रमाणको नहीं मानते, उनसे हमारा कुछ भी कहना नहीं है। मैं यथासाध्य श्रुति-प्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति और यत्किञ्चित् अपने अनुभवके आधारपर ही यह निबन्ध लिखना चाहता हूँ। आशा है, भगवद्भक्त महापुरुष मेरी इस धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

भगवान्‌में सभी लोग विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। महर्षि नारदने अपने भक्ति-सूत्र (२) में कहा है—*'सा कस्मै परमप्रेमरूपा।'*

यहाँ 'किम्' शब्दका प्रयोग करके महापुरुष समझाते हैं कि जो 'किम्' शब्दवाच्य है, हमें उन्हींसे प्रेम करना होगा। इस 'किम्' शब्दका अर्थ यह है कि भगवान् सदा ही प्रश्नार्ह हैं। अर्थात् जिनके सम्बन्धमें कितने लोग कितनी बातें कहते हैं, आजतक कितने प्रश्न हो चुके हैं और कितने बुद्धिमान् पुरुषोंने उनके कितने प्रकारसे उत्तम-उत्तम उत्तर दिये हैं। तथापि मानव-हृदयके इस पुरातन प्रश्नके विषयमें शंकाहीन, सन्देहहीन, सबके लिये ग्रहणीय, सबको सन्तोषप्रद सदुत्तर अभीतक कोई भी नहीं दे सका। अतएव जब-जब इस प्रश्नकी मीमांसा हुई, तब-ही-तब कुछ समयके बाद पुनः सन्देहपुञ्ज इकट्ठा हो गया और

वही प्रश्न कुछ नवीन रूपमें फिर सामने आ गया। नचिकेताको यमराजने कहा था—

> देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
> न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
> (कठ० १।१।२१)

पूर्वमें देवताओंको भी आत्माके (ईश्वरके) अस्तित्वमें सन्देह हो गया था। कारण, यह विषय 'न सुविज्ञेयम्' है। सहज ही जाननेमें नहीं आता। क्योंकि जगत्को धारण करनेवाला यह आत्मा 'अणुः' सूक्ष्म चिन्तनसे भी अगम्य है।

इसीसे कहा जाता है, सब लोग भगवान्में विश्वास नहीं कर सकते। बहुतोंको तो उसका पता ही नहीं होता। भगवान्में विश्वास करनेके लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझमें नहीं आता। हम लोगोंका जो उनपर यत्किञ्चित् विश्वास है सो केवल उनकी दयासे ही है।

पुत्र अपनी मातापर सहज विश्वास करता है। वह किसीसे कुछ सुनकर या युक्तियोंका संग्रह करके ऐसा करता हो, सो बात नहीं है। जननीका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको न जाने क्या समझा देता है जिसको वह बतला नहीं सकता। परन्तु अपने प्राणोंके अन्दर वह किसी अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है, उसीकी प्रेरणासे वह माताको 'माँ, माँ' कहकर पुकारता है और असीम विश्वासके साथ उछलकर माँकी गोदमें जा बैठता है। इसी प्रकार युक्तियोंके सहारे कोई भगवान्पर

कभी न तो विश्वास कर सकता है और न उनमें प्रेम ही कर सकता है ।

भगवान्‌की विश्वविमोहिनी शक्ति या बाँसुरी, भक्तके प्राणोंमें न मालूम क्या अपूर्व संगीत सुनाती रहती है। उसीसे भक्त सदाके लिये उनके चरण-रजका भिखारी बन जाता है। फिर उसको किसी भी युक्तिद्वारा उस मार्गसे हटाया नहीं जा सकता। प्रभुके आकर्षणमें ऐसा ही अपार बल है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तको ही बाँसुरीका मधुर स्वर क्यों सुनाते हैं ? दूसरे उसे क्यों नहीं सुन सकते ? इसके उत्तरमें भगवान् गीतामें स्वयं ही कहते हैं-- .

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

भक्तको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तको नहीं, इससे क्या भगवान्‌में वैषम्य-दोष आता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं--'मैं सब भूतोंमें समान हूँ, मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ।'

जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार

पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवानको भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है।

पुत्र जैसे जननीपर सहज ही विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, कुत्ता जैसे अपने अन्नदाता (स्वामी) पर विश्वास करता है, इनसे कहीं अधिक भक्त अपने भगवान्पर प्रेम और विश्वास करता है।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या हैं; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि थक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंने उनका कितना अनुसन्धान किया, किन्तु कोई उनकी थाह न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस अधर तत्त्वका भी पता लग सकता है। किन्तु कहाँ ?

'हरिके कोमल पद-कमल हरि जन-हियमें पेखि।'

भक्तको देखकर ही अभक्त, अज्ञानीका भगवान्में विश्वास होता है मानो उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है। मानो कोई अचिन्त्य वस्तु उनकी नजरोंके सामने आ जाती है। भगवत्-प्रेममें मतवाले श्रीमान् नित्यानन्द प्रभुको देखकर जन्मके पाप-कलुषित चित्तवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी। सदाके अभ्यस्त विषयोंसे वह मानो सर्वथा दूर हट गया। यही साधुसंगकी महिमा है। फिर उसने जब भक्तावतार श्रीचैतन्य-चन्द्रके प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीचैतन्यदेवके शरीरसे स्पर्श होकर आयी हुई वायुके झकोरे जगाई-मधाईके शरीरमें लगे, तब तुरन्त ही एक वैद्युतिक क्रिया-सी हो गयी। दोनों भाई

अनास्वादित अपूर्व भगवत्प्रेममें सर्वथा निमग्न हो गये। उनकी कुप्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी। जो भूलकर भी कभी भगवान्को याद नहीं करते थे, वे ही भगवत्की प्राप्तिके लिये अकुला उठे। भगवद्भक्तोंके संगकी यही तो महिमा है।

सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

भक्त भी अपने बलपर भगवान्को नहीं पकड़ सकता। इस बलको त्यागनेकी तो भगवान्ने आज्ञा दी है। भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी भुजाओंमें बँध जाते हैं। भगवान्की शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है। जो भगवान्में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कभी नहीं लग सकता। भजन बिना केवल बुद्धिवादसे कोई भी भगवान्की अपार महिमाका पता नहीं पा सकता। भगवान्का महत्त्व समझे बिना, उनके चरणोंमें अपनेको सब प्रकारसे अर्पण किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

इस लोकमें यदि उस सत्यस्वरूप परमात्माका पता लग सके अथवा उनको जाना जा सके तभी 'सत्यमस्ति'–जीवनकी सफलता होती है। इस लोकमें यदि उन्हें न जाना जा सका तो

महती विनष्टि'—महान् अनिष्ट हो गया—महा विनाश हो गया। क्योंकि जिस आनन्दकी खोजमें समस्त जीवसमुदाय व्याकुल हो रहे हैं, जिस आनन्दकी प्राप्तिके लिये लोग सैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आनाकानी नहीं करते तथापि किसी प्रकार भी उस परमानन्दस्वरूपका सन्धान नहीं पाते। यदि मनुष्यको किसी उपायसे उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तहीन, अनादि निर्झरके निकट पहुँच जाय तो फिर उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती। वह जन्म-मरण, शोक-रोग, शीत-उष्ण और अभावके नित्य-निरन्तरके सन्तापोंसे—समस्त दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

फिर वे परम भक्त धीर ज्ञानीजन सब भूतोंमें उन परमात्माकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस प्रकार अनुभव करने वाले धीर पुरुष ही इस लोकसे गमन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। भक्त जैसे भगवानके लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वाभाविक भक्त-वत्सलतासे नहीं चूकते। माता यशोदा बड़ी चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको न पकड़ सकी, तब जननीको परिश्रमसे श्रान्त और क्लान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उसकी डोरीमें बँध गये! धन्य है!

जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करमकी डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरण-कमलोंमें धूलि-कणके सदृश नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ावें, तो उन्हें कौन पकड़ सकता है? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्तिप्रिय माधवको भगवत्कृपा-लब्ध भक्तिके बलसे ही पकड़ सकते हैं। जिसके पास भक्तिका यह बल नहीं है, वह किस प्रकार भगवान्का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है? और उनका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना वह किस प्रकार उनपर परम विश्वास कर सकता है? अतएव मुझ-जैसे प्राकृत मनुष्य यदि भगवान्में विश्वास न कर सकें तो उन लोगोंको उतना दोष नहीं दिया जा सकता।

हमलोगोंमें साधारणभावसे जो यत्किञ्चित् भगवद्विश्वास है उसमें वास्तविक विश्वासकी तो गन्ध भी नहीं है। भगवद्विश्वास एक अपूर्व वस्तु है। वह अप्राकृत, अमूल्य सम्पदा है। उसके उदय होते ही जीव कृतकृत्य हो जाता है और उसका भवबन्धन टूट जाता है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

(गीता ६।२२)

भक्त प्रह्लादके अन्दर उस विश्वासकी कैसी अपूर्व शोभा—*कैसी अपूर्व माधुरीका विकास हुआ था? तभी तो उसको—*

समुद्र-गर्भमें निमज्जित होनेमें और अत्युच्च गिरिशिखरसे गिरनेमें तनिकसा भी भय नहीं लगा। मतवाले हाथीके पैरों-तले कुचलनेकी बात भी उसके मनमें किसी प्रकार जरा-सी भी शंका उत्पन्न न कर सकी। इसका कारण यही था कि प्रह्लाद भगवान्‌के अभय मुखारविन्दका दर्शनकर सदाके लिये भयसे मुक्त हो गया था। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सामनेको स्तम्भ दिखलाकर कहा कि--"क्या तेरा भगवान् इस स्तम्भमें भी है?" प्रह्लादने अविचलित चित्तसे उत्तर दिया कि—'हाँ, हैं, वे सर्वत्र हैं, इस स्तम्भमें भी निश्चय ही हैं।' यही भक्तके शुद्ध भावसे भरे हुए चित्तका अपूर्व विश्वास है। ऐसा चित्त मिले बिना क्या किसीको भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं? यह युक्ति नहीं है, यह तो भक्तकी प्रत्यक्षकी हुई बात है—'*येन सर्वमिदं ततम्*।'

भगवान् भी शरणागतवत्सल हैं। जो उनकी शरण लेता है, वे उसपर कृपा करते हैं, अथवा वह उनकी नित्य विद्यमान असीम कृपाके स्पर्शका अपने हृदयमें अनुभव करता है। सकाम आर्त, अर्थार्थी भक्तपर भी जब भगवान् कृपा करते हैं; तब जिसकी भक्ति फलकामनासे रहित है, उसका तो कहना ही क्या है?

एकवस्त्रा नि:सहाया द्रौपदी सभाके अंदर नंगी किये जानेके भयानक भय और लज्जासे अभिभूत होकर जब कातर कण्ठसे प्राण भरकर भगवान्‌को पुकारने लगी तब भगवान् क्या उसकी पुकारको अनसुनी करके वहाँ आये बिना क्षणभर भी रह सके?

आश्चर्यमयी घटना हो गयी, भगवान्का वहाँपर वस्त्रावतार हो गया। सभाके सभी लोग स्तम्भित और चकित हो गये। भयार्तके भय-भञ्जनका अद्भुत दृश्य देखकर भक्तोंका चित्त भगवान्के लिये रो उठा! इतनेपर भी अविश्वासी दुर्योधन अपनी आँखोंके सामने आश्चर्य घटनाको देखकर भी विश्वास न कर सका। उसको यह दृश्य तनिक भी विचलित न कर सका। ऐसा क्यों हुआ? ईश्वरमें उसका जरा-सा भी विश्वास क्यों नहीं हुआ? कारण यह है कि वह अहंकारी और अभिमानी होनेके कारण अनधिकारी था। वह अपने आपको ही बड़ा मानता था। उसका हृदय अन्धकाराच्छन्न और सर्वत्र अवरुद्ध था। उसके ऐसे हृदयमें भगवान्के प्रकाशके लिये स्थान कहाँ था? इसीलिये भगवत्-शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होनेपर भी वहाँ प्रकाशित नहीं हुई।

बाहरी युक्ति और तर्कोंद्वारा जो भगवान्के अस्तित्वका निरूपण किया जाता है वह केवल बाह्य वाणीका विलासमात्र ही है। उससे भगवान्का बोध नहीं हो सकता। वह तो मनके स्वधाममें छिपे हुए निज निकेतनका रहस्य है। सबके सामने कहने-सुननेकी बात नहीं।

बहुत दिनोंके प्रवाससे लौटे हुए स्वामीके साथ स्त्रीका जो परस्पर गुह्य प्रेमालाप होता है, उसकी भाषाके और उसके भावके रहस्यको, उसकी करुणरागिनीके अस्पष्ट स्वरको जाननेका अधिकार क्या किसी बाहरी मनुष्यको होता है? इसी प्रकार

भगवद्-ज्ञानका, उनके अस्तित्वका और भक्त-हृदयमें स्थित भगवान्‌के सौन्दर्यकी मधुरताका, लीलास्वादका भक्तके हृदयमें ही अनुभव किया जा सकता है। हम अभक्त उसके स्वादको क्या समझें ? और कैसे उसका वर्णन करें ?

ईसाइयोंके 'Imitation of Jesus Christ' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

The soul is not to be satisfied with the multitude *of words but a holy life is* continual feast. The kingdom of God is not in words

'शब्दोंकी प्रचुरतासे आत्माका सन्तोष नहीं होता। पवित्र जीवनसे निरन्तर सुखका रसास्वाद मिलता है। ईश्वरके राज्यमें शब्दोंका महत्त्व नहीं है।'

भगवान्‌को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान सकता है और न देख ही सकता है। विषयव्याकुल चञ्चल चित्तसे आत्मदर्शन नहीं होता। स्थिर चित्त होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। स्थिर चित्त हुए बिना हजारों बार खोज करनेपर भी और सैकड़ों ग्रन्थ पढ़नेपर भी भगवान्‌के अस्तित्वका पता लगना बड़ा कठिन है। भगवान्‌के दर्शनके लिये जिसके मनमें अत्यन्त तीव्र आकर्षण होता है, वह नचिकेताके समान ही विषयोंकी क्षणभंगुरता और अनित्यताको देखकर विषयोंकी ओर ताकतही नहीं। जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्रा सदाके लिये समाप्त

हो जाती है और मनुष्य-देहका धारण करना सफल हो जाता है—उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही लालायित होकर वह केवल उसीको चाहता है। इसके सिवा वह और कुछ भी नहीं चाहता।

यह भाव तर्क और युक्तियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला नहीं है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' यह ब्रह्मविषयक बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयोंमें निमग्न हुए चित्तके द्वारा हमलोगोंमेंसे कोई भी उस गूढ़तम भगवत्स्वरूपका तत्त्व नहीं जान सकता। वह इतना सूक्ष्म है और इसलिये वह इतना दुरवगाह है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(कठ० १।२।७)

संसारमें अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो इस आत्मज्ञान अथवा परमेश्वर-सम्बन्धी वार्ताको सुननेका ही सुयोग नहीं पाते। कोई श्रवणका सुयोग पाकर भी इस आत्मस्वरूपको यथार्थतः जान नहीं सकते। इस आत्मज्ञान—परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानके उपदेष्टा भी दुर्लभ हैं। इसके जानकर श्रोता भी दुर्लभ हैं और इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश-प्राप्त हुए ज्ञाता पुरुष भी दुर्लभ हैं। फिर जिस किसी मनुष्यसे इस आत्मतत्त्वके मनने-

पर भी कोई फल नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्यके द्वारा किये हुए परमतत्त्वके उपदेशसे आत्मज्ञानका विकास नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
(कठ० १।२।८)

इस आत्माके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मत हैं। कोई कहता है भगवान् हैं, कोई कहता है नहीं हैं। कोई उनको कर्ता, कोई अकर्ता, कोई साकार, कोई निराकर, कोई न्यायवान् और कोई दयालु, इस प्रकार भगवान्के सम्बन्धमें अनेक लोग अनेक प्रकारके भाव रखते हैं। हमारे इन्द्रियग्राह्य ज्ञान और विचारसे उन अतीन्द्रिय परमात्माका यथार्थ बोध नहीं हो सकता। लोग अपनी भावनाके अनुसार ही भगवान्की कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु वह अद्वितीय देव सभी भूतोंके अन्तरमें गूढ़रूपसे स्थित हैं। वे सर्वव्यापी और सर्वभूतोंके अन्तरात्मा हैं। वे सबके, सब कर्मोंके साक्षी होनेपर भी निर्गुण हैं, अर्थात् कोई भी गुण उनको बाँध नहीं सकता—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेताश्वतर० ६।११)

उन भगवान्को जाननेके लिये उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

इस शरणागतिद्वारा भगवदुपदिष्ट साधनोंमें लग जानेपर शरणागत साधकको भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं।

शास्त्रोंके अध्ययनसे केवल भगवान्को जाननेकी इच्छा जाग्रत् होती है। नहीं तो अनेक शास्त्रोंको पढ़नेवाला कोई भी उन्हें जान लेता। पर ऐसी बात नहीं है, शास्त्राध्ययनके साथ ही साधन-सम्पन्न भी होना चाहिये।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः न निष्णायात्परे यदि।
श्रमः तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

जो केवल शब्द-शास्त्रको जानता है, परन्तु साधन द्वारा उसका रहस्य उपलब्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसका शास्त्र पढ़ना वैसे ही श्रममात्र है जैसे बाँझ गौ अपनी रक्षा करनेवालेको केवल परिश्रम ही देती है। इसीलिये जब कि साधनके बिना भगवान्को जाननेका कोई उपाय ही नहीं है, तो फिर उन्हें जाननेके लिये साधन ही करना चाहिये। साधन किये बिना जन्म-जन्मान्तरोंसे सञ्चित अन्तःकरणका मल नष्ट नहीं हो सकता। मलनाश होकर अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना भगवान्के

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यग ममाभवद्रुचिः ॥
(श्रीमद्भा० १।५।२६)

वे (साधु) प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कथा कहा करते थे। उन्होंने दया करके मुझे उस कथाके सुननेका अधिकार दे दिया था। प्रतिदिन श्रद्धासहित कथा सुनते-सुनते मेरे हृदयमें भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगा।

आदौ श्रद्धा ततः संगस्ततोऽथ भजनक्रियाः।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

पहले श्रद्धा होती है। तदनन्तर सत्सङ्गके फलस्वरूप चित्तमें भगवत्-प्राप्तिकी आशा बढ़नेसे भजनद्वारा विक्षेपादि नष्ट हो जाते हैं; पश्चात् निष्ठा और उसके बाद रुचि होती है, रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाता है, फिर भगवान्में प्रबल आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसीका नाम भक्ति और यही विश्वासकी पराकाष्ठा है। यह विश्वास हमें सिर्फ बातों और युक्तियोंसे कैसे मिल सकता है?

जिसके प्रति हमारा प्रेम बढ़ा हुआ होता है उसका चिन्तन हमें बहुत ही प्रिय प्रतीत होता है। भगवान्में भक्ति होनेपर उनका भी अधिक-से-अधिक चिन्तन करना प्रिय लगता है। फिर वह भक्त अपने प्रियतम भगवान्के चिन्तनमें निमग्न हो जाता है। इस प्रकार आनन्दघन भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।६।१७)

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भक्तिके प्रबल होनेपर नारदके चित्तकी वृत्तियोंका बहिर्मुख भाव संयत होने लगा, क्रमशः प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया। कब उनके दर्शन होंगे, क्या मुझे भी भगवान् दर्शन देंगे? इस प्रकारकी भावनासे नारदका चित्त भवद्विरहमें व्याकुल हो गया। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उसी समय नारदके हृदयमें श्रीभगवान्‌की मूर्तिका आविर्भाव हुआ।

ऐसे सर्व-तम-नाशक आनन्दघन भगवान्‌के दर्शन हुए बिना क्या जीवन सफल हो सकता है? इसी आनन्दके लिये ही तो मनुष्य लालायित है। इसी आनन्दको पानेकी आशासे वह इन्द्रियोंके द्वार-द्वारपर विषयोंके लिये भीख माँगता भटक रहा है। वह 'आनन्द' और 'शान्ति' के लिये पुकार मचाता हुआ बिना विराम दौड़ रहा है, किन्तु—

हरि सौरभ मृगनाभि बसत है, द्रुम तृण सूँघि मर्‌यो।

—कहाँ है वह आनन्द? वह आनन्द विषयोंमें नहीं है। तथापि जीव इसी आनन्दका सेवन करता है। विषयोंमें इस आनन्दका जरा-सा आभास है। इसीलिये तो जीव विषयोंको छोड़कर उनसे हटना नहीं चाहता। जीवमें इस आनन्दकी आकांक्षा स्वाभाविक ही है। वह खण्ड आनन्द अथवा आनन्दके जरा-से

विचूर्णको कई बार प्राप्त कर चुका है, किन्तु उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती। वह तो चाहता है आनन्द-रस समुद्रको। वह तो उसमें सदाके लिये अपनेको खोकर डूबे रहनेके लिये पागल हो रहा है। यह 'पूर्णात् पूर्णतरम्' अथवा 'पूर्णतम' आनन्द ही भगवानका स्वरूप है। उसके न मिलनसे विश्वासके साथ उसका आस्वादन न करनेसे, जीवकी यह जीवन-यात्रा ही व्यर्थ है। अतएव भगवान्में विश्वास न करनेसे कितनी हानि होती है, इसका कोई अनुमान भी नहीं हो सकता। आनन्दकी तो इच्छा ही पवित्र होकर भक्ति पमें परिणत हो जाती है। पहले कहा जा चुका है कि आनन्दकी आकाङ्क्षा जीवमें स्वाभाविक है, अतएव भक्ति भी मनुष्यका सहजात संस्कार है। इस भक्तिकी चरितार्थताके लिये भगवान्की आवश्यकता है। हमारे अन्दर यह भक्ति है इसीसे हम समझ सकते हैं कि 'भक्तिप्रिय माधव' भी हैं।

—·—

साधनपथका सम्बल

दूरकी लम्बी यात्रामें जैसे मार्गमें काम आनेवाली वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है, इसी तरह विघ्न-कण्टकसे भरे हुए साधनके इस सुदीर्घ दुर्गम गहन मार्गको लाँघकर जानेके लिये भी हमें राह-खर्च आदिकी बड़ी आवश्यकता है। साधनपथका एक प्रधान सहारा है 'सत्संग'। अच्छा साथी नहीं मिलनेसे जैसे राह चलना सुखकर नहीं होता, इसी प्रकार साधनपथमें भी साथीके अभावसे पद-पदपर कष्ट उठाना पड़ता है; और बीच-बीचमें जब हृदयपर निराशा छा जाती है तब कोई उत्साह दिलानेवाला न होनेसे आगे बढ़ना बहुत ही कठिन हो जाता है। इस मार्गमें सद्गुरु, ज्ञानी और संत भक्तगण ही प्रधान साथी हैं। इनके

अभावमें श्रद्धासे किया हुआ शास्त्र-अभ्यास और सद्ग्रन्थोंव
पाठ भी कुछ-कुछ साथीका काम देता है। इस मार्गका प्रधा
पाथेय, जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता और जिस
अभावमें इस मार्गमें चलना एक विडम्बनामात्र होता है, उस
सबसे पहले संग्रह करना चाहिये। यह पाथेय है 'वैराग्य'। य
साधनपथका प्रधान सम्बल है। एक भगवान्की ही हम
सबसे अधिक आवश्यकता है, सबको छोड़कर इस प्रकार
भावना हो जाना ही वैराग्य है। मान नहीं चाहिये, प्रतिष्ठा न
चाहिये, पद-गौरव नहीं चाहिये, धन-सम्पत्ति नहीं चाहि
विद्या नहीं चाहिये, पुत्र नहीं चाहिये, स्त्री नहीं चाहिये, कुछ
नहीं चाहिये, मुझे चाहिये एक मेरा श्यामसुन्दर! मैं चाहत
केवल उसीसे प्रेम करना, उसीकी भक्ति करना और उसी
सबसे बड़ा समझना।

न धन न जन न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
(शिक्षाष्टकात्)

इसी भावका नाम है वैराग्य! इस वैराग्यके f
परमात्माको कोई नहीं पा सकता। इसके बिना किसीको
उनके चरणकमलोंकी मधुर गन्धका पता नहीं लग सर
कोई भी श्रीकृष्णका अनुपम सौन्दर्य नहीं देख सक

गोपरमणियोंने कुल, भय, लज्जा और मान छोड़कर उसे चाहा था दूसरे लोग जिन सब वस्तुओंकी कामना साग्रह किया करते हैं, उन्हीं सब वस्तुओंका गोपियोंने सर्वथा तिरस्कार कर दिया था। इस प्रकार सबको छोड़कर केवल श्रीकृष्णको चाहना ही तो परम वैराग्य है। इस चाहमें कामना नहीं है, इससे संसारका बन्धन नहीं होता।

न हि मय्यर्पितधिया कामः कामाय कल्पते।

मुझे अर्पण की हुई बुद्धिका काम काम नहीं है। वैष्णवोंके वैराग्यका मूल मन्त्र यही है।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता॥
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

इसीलिये वैष्णवगण अपनेको वैरागी कहा करते हैं। संन्यासी कहा करते हैं—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४५, ५२)

'जो अपनेमें भगवान्‌की भावना रखकर सब प्राणियोंमें अपनेको और अपने भगवत्स्वरूप आत्मामें सब प्राणियोंको देखता है वही उत्तम भागवत (भक्त) है। जिसके हृदयमें धन और देहके लिये अपने-परायेका भेदभाव न हो ऐसा सब

प्राणियोंको एक दृष्टिसे देखनेवाला शान्तपुरुष ही श्रेष्ठ भागवत (भक्त) है।'

परन्तु इतना सब जान-बूझकर भी, शास्त्रोंको पढ़कर भी तो लोग धन-जन-मान-प्रतिष्ठा और पुत्र-स्त्रीकी ही कामना करते हैं, इसका कारण क्या है ? कारण है अज्ञान। अहं-ज्ञान ही असली अज्ञान है। शरीरमें 'मैं' बुद्धि ही जीवका भयङ्कर भ्रम है। यह भ्रम ही उसका सर्वनाश करता है। इसीको कहते हैं 'भवरोग'। 'मैं' यदि न रहे तो इन सबकी चाह किसे हो और क्यों हो ? अतएव इस मिथ्या 'मैं' को भूल जाना ही वैराग्यका सर्वप्रधान लक्ष्य है। इस मिथ्या 'मैं' को भूला जा सकता है ? इसपर विचार करना है। यह भूला जा सकता है सदसत् वस्तुके विचारसे—'किमौषधं तस्य विचार एव।' भवरोगकी एक मात्र औषध है 'विचार'। विषय और विषयीका 'मैं' और 'मेरे' का तथा प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धका सम्यक ज्ञान हो जानेपर कोई बाधा नहीं होती। कहीं विषयेन्द्रियके संयोगसे मोह न आ जाय इसलिये विचारकी धूनी सदा जगाये रखनी चाहिये। भ्रान्तिसे छुटकारा पाकर मुक्त होनेका यही एकमात्र मार्ग है। घरमें जबतक दीपक जलता है तबतक कौन वस्तु कहाँ है इस बातका पता लगाना कठिन नहीं होता। इसी प्रकार विचारके दीपकसे कौन-सी वस्तु क्या है ? कहाँ है ? उसकी क्या आवश्यकता है ? और उससे क्या सम्बन्ध है ? इन बातोंका निर्णय करना सहज हो जाता है। वस्तुके गुण

और उसकी प्रयोजनीयताका जहाँतक निश्चय नहीं होता वहाँतक उस वस्तुसे हमारा क्या प्रयोजन है और क्या सम्बन्ध है, इस बातका निर्णय होना असम्भव है। क्योंकि अज्ञानसे ही अवस्तुमें वस्तुका भ्रम होता है और इसीसे सत्यके निर्णयमें बड़ी बाधा आती है।

एक बात और है। जिस वस्तु की हम आवश्यकता नहीं समझते, जिसको पानेके लिये हमारे मनमें कुछ भी आग्रह नहीं होता, वह वस्तु हमारे मनमें कभी स्थान नहीं पा सकती। हम सहजहीमें उसे भूल जाते हैं। परन्तु जिस वस्तुको हम आवश्यक समझते हैं उसके लिये हमारे मनमें सदा ही लोभ रहता है। हम उसे किसी तरह भी छोड़ना नहीं चाहते। वस्तुओंके प्रति जो इन्द्रियोंका इतना अनुराग है इसका कारण इन्द्रियोंका यह प्रयोजन-साधक सम्बन्ध ही है। इसीलिये हम स्त्री-पुत्र-परिवार-धन-कीर्ति आदिकी इतनी इच्छा करते हैं और इनके न मिलने या बिछुड़ जानेपर अपनेको परम अभागी मानते हैं। परन्तु अधिकांश समय तो हम अवस्तुको ही वस्तु मानकर उसपर आस्था कर लेते हैं। हीरा समझकर सामान्य काँचके टुकड़ेको बड़ी सम्हालके साथ पेटीमें रखकर फूले फिरते हैं। हमारे जीवनका वास्तवमें यही परम दुर्भाग्य है। यदि हम असली वस्तुकी या बड़े मूल्यवान पदार्थकी सम्हाल करें तो कोई दुःखकी बात नहीं परन्तु हमारी तो अवस्तुके प्रति अकारण आसक्ति हो रही है और सत्य वस्तुके प्रति उससे भी बढ़कर उदासीनता है। इसीने

तो हमें असलमें दीन और दुर्बल बना रक्खा है। हमारे इस मोह—इस भ्रमका प्रतिकार होना ही चाहिये। ऊपर कहा जा चुका है कि भ्रमकी दुर्गमता और अस्पष्टताको हटानेके लिये विचाररूपी दीपककी आवश्यकता है। हम आजकल जिन वस्तुओंके लिये अत्यन्त ललचा रहे हैं यदि उनका अवस्तु होना प्रमाणित हो जाय तो बुद्धि फिर उनकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी। परन्तु जहाँतक विचारद्वारा भ्रमका नाश नहीं हो जाता वहाँतक अवस्तुओंकी ओर ताकना कभी बन्द नहीं होता। जिन-सब वस्तुओंके लिये हमारा बड़े जोरका आग्रह है उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। हमलोग साधारणतः स्त्री, सन्तान, धन, कीर्ति और शरीरके स्वास्थ्य आदि वस्तुओंको ही प्रधानतासे चाहते हैं। अब विचार करके देखना है कि क्या वे पदार्थ वास्तवमें ही हमारे लिये लोभकी वस्तु हैं ? बाहरकी तरफसे देखनेपर तो इनसे बढ़कर प्राप्त करनेकी चीज जगत्में और कोई नहीं दीखती। परन्तु वैराग्यदृष्टिसे देखनेपर इनका दूसरा ही रूप दीख पड़ता है।

पहले शरीरपर [illegible]ार कीजिये। शरीर रक्त, मूत्र, पूय, कफ, मेद आदिसे भरा हुआ है। जरा-सा स्वास्थ्य बिगड़ते ही शरीरसे नाना प्रकारकी घृणित दुर्गन्धि निकलने लगती है। क्या यही शरीरका सौन्दर्य है ? मान भी लें कि शरीर सुन्दर है परन्तु वह सुन्दरता कबतक रहती है ? जरा (बुढ़ापे) का तीव्र कटाक्ष होते ही सारा मोहन रूप घड़ीभरमें जीर्ण और मलिन हो जाता है।

बाल पक जाते हैं, दाँत गिर पड़ते है, मांसपेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं, दीखना कम हो जाता है, कानोंसे सुनायी नहीं देता, हाथ-पैरोंकी शक्ति जाती रहती है। यह अवस्था मानो हमारे जवानीके रूप और बलके गर्वकी दिल्लगी उड़ाती है। इसके सिवा शरीरमें कितने ही दुःखजनक रोग रहते हैं। इसकी क्षणभंगुरताकी बातका विचार करनेपर तो इसके लिये अनावश्यक आग्रह बढ़नेकी सम्भावना बहुत ही कम रह जाती है।

घर अच्छा लगेगा इसीलिये लोग घर नहीं बनाया करते। घरमें लोग रहेंगे, इसलिये घरका प्रयोजन है। यदि हम मोहसे घरमें रहनेवालोंकी तो कुछ भी परवा न करें और केवल घरको ही सजाते रहें तो लोगोंका हमें पागल समझना क्या बिल्कुल अनुचित होगा? घरमें मनुष्य रहते हैं, इसलिये घर साफ-सुथरा रखना चाहिये, यह ठीक है परन्तु घरकी सम्हालमें घरमें रहनेवालेके प्रति अवहेलना की जाय तो वह कार्य बुद्धिमानीका नहीं होता। शरीरकी यही दशा है। हम शरीरको तो सजाते हैं पर शरीरके अन्दर रहनेवाले सत्पदार्थको भूल जाते हैं। इसके सिवा, हम शरीरके लिये कितनी ही चेष्टा करें, कितने ही आरामसे इसे रखनेका उपाय करें परन्तु यह सदा कभी नहीं रहेगा। नाश होगा ही, आज हो या सौ वर्षके बाद। इस बातका भी कोई निश्चय नहीं है कि यह जबतक रहेगा तबतक स्वस्थ ही रहेगा। शरीरसे प्रारब्धकर्मके भोग होते हैं, न मालूम कब कौन-सा प्रारब्ध भोगना पड़े? अतएव इसपर विश्वास करके अन्तमें दुःख

पानेसे क्या लाभ है? अभी एक आदमी सबल और स्वस्थ शरीरसे निःशंक घूम रहा है। कौन कह सकता है कि एक घड़ीके बाद ही उसे लकवा नहीं मार जायगा? या उसपर बिजली नहीं गिर पड़ेगी, अथवा वह गिरपड़कर या किसी घातकके आघातसे छिन्न-विच्छिन्न नहीं हो जायगा? आँखोंसे खूब दीखता है, कानोंसे अच्छा सुनता है, परन्तु कौन कह सकता है कि इन्द्रियों-की यह शक्तियाँ अकस्मात् लोप नहीं हो जायँगी? जो इतना अस्थिर है, इतना नाशवान् है उसके प्रति आस्था करना और इसीके लिये जीवनकी सारी शक्ति और चेष्टाका व्यय करना कभी बुद्धिमानीका कार्य नहीं कहा जा सकता।

इसपर हम शरीरके कई खयाल होते हैं और मनके द्वारा बढ़ाये हुए वे खयाल इस शरीरको कभी ठीक नहीं रहने देते इसे नाना प्रकारके रोगोंका घर बना देते हैं। इसलिये शरीरको ऐसा जानकर बुद्धिमान् और कल्याणकामी पुरुषोंको इसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।

दूसरा विषय है 'स्त्री'। स्त्रीके भोगोंमें आसक्त चित्तकी अत्यन्त दुर्गति हम नित्य देखते हैं। अवश्य ही जन्मजन्मान्तरके संस्कार और अभ्यासके कारण हम इसको तुच्छ कहकर एक बार ही भुला नहीं सकते। बड़े-बड़े पण्डित, विद्वान् और साधन-सम्पन्न पुरुष भी गिर जाते हैं। इसकी शक्ति बड़ी प्रबल है परन्तु चेष्टा करनेपर धर्मविरुद्ध भोगादिसे हम अपनी वृत्तियोंको रोक ही नहीं सकते ऐसी कोई बात नहीं है। शरीरकी बात पहले

कही जा चुकी है परन्तु इस शरीरकी भोगेच्छा तो उससे भी अधिक वीभत्स और दुःखोंसे भरी हुई है। जो इसमें अत्यन्त आसक्त होते हैं उनका कालादिके द्वारा जीर्ण शरीर और भी जीर्ण हो जाता है और वह अनेक रोगोंके खेलनेका मैदान बन जाता है। सौन्दर्य, यौवन और भोगकी शक्ति सभी क्रम-क्रमसे चले जाते हैं। रह जाती है केवल भोगकी आसक्ति, जो बुढ़ापेमें भी मनमें सुख-शान्ति नहीं आने देती। जो इतने अनर्थकी जड़ है उसके प्रति अनास्था करना क्या बुद्धिमानी नहीं है? भोग्य वस्तुको भोगकर वास्तवमें हम ही भोगे जाते हैं और जीर्ण होते हैं। शरीरका भोग तो सामान्य-सा होता है। शरीरके कन्धेपर चढ़कर मन अलबत्ता कुछ भोग करता है परन्तु शरीरकी बड़ी भारी हानि होती है। उपभोगमात्र केवल मनका ही वेग है। यह वेग पहाड़ी नदीके प्रवाहके समान अकस्मात् बड़े जोरसे आता है। बस, मन इसके वेगमें बह न जाय, मनके लिये इतनी-सी शिक्षाका, हो जाना ही मनुष्यत्वलाभका उपाय है।

जरा धीरता और स्थिरताके साथ वेग सह लेनेमें कोई कष्ट नहीं है। परन्तु इसका वेग नहीं सह सकनेपर कितना अनावश्यक अनर्थ हो जाता है, उसकी कल्पना से ही हृदय काँप उठता है। इसकी परिणाम-विरसता और क्षणभंगुरताके खयालसे भी इसका लोभ किसीको नहीं करना चाहिये। कितना-सा सुख है? कितनेसे समयके लिये तृप्ति है? हिसाब लगानेपर हानि और दुःख ही अधिक रहते हैं। इन सब बातों पर विचारकर

स्त्री-भोगसे विरत होना बुद्धिमानी है। कामासक्तका शरीर और मन सभी कुछ बलहीन हो जाता है। अध्यात्मद्वारपर तो ताला ही लग जाता है। भगवानके अस्तित्व और अपनी शक्तिको वह जान नहीं सकता। जितनी हानि इससे होती है उतनी हमारे किसी महान् शत्रुसे भी नहीं हो सकती!

तीसरा विषय है सन्तान। अवश्य ही सन्तानकी आवश्यकता है और सन्तानके प्रति ममता भी रखनी चाहिये। परन्तु जो ममता मोह उत्पन्न करती है, सदसद्विचारबुद्धिको ध्वंस करती है, वैसी आसक्ति या ममता नहीं होनी चाहिये।

यथासाध्य और यथाकर्तव्य सन्तानकी देखभाल रखनी चाहिये। परन्तु उससे कोई आशा नहीं रखनी चाहिये। 'सन्तान ऐसी ही बनावेंगे' ऐसा दृढतासे नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तानको चरित्रवान् बनानेकी चेष्टा करना माता-पिताका कर्तव्य और धर्म है। और इसके लिये तैयारी भी पहलेसे ही करनी चाहिये। सन्तानको हम जैसी बनाना चाहते हैं उसके जन्मके पूर्व ही हमें उसकी चेष्टा करनी चाहिये। सन्तानमें हम जिन गुणोंका विकास देखना चाहते हैं, वे गुण अभ्यास और चेष्टासे हमारेमे पहले ही आ जाने चाहिये। नहीं तो हम उन्हें देंगे क्या? वे पावेंगे कहाँसे? माता-पिताकी प्रवृत्ति और चरित्र निर्मल या पवित्र नहीं होंगे तो अच्छी सन्तान-का होना असम्भव है। सेवक जैसे मालिककी आज्ञा माननेको तैयार रहता है उसी प्रकार हमें सन्तानका पालन भी भगवानका

आदेश मानकर करना चाहिये। इसमें अपना आराम नहीं ढूँढ़ना चाहिये और न विरक्ति ही दिखलानी चाहिये। नौकर मालिकके धन-रत्नकी सँभाल और रक्षा करनेके लिये बाध्य है परन्तु वह फलका अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार हम भी सन्तानका पालन करनेके लिये बाध्य हैं! परन्तु सन्तानकी उन्नति-अवनति या जन्म-मृत्युमें हमें विचलित नहीं होना चाहिये। जो जानेकी वस्तु है उसे जाने देना ही होगा। अवश्य ही ऐसे समय मोह होता है परन्तु उस मोहमें कहीं परलोक न बिगड़ जाय और इसलिये भी सन्तानपर अधिक आसक्त नहीं होना चाहिये। प्रथम तो इनके विच्छेदका दुःख अनिवार्य है और दूसरे सन्तानका चरित्रहीन होना भी कोई बड़ी बात नहीं है।

धन और कीर्ति भी नदीके स्रोतकी तरह चञ्चल है। आज जिसको अतुल भोगसम्पत्तिमें बढ़ते हुए देखा जाता है कल उसीकी ऐसी दुर्दशा होती है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अवस्थाके परिवर्तनसे स्वर्गसे नरकमें पड़नेकी तरह मनुष्यको कितना नीचा बनना पड़ता है इस बातको प्रत्यक्ष देखनेपर भी सहसा विश्वास नहीं होता। आज हमारा बहुत ही सम्मान हो रहा है, हमारे ऐश्वर्यसे लोगोंकी आँखें झेंप जाती हैं। वही हम कुछ दिनों बाद राहके भिखारी होकर भीख माँगते फिरते हैं। एक मुट्ठी अन्न भी कठिनतासे मिलता है। हमारी पहलेकी सम्पत्तिकी बात किसीसे कहनेपर वह पागल समझकर हँसता है—

और जाननेवाले लोग हमें अभागा और श्रीहीन कहकर गालियाँ देते हैं। एक दिन जो धनके लोभसे हमारा सम्मान करते थे वही आज उससे भी अधिक अपमान करते हैं। यही तो है धनकी मर्यादा!

जो नित्य नहीं है, जो सनातन नहीं है, जो वास्तवमें स्वप्नमें मिली हुई वस्तुके समान ही मिथ्या है उसके लिये इतनी दौड़-धूप करनेसे क्या लाभ होगा? हमारा कोई एक प्रारब्ध है ही उसके कारण जो मिलना होता है सो मिलता है, जो भोग करनेको होता है उसका भोग होता है। परन्तु लोभीकी तरह इन सब वस्तुओंकी ओर चाहना तो नहीं करनी चाहिये। समझ तो लिया कि इनमें कोई नित्य नहीं है किसीसे भी हमें प्रकृत शान्ति नहीं मिल सकती, फिर इनके पीछे-पीछे मनको दौड़ाकर उसे थकाना कभी उचित नहीं है। जो कुछ होना हो सो हो। हमारा तो एकमात्र कर्तव्य यही है कि मनको निश्चल भावसे परमात्माके चरण-कमलोंमें निवेदन कर दिया जाय। अपनेमें अपनी प्रतिष्ठा की जाय और अहंकार छोड़कर श्रीभगवानका श्रीमन्दिर समझकर समस्त जीवोंकी श्रद्धाके साथ यथासाध्य सेवा की जाय।

यह तो समझमें आ ही गया कि हमें और कुछ भी प्राप्त नहीं करना है जिसके लिये वृथा मनको कष्ट दिया जाय! हमारी वाञ्छित वस्तु और हमारा लोभनीय धन केवल भगवान् हैं। उन्हें पानेके लिये, उन्हें समझनेके लिये और उनमें प्रीति करनेके लिये अवश्य ही चेष्टा करनी पड़ेगी। अब दूसरी चिन्ता क्यों

करनी चाहिये ? व्यर्थके संकल्प-विकल्पोंसे मनको सताना और दुःखी करना उचित नहीं। भगवान्‌को छोड़कर और जो कुछ सोचना है सो सभी अनर्थ है, सभी विनाशकी ओर ले जानेवाला है; अमृतका अधिकारी करानेवाला कदापि नहीं। इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥
(मुण्डक० २।२।५)

'जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और मन-प्राण सभी समर्पित हो गये हैं उस एक आत्माको ही तुम जानो, और वाक्योंको छोड़ दो, आत्मा ही अमृतकी प्राप्तिका सेतु है।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥
(मुण्डक० २।२।७)

'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा पृथ्वीमें विराज रही है, वही यह आत्मा उज्ज्वल ब्रह्मपुरके आकाशमें

प्रतिष्ठित है। वही मन, प्राण और शरीरका नेता एवं देहमें प्रतिष्ठित है। आनन्द और अमृतरूप है। धीर पुरुष दिव्यज्ञानसे उसे हृदयमें देख पाते हैं।'

इस 'महतो महीयान्' आत्माके प्रति प्रेम हो जानेपर फिर किसी भी अवस्तुमें प्रेम नहीं रह सकता। विषयोंकी चाहना वा चिन्ता मनमें रहती ही नहीं अतएव मन जिस तरहसे विचारवान् बने वही प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकारका विचार-व्यवस्थित चित्त ही साधनके लिये उपयोगी होता है। ऐसे मनमें स्वाभाविक ही अन्य वस्तुपर आसक्ति नहीं रहती और अन्य वस्तुपर आसक्ति नहीं रहनेसे साधनके समय मन व्याकुलता और विक्षेपसे शून्य रहता है। इस अवस्थामें चित्तके स्थिर होनेमें देर नहीं होती। इस प्रकार विचारसे उत्पन्न हुए वैराग्यके द्वारा चित्त जबतक भर नहीं जाता तबतक साधनसे विशेष लाभ नहीं होता। जितना परिश्रम किया जाता है, चित्त वैराग्ययुक्त न होनेसे उसका अधिकांश व्यर्थ ही चला जाता है।

विचार एक बार करनेसे ही काम नहीं चलेगा। पुनः पुनः विचार करना चाहिये। विचारका शस्त्र लेकर प्रतिदिन मनके साथ लड़ना होगा। साथ-साथ साधन भी चलाना होगा। यों करते-करते धीरे-धीरे चित्त वशमें होगा। जब विषय स्पष्टरूपसे हेय प्रतीत होने लगेंगे तब चित्त उन विषयोंसे आपही हट जायगा और उसकी समस्त शक्ति तथा समस्त ममता जाकर

आकर मिल जाती है और उसीके फलस्वरूप हृदयग्रन्थि खुल जाती है। जो मन नाना स्थानों और नाना विषयोंमें फैला हुआ था, वही जब एकनिष्ठ और एकाग्र हो जाता है तब उसकी असीम शक्तिका विकाश होता है। समस्त शक्ति केन्द्राभिमुखी हो जानेसे उसका बल अत्यन्त बढ़ जाता है। बस, इसी बलवान और विषय-शक्ति शून्य निर्म्मल मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रकाशित होता है। इसके बाद आत्मानुभूति और आत्मरतिका प्रवाह बहने लगता है। तीनों तापोंकी ज्वाला शान्त हो जाती है, और जीवनमुक्तिके परमानन्दसे साधक धन्य हो जाता है।
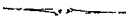
उद्‌बोधन

अरुचि

ब्रह्मविद्या और पाण्डित्य

अभिनय

बेसुरा

तुम कौन हो ?

अदृश्य

अलक्ष्य

उत्तिष्ठत जाग्रत

और क्या नहीं आवोगी ?

निर्भावना

पत्रोत्तर

तीव्र आकांक्षा

उद्बोधन

अरुचि

रोग हो जाने पर किसी-किसीको बड़ी अरुचि हो जाती है। और बहुत दिन रोग भोगनेके बाद मन भी चिड़चिड़ा हो जाता है! खाना, पहनना, देखना, सुनना, स्वजन, मित्र, बाल-बच्चे, ये सभी जैसे विरस लगते हैं। इस प्रकार जब कोई भी वस्तु हमें स्वादिष्ट नहीं लगती तभी समझना चाहिये कि घोर अरुचिकी अवस्था है। यही अवस्था यदि बहुत दिनतक स्थायी रूपसे रहे तो रोगीके लिये प्राण-संकट भी उपस्थित हो जाता है! हम लोगोंके लिये भी इसी तरहका प्राण-संकट उपस्थित हो गया

है। न जाने कबसे, कितने युग-युगान्तरसे इस भव-रोगको भोगते-भोगते हम जीर्ण हो रहे हैं, और कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती। जिस प्रकार लोगोंको अमृतसे भी अरुचि हो जाती है, हम लोगोंकी भी यही दशा है। इसीलिये अमृत-स्वरूप, हमारे प्रियतम प्राण-सखा परमात्मा भी अब हमको अच्छे नहीं लगते। कहाँ, उनके स्वादका बोध हमको कहाँ होता है? पुराना रोगी जिस तरह कुपथ्य करके रोगको और भी बढ़ा लेता है, हमने भी उसी तरह, पहले मधुर बादमें विस्वाद लगनेवाले कितने ही प्रकारके विषय-भोग रूप कुपथ्योंके द्वारा इस रोगको बढा लिया है। अब तो लालसाके इस वेगको हम रोक भी नहीं सकते और यह मानों हमको प्रबल वेगसे मृत्युकी ओर खींचे लिये जा रहा है। पुराने रोगियोंमें कोई कोई बहुत दिन तक भोगनेके बाद भी फिर चंगा हो जाता है। रोगी जब एक बार अच्छा होने लगता है, तब फिरसे उसकी इन्द्रियाँ सबल और सतेज हो उठती हैं, हृदयकी सरसता लौट आती है और अरुचि धीरे-धीरे बिलकुल दूर हो जाती है। उसका शरीर और मन मानो एक नवीन कान्ति धारण करता है और उसको देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि वह अच्छा हो रहा है। किन्तु यह कैसा अदृष्टका परिहास है! यह कौन सा रोग मुझे हो गया है नाथ! यह रोग अब किसी तरह भी दूर होना नहीं चाहता। कितने दिन हो गये, तुम्हें अपना प्रिय कहाँ समझ सका? तब क्या रोग अब ठीक नहीं होगा? प्रभु, तुम समस्त रसोंके निलय हो, समस्त

आनन्दोके निकेतन हो इस भावसे तो मैं तुमको चाह नहीं सका। तुम सभी रसोंके निलय हो, सभी आनन्दोके निकेतन हो तब भी मैं तुम्हारे स्वादका बोध नहीं कर सका—ऐसा ही मेरा दुर्भाग्य है! प्रभु! जगत्में कितने ही प्रकारोंके रोग हैं, उन सबकी औपधियोंकी भी सृष्टि तुमने की है, और तुम्हारे प्रति प्रेम न होना यह जो एक कठिन रोग है। उसीकी औपधिकी कोई व्यवस्था तुमने नहीं की? क्या यह सम्भव है? जिसकी करुणा दृष्टिसे भीपण हिंस्र जन्तुओंका चित्त भी दयासे भर उठता है, जिसकी करुणाके स्पर्शसे माताका रक्त अमृतकी धारा बन जाता है, जिसकी अपार करुणासे शुष्क वृक्ष भी मञ्जुरित हो उठते हैं, दैत्यकुलमें प्रह्लादका आविर्भाव सम्भव हो जाता है उसकी उस असीम करुणाका विन्दु मात्र भी क्या इस दीनको प्राप्त नहीं होगा? तब क्या मेरी यह अरुचि कभी दूर न होगी? तब तुम्हीं बतादो कि इस भीपण अरुचिका पथ्य क्या है? इस भवरोगकी औपधि क्या है?

ब्रह्मविद्या और पाण्डित्य

तुम लोगों का यह पाण्डित्य तो पाण्डित्य ही नहीं है। इसकी एक भी कड़ी न होगी तो कोई विशेष हानि हो जायगी सो बात नहीं है। *वास्तविक पाण्डित्य उन्हीं लोगोंका है जो ब्रह्मविद्याको जानते हैं।* ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति केवल पुस्तकें पढ़नेसे नहीं होती। इसका मतलब यह नहीं है कि बिना पढ़े लिखे मूर्ख बने रहनेसे ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होगी, अथवा यह कि देशका प्रत्येक अशिक्षित मूर्ख रामकृष्ण परमहंस हो जायगा, इस प्रकारकी धारणा भी मनमें नहीं लानी चाहिये।

किन्तु ब्रह्मविद्या ही वास्तविक विद्या है। इसके अतिरिक्त ये सब लौकिक विद्यायें भी विद्या हैं अवश्य, परन्तु ये सब ब्रह्म-

विद्यारूप उपादेय फलके शरीरमें ऊपरके छिलकेके समान ही हैं। उसमें रस भी नहीं होता, न वह खानेमें अच्छा ही लगता है। जिस तरह बेल पकनेपर कौआ उसकी भीतरकी वस्तुका स्वाद नहीं पाता, बीच-बीचमें केवल टक्कर मारता रहता है किन्तु इससे उसकी चोंचमें चोट लगनेसे पीड़ा ही होती है, इसी तरह मनुष्योंमें जो लोग काक-जातीय हैं वे लोभमें पड़कर टक्कर मारते हैं किन्तु ऊपरके छिलकेपर ही, भीतरकी असली चीजका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता। टक्कर मारते-मारते बस, उनका जी ऊब जाता है। इसीसे कहता हूँ, यदि वास्तविक ब्रह्मवित् पण्डित होना चाहते हो तो ऊपर ही ऊपर टक्कर मारनेसे काम नहीं चलेगा। ऊपरका छिलका तोड़कर भीतरका गूदा खाना पड़ेगा। बेलका छिलका चाहे दिन-रात चूसते रहो, एक बूँद भी रस नहीं मिलेगा, किन्तु समूचा बेल यदि किसीके सिरमें दे मारो तो उसका सिर फूट जानेकी ही सम्भावना है। हमारे लौकिक पाण्डित्यकी दशा भी इसी तरहकी है। दिन-रात घोटते रहनेपर भी एक बूँद रस मिलेगा इसमें सन्देह है, किन्तु कूट तर्कका छिलका मारकर लोगोंको काफी चोट पहुँचाई जा सकती है—इसकी दौड़ यहीं तक है! किन्तु ब्रह्मविद्या इस प्रकारकी नहीं है। यदि किसी उपायसे भीतर प्रवेशकर सको तो रसकी अजस्र धारा मिलेगी, अविराम तृप्ति मिलेगी! इस रसका स्वाद पा जानेपर सब झगड़ा ही मिट गया, सारा गोलमाल ही समाप्त हो गया। आनन्दमें जिस तरह सब भेद मिट जाता है, समस्त वैषम्य

दूर हो जाता है उस तरह और किसीमें नहीं होता। और तब लोगोंका परस्पर मिलन सहज, स्वाभाविक और सुन्दर हो जाता है। आनन्दके दिन सब कुछ लुटा देनेकी इच्छा होती है। शत्रु, मित्र, अपने परायेका भेद रखनेकी इच्छा नहीं होती। यह मेरा है, वह तेरा है इस प्रकारकी कोई सीमारेखा बनानेका प्रयोजन नहीं होता। उस समय सब कुछ जैसे हलका हो जाता है—सारा बोझ ही जैसे उतर जाता है। यही आनन्दका ठीक-ठीक लक्षण है। इस आनन्दको जानकर ही विद्वान् 'न बिभेति कदाचन'। सुख, दुःख, अपना, पराया, शीत, ग्रीष्म, जन्म, मृत्यु सभी द्वन्द्व—सभी भेद जब मिट गया तब बोझ तो रहा नहीं, अतएव हृदय किसी वस्तु या वासनाके घेरेके भीतर बन्द होकर नहीं रहता। उस समय जो कुछ है सब खुला हुआ है; उसका हृदय खुला हुआ है, मन खुला हुआ है, उसके सन्दूक, पिटारे सभी खुले हुये हैं। उसके लिये सभी अपने हैं, तब वह किससे छिपाये ? यह हुई ठीक भेद-रहित अवस्था, इस अवस्थाका नाम ही पाण्डित्य है और यह :भाव जिसके अन्दर जितना ही अधिक है वह उतना ही बड़ा पण्डित है। ऐसा न होनेपर यदि कोई पाण्डित्यपूर्ण बात भी कहता है और साथ ही अन्य लोगोंकी ही तरह रुपयेकी थैलीको निर्धन लोगोंके अभावकी उपेक्षा करके सन्दूकके तालेमें बन्द भी रखता है, तो यह निश्चय ही ब्रह्मज्ञानका लक्षण नहीं है। *पण्डित होनेसे ही समदर्शी होना पड़ेगा। तुम्हारी गीतामें*

भी कहा है—"पण्डिता समदर्शिन."। जो ज्ञानाग्निदग्धकर्मा है अर्थात् ज्ञानकी अग्निसे जिसका कर्म दग्ध हो चुका है, ज्ञानी लोग उसे ही पण्डित कहते हैं। इसी ज्ञानको प्राप्त करना होगा और इसी ज्ञानकी आगमें कर्म आदिको जलाकर राख करके फेंकना पड़ेगा। बादमें इसी भस्मको रमा लेनेपर तब तुम त्यागी और संन्यासी हुये। नहीं तो भैया, सभी धोखा है, सभी धोखेबाज हैं, केवल धूल मिट्टी पोतते रहते हैं।
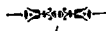
अभिनय

कोई-कोई लोग ऐसे अरसिक होते हैं कि रंगमञ्च पर अभिनय करने जाते हैं उस समय भी अपनेको किसी प्रकार भूल नहीं पाते हैं। उनका 'अहम्' बोध इतना प्रबल होता है कि अभिनयके क्षेत्रमें भी उसको दबाकर रखना असम्भव हो जाता है। इसीलिये वह समय-समय पर अभिनयके क्षेत्रमें असंयम दिखलाकर रसभङ्ग कर बैठता है। अरे भाई, तुम जो कुछ हो सो तो मालूम ही है, इतना जतलानेसे क्या लाभ है? कोई राम बनकर आया है तो उसे दिखाने दो रामका अभिनय, दूसरा हनुमान् बनकर आया है तो तीसरा कोई राक्षस बनकर आया है, अच्छा तो उन्हें दिखाने दो अपना-अपना

अभिनय। किन्तु यह भी नहीं होता, "मैं राक्षस नहीं बनूँगा, मैं हनुमान् बनूँगा"—"मैं हनुमान् क्यों बनूँ, मैं तो राम बनूँगा,"—बस यही लेकर झगड़ा शुरू हो जाता है। ये सभी मूर्खोंकी बातें हैं। अरे मूर्खो! तुम जो हो वही हो, रामका वेश बना लेनेसे हो क्या राम हो जाओगे, या राक्षस होगये? विश्वके रंगमंच पर भी इस तरह अनेक मूर्ख अरसिकता दिखलाकर जीवन-नाट्यशालाके अभिनयको खराब कर बैठते हैं। अच्छा तो है, चाहे मैं दीन भिखारी ही होऊँ या राजमुकुट पहनकर आऊँ, साधु होऊँ या फकीर ही होऊँ, गृहस्थ होऊँ या उदासीन होऊँ, विद्वान् होऊँ या मूर्ख होऊँ, स्त्री होऊँ या पुरुष होऊँ,—सभी तो बनावट ही है, नाटकका अभिनय करनेके सिवाय यह सब और क्या है? थियेटरमें, स्वाँगमें पुरुष स्त्री बनता है, स्त्री पुरुष बनती हैं। कोई राजा बनता है कोई रानी, कोई दास बनता है, कोई दासी, कोई मन्त्री बनता है, कोई दूत, कोई और कुछ। किन्तु मनही मन सब जानते हैं कि वे जो कुछ भी बनें परन्तु वे जो हैं सो ही हैं, यह सब साज-सज्जा केवल अधिकारी या अध्यक्षके किसी मतलबसे है। अतएव न राजा होनेमें सुख है न भिखारी बननेमें दुःख!

इस संसार रूपी रङ्गमञ्च पर भी हमलोग नानाप्रकारके वेश धारण कर अभिनय करते फिरते हैं और उस महान् कलाकारके अभिप्रायको पूरा कर उठा रहे हैं। यह ज्ञात रहनेसे ही फिर अलग-अलग वेशमें आनेके लिये दुःख या क्षोभ नहीं

होगा। तब सभी वेश सुन्दर और स्वाभाविक हमारे मनको लगेगा। किन्तु न समझ सकने पर सब कुछ मिट्टी बराबर है! यह ठीक है कि समझ लेना सरल नहीं है। "न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा"—इस वाक्यका तात्पर्य पहले ही समझना पड़ेगा। इसको समझ लेने पर हम सहजमें ही उपलब्धि (अनुभव) कर सकेंगे कि—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"—तभी हम "सर्वभावेन" उसके शरणागत होनेके लिये प्रस्तुत हो सकेंगे। इस प्रकार नटराजकी विश्वरूपी नाट्यशालाके रङ्गाभिनयको पूर्ण कर सकेंगे। यही जीवनकी सबसे बड़ी सार्थकता है। इतना ही समझ लेने पर "रास-लीला" समझनेका अधिकार उत्पन्न होगा।

हाय! वह अधिकार हमें कब मिलेगा? हे नाथ, कब मैं अपनेको तुम्हारा यन्त्र मानकर समझ सकूँगा? मेरे 'अहम्' का अहंकार अभिमान कब मिटेगा? कब मैं नामहीन-ख्यातिहीन होकर बड़े से बड़े अगौरवको वरण कर ले सकूँगा। कब मैं तुम्हारा स्मरण करके अपने आपको भूलकर जगत्के किसी छोटे से कोनेमें चुपचाप बैठकर गाता रहूँगा—

"ओ हे त्रिभुवनपति बूझिना तोमार मति,
किछू तो अभाव तव नाहि।
हृदये हृदये तबू भिक्षा माँगि फिर प्रभु,
सबार सर्वस्व धन चाहि!

आमोर राजार साजे बसाये संसार माझे,
के तुमि आड़ाले कर वास।
हे राजा ! रेखेछी आनि तोमारइ पादुकाखानि,
आमि थाकि पादपीठतले।
सन्ध्या हये एलो ओई आर कत बसे रइ,
तब राज्ये तुमि एस चले"

बेसुरा
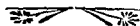
इस जगत्में सबके साथ मेरा इतना कलह, इतना वाद-विवाद क्यों है जानते हो? किसीके भी साथ मेरा मन मिलता नहीं। मैंने अपने मनको न जाने किस तरहका बना लिया है कि वह किसी भी तरह किसी बातमें नहीं लग पाता—सदा ही अन्यमनस्क रहता है। इसीलिये वह इस ससारमें केवल दुःखका ही गाना गाता फिरता है, उसे आनन्दके संगीतकी सुधि ही नहीं रहती। यह जो अत्यन्त मधुर लगनेवाली श्यामल भूमि, ऐसी सुन्दर यह वनभूमि, वह जो नीला आकाश और उसके वक्षस्थल पर सदा हँसता हुआ चन्द्रमा, कलकल स्वरमें प्रवाहित होनेवाली यह निर्भरिणी, इन सब नर-नारियोंके सुन्दर मुखड़े, पशु, पक्षी,

कीट-पतङ्ग आदिके नृत्य और काकली, और संसार भरके कितने ही आनन्द-संगीत—किन्तु किसी तरह मैं किसीके भी स्वरमें में स्वर नहीं मिला पाता। मानो सभी तार बेसुरे बज रहे हैं, सभी जैसे वेमेलसे लगते हैं। शायद कुछ भी बेमेल नहीं है, रसहीन भी नहीं है। इस जगतकी सभी वस्तुयें, प्रत्येक स्त्री-पुरुष, कीट-पतंग—और तो और, यह श्यामल लता वृक्ष भी—ये धूलके कण भी रससे परिपूर्ण हैं। सभी सुन्दर हैं, सभी अपूर्व रूपवाले हैं। किन्तु यह समझने अथवा उपलब्धि (अनुभव) करनेके लिये मनकी एक अनुकूल अवस्थाकी आवश्यकता है, उसके न होनेसे सभी मिट्टी है।

किसने मेरे मनको बिगाड़ दिया है? सितार तो अवश्य ही मधुर बजता है, किन्तु बजाना भी तो आता हो। मैं बजाना नहीं जानता, इसीलिये मेरा सितार राग-रागिनीका आलाप नहीं करता। पग पग पर उसकी खूँटियाँ ऐंठनेसे मैं उसके तारोंको केवल तोड़ ही देता हूँ।

तुम कौन हो ?

सभी सो गये हैं, सब कुछ निस्तब्ध है, जगत् सुप्त है, मौन है। ऐसे समय जागते हुये तुम कौन हो जी ? जल्दी-जल्दी अपना काम समाप्त कर रहे हो—तुम कौन हो ? बादमें सूर्य निकल आयेगा इसीलिये पहले ही आकर कलियोंको खिलाये दे रहे हो। प्रातःकाल होनेपर मधुमक्खियाँ आकर लौट न जायँ इसीलिये जल्दी-जल्दी फूलोंके कोयोंमें उनके लिये मधु भरकर रख रहे हो ? आम्रवृक्षोंके प्रत्येक मुकुलमें रस और गन्ध भरे दे रहे हो इसीलिये न कि उषाकालमें कोयल आकर उसका स्वाद पा सके ? माँ जिस प्रकार बालकको सुलाकर घर-गृहस्थीका काम समाप्त कर लेती है उसी प्रकार तुम कौन हो जो इस जगत् रूपी शिशुको

अन्धकारके अञ्चलमें ढॉककर, उसकी चेतनाको लुप्तकर जल्दी-जल्दी सारे काम समाप्त किये ले रहे हो ? जहाँपर जो चीज कम हो गई है वहाँ उसे पूरा करके सभी कुछ सरस, सभी कुछ नवीन करके रख रहे हो।

हाय ! हाय ! इसीलिये इस जगत्में कोई भी चीज पुरानी नहीं होती। तुम्हारी सृष्टिमें सभी जगह ऐसी धारा तुमने चलाई है *कि कोई भी चीज पुरानी नहीं होगी !* *माँ का स्नेह कितने* दिनसे हम पा रहे हैं तब भी वह आजतक पुराना नहीं हुआ, कितने दिनसे हम अपने पुत्र और कन्याओंको प्यार करते आ रहे हैं, तब भी उसका आनन्द अभी तक कम न हुआ। प्रतिदिन ही ऐसा लगता है कि पति-पत्नीका समस्त प्रेम-अभिनय आज निःशेष हो गया, किन्तु रोज सवेरे उठकर देखते हैं फिर एक नवीन आकर्षणके साथ, एक अभिन्न माधुर्यके साथ दोनों एक दूसरेको मुग्धकर रहे हैं।

हाँ जी, कैसे तुम इस तरह सजा लेते हो ? फूलोंकी गन्धको कितने युग हो गये तब भी तो वह पुरानी नहीं पड़ी ! 'अच्छा नहीं लगता' यह बात तो हृदयने किसी दिन कही नहीं ? श्यामल तृण-गुच्छ, नवीन किसलय, अगणित तारकामण्डित नील आकाश-मण्डल, बालारुणकी किरणें, चन्द्रमाकी निर्मल ज्योत्स्ना, अमावस्याका घोर अन्धकार, तरुवीथियोंमें बहनेवाले समीरकी मृदु हिल्लोल, जीवनके सुख दुःख, सभी रोज आते हैं फिर भी कोई भी पुराने नहीं हो जाते ! प्रभात होनेसे पहले ही कौन

उनको सजा बजाकर, सौन्दर्यमें लपेटकर, नवीन करके फिर भेज देता है ? वे सब ठीक पहले दिनकी तरह दर्शकोंका हृदय हरते हैं, भावुकोंके हृदयमें कितने ही भाव जगाते हैं ! जिसकी ऐसी परिपाटी है, जिसकी ऐसी व्यवस्था है, उसका आवरणहीन रूप एक बार देखनेकी इच्छा होती है। इसीसे फिर पूछता हूँ—"तुम कौन हो ?"

कौन छिपे हो ? (अदृश्य)

तुम कौन हो जो मुझसे आड़में छिपे रहते हो ? यह सही कि तुम दीखते नहीं हो परन्तु हृदयमें तुम्हारा अनुभव तो खूब होता है। काया नहीं दीखती पर छायाको तो तुम नहीं छिपा सकते। ओ चतुर ! कौन हो तुम, क्यों मेरे साथ इस तरह खेल करते हो ? नील गगनमें अगणित नक्षत्र झलमला रहे हैं, बादलका जरा-सा टुकड़ा बीच-बीचमें चन्द्रमाके निर्मल प्रकाशको म्लान कर डालता है। चन्द्रोज्ज्वला यामिनी जो अभी-अभी सुन्दरी युवतीके हास्यसरस मुखकी भाँति शोभित हो रही थी, अकस्मात अतर्कित क्षीण मेघमालाके उत्पन्न हो जानेसे उसकी वह हास्य-ज्योति एक अपूर्व गम्भीरताके रूपमें परिवर्तित हो गयी। इसी

प्रकार तुम्हारा हँसीसे खिलता हुआ मुखकमल भी पल-पलमें अपूर्व गम्भीरतासे भर जाता है। कभी देखता हूँ, बादलोंमें चन्द्रमा अपनेको छिपा लेता है, फिर जरा-सी देरमें ही न मालूम क्यों पुनः हँसता हुआ बाहर निकल आता है। मानो बादलोंके साथ वह आँखमिचौनी खेल रहा है। तुम भी कभी जीवके हृदयाकाशमें चन्द्ररेखा-सदृश अपूर्व ज्योतिरूपमें प्रकट होते हो, फिर कभी अमावस्याके घोर अन्धकारसे हृदयदेशको ढककर उसमें छिप जाते हो, और फिर चन्द्रमाकी भाँति पुन: धीरे-धीरे प्रकट हो जाते हो।

अरुणोदयके साथ-साथ जब पूर्वाकाश सिन्दूर-रंगसे रंगकर लाल हो जाता है, तब समुद्रकी सुनील जलराशिको लहराती हुई तरंगोंसे कैसी एक अपूर्व छवि प्रकट होती है --मानो हिलोरें खाते हुए समुद्रकी तरंगोंके आघातसे एक अभिनव शिशु समुद्रके वक्षस्थलपर नाच उठता है। उस समय जान पड़ता है मानो कोई उस छविसे खेल रहा है। इसके थोड़ी ही देर पहले देखा था कि नव प्रभातके आगमनकी सूचना देनेके लिये चञ्चला बालिका उषा नाचती और हँसती हुई किसी अन्धकारके अदृश्य गृहसे बाहर निकल रही थी। उसकी उस हँसीसे कितने चम्पा-चमेली, मल्लिका-मालती, हरसिंगार खिल उठे। मौलश्रीके पुष्प तो आनन्दकी अधिकतासे डगमगाते हुए किसीको देखकर बाहर निकलनेके लिये झर पड़े। मृदुगन्धवह उनके देहसे सुगन्ध ग्रहण कर बालिका उषाके वस्त्रोंपर मलकर चला गया। दिगंगनाएँ

कुसुम-सुवासको प्राप्तकर हँस उठीं। कोकिलाएँ किसीकी आहट पाकर पञ्चम स्वरसे कुञ्जवनमें गान करने लगीं। सारी प्रकृतिमें एक आनन्द-स्रोत बह उठा। यह आनन्द किसका है? इतना प्रकाश किसका है? किसे देखकर सब इतने आनन्दमें भर गये? मनचाहे खिलाड़ीको पाकर शिशु जिस प्रकार आनन्दसे मत्त हो जाता है, उसी प्रकार आज यह कौन सुकुमार नयनानन्द अखिल-जनमनोहर शिशु प्रकट हो गया, जिसको पाकर फल-फूल, तरु-लता, आकाश और दिशाएँ सब हँस उठीं—समस्त जनसमुदायकी चेतना जग उठी? इस बार पकड़े गये। अब यों छिप-छिपकर खेल-तमाशा नहीं कर सकोगे!!

अच्छा, तुम्हारा यह कैसा आनन्द है? पर्देकी ओटसे तुम्हारा यह कैसा कौतुक है? हमको कभी राजा बना देते हो और कभी भिखारीके कपड़े पहना देते हो। यह तुम्हारा कैसा आमोद-प्रमोद है? मैं इतना क्षुद्र हूँ, तो भी मेरे साथ खेलनेमें, तमाशा करनेमें, क्या तुम्हारी मानमर्यादामें कोई कमी नहीं आती? तब क्या तुम प्रौढ़ नहीं हो? विज्ञ नहीं हो? एक छोटे-से बच्चेके समान खेलते हो? और क्या? मैं कितने दिनोंसे देख रहा हूँ, इतना समय बीत गया तथापि तुम्हारा लड़कपन तो गया नहीं! मैं देखते-देखते बड़ा हुआ, बूढ़ा हुआ और आज इस जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें बैठा हूँ—परन्तु तुम कौन हो जो नित्यकिशोर, अपूर्व सौन्दर्यशाली, सङ्गीतसुरभिसे परिपूर्ण, मेरे हृदय-कुञ्जमें बैठे-बैठे इतनी नित-नयी तानें छेड़ रहे हो?

वंशीके सुरमें कितनी तरंगें भरकर सबको अपने चरणकमलकी ओर खींचे रखते हो ? संसारके साथ हृदयका जो संयोग-सूत्र मजबूतीसे बँध गया था, तुम्हारे आकुल आह्वानके स्वरसे वह सूत्र टूट गया ! सभीको खेलमें बुला रहे हो ? तो फिर घरमें कौन रहेगा ? अच्छा, तुमको खेल इतना अच्छा लगता है ? कितने दिनोंसे कितने खेल खेल रहे हो ? ओ ! इस अपने खेलको तुम क्या कभी बंद नहीं करोगे ?

अच्छा, यदि खेल तुम्हें इतना प्यारा है, तो फिर इतने छिप-छिपकर क्यों खेलते हो ? तुम्हारी पूरी सूरत तो कभी नहीं दिखायी पड़ती। कभी पीठ, कभी पीठपर लटकती हुई वेणी, कभी कमल-कुसुमकी रक्त आभाके समान कोमल और दृढ़ करतल, कभी स्थलकमलकी कान्तिके समान, बाल-रविकी अपूर्व लालिमाके सदृश दो छोटे-छोटे श्रीचरण, कभी शतसहस्र-कोटि शशिधरके समान सुधा-सुन्दर श्रीमुख और कभी स्थिर विद्युत्‌की शोभाको अपहरण करनेवाली तुम्हारे नयनकोरकी हास्य-रेखा दिखायी पड़ती है ! कभी वंशीस्वर, सुन्दर सुधासे भरित, हृदयको उन्मत्त करनेवाले अपने कोमल कण्ठके नीरव संगीतका प्रकाश कर, अपनी तनिक-सी झलक दिखाकर तुम किसी अदृश्य गृहमें छिप जाते हो ! नेत्र तुम्हें देखनेको लालसासे ताकते-ताकते अन्धे हो गये, कान तुम्हारी मधुर वाणी सुननेको आशामें स्तब्ध हो प्रतीक्षा करते-करते बहरे हो गये, अंग तुम्हारे स्पर्शके लिये चिरकालसे क्रन्दन करते-करते विवश हो गये, [illegible]

तुम्हारी खोजमें चिन्ता करता-करता पागल हो गया ! हे चञ्च
हे अनन्त, तो भी तुम नहीं मिले ! क्या तुम नहीं मिलोगे
क्या यही तुम्हारा नियम है ? मैं अनन्त कालतक अपने अश्
जलसे वक्षस्थलको परिप्लावित करता रहूँगा और तुम पर्व
बैठे-बैठे बाँसुरी बजाते रहोगे ? क्या यही ठीक होगा ? सुन
हूँ तुम बहुत बड़े आदमी हो। क्या इसीलिये तुमको असी
और अनन्त कहते हैं ? क्या यह ठीक है ? तो फिर तुम्हा
छोर पानेका क्या उपाय है ? यदि तुम इतने बड़े हो, मेरे मन
बुद्धिके अगोचर ही रहना चाहते हो, तो तुमने अपना रूप क
प्रकट किया था ? और क्यों मेरे मनमें अपने लिये इत
व्याकुलता ही भर दी ?

मैंने समझा था कि तुम सूर्यकी अपेक्षा भी कितने गुने ब
हो, न मालूम कितने सूर्य आकाशमें जड़े हुए तारोंके समा
तुम्हारे अंदर टिमटिमाते हुए झलमला रहे हैं। तुम इतने बड़े हो
और मैं ? जो पृथिवी सूर्यके सामने एक तुच्छ पदार्थ है—मैं उस
पृथिवीके एक क्षुद्रतर प्रदेशके क्षुद्रतम अंशके एक कोनेमें छोटे
से-छोटा एक जीवमात्र हूँ ! तुम इतने बड़े होकर मेरी, इतने छोटेक
खबर क्यों रखोगे ? देशका एक बादशाह होता है, वह तो अपन
असंख्य प्रजामेंसे बहुत कमको जानता है और उनके व्यक्तिग
सुख-दुःखसे भी उसका कुछ आता-जाता नहीं है। मैं समझत
था तुम भी ठीक उसी प्रकारके हो ! इससे
था कि मैं तुम्हारी नजरसे बाहर एक

अपनी महिमामें विराजमान हो, तो मैं अपने क्षुद्रत्वको लेकर एक कोनेमें पड़ा हुआ हूँ।

परन्तु तुम्हारी यह कैसी अद्भुत लीला है ? मैं जो इतना क्षुद्र हूँ और ये बालूके कण कितने छोटे हैं, तुम इनमेंसे किसीको नहीं भूलते—सभीके साथ तुम्हारा पूर्ण परिचय है ! इन क्षुद्रोंके पास भी तुम अपनी पूर्णता लिये सदा विराजमान हो ! किसीको दीन मानकर घृणा नहीं करते, क्षुद्र समझकर उपेक्षा नहीं करते; ऐसे क्षुद्रोंके साथ भी समानताका बर्ताव करते हो—इन्हें सखा कहकर पुकारते हो ! मैं सोचता था विश्वको लेकर तुम एक विराट् वस्तुके रूपमें पड़े हो, मेरे-जैसे अति क्षुद्र जीवको, पुकारने पर तुम्हारा उत्तर क्यों मिलेगा ? हरि ! हरि ! हरि ! मैं छिपकर बगलसे निकल जाना चाहता हूँ, छोड़ना चाहता हूँ पर तुम नहीं छोड़ते ! तुम तो बिना ही पुकारे आकर खड़े हो गये ! यह कैसा तुम्हारा अद्भुत खेल है नाथ ? तुम्हारी यह कैसी व्यवस्था है ? मेरे भूलनेसे क्या होगा, तुम जो भूलने नहीं देते ! मैं तुम्हारी तरफ नहीं ताकता, इससे क्या हुआ ? तुम जो आँखोंकी दृष्टिको ही निकाले लेते हो ! अच्छा, मुझ इतने क्षुद्रके साथ यह तुम्हारा खेल कैसा ? मैंने सोचा था, तुम असीम, अनन्त, महान्, विराट् हो, तुम्हारे रोम-रोममें कितने ब्रह्माण्ड बुद्बुदके समान उठते हैं और पुनः विला जाते हैं; फिर मेरी खबर तुम रक्खो ऐसी सम्भावना कहाँ ? मैं खूब निश्चिन्त था। पर अब यह क्या देखता हूँ ? मेरी सारी समझ ही उलटी हो गयी। तुम तो मेरी पूरी

खबर रखते हो। मेरे मनकी ही क्या? घरकी कोई भी खबर तुम्हारी जानकारीसे अलग नहीं है! अच्छा, बताओ तो, इतनी खबर कैसे रखते हो? कितने ब्रह्माण्ड हैं, कितने जीव है, तुम एक-एककी पूरी खबर रखते हो, एक दिन भी भूल नही होती, यह सब कैसे करते हो? इस बातपर विचार करते ही बुद्धि चकरा जाती है! अच्छा, इतने बड़े थे तो इतने छोटे कैसे हो गये? अवश्य ही छोटे हो गये हो, नहीं तो मेरे साथ-साथ कैसे घूम-फिर सकते? तुम जो सर्वव्यापी और एक अखण्ड हो, जरा-सेके अंदर और सबके अंदर भी वही तुम सर्वव्यापी—अखण्ड, सच्चिदानन्दघन अनन्त ज्ञाननिलय ज्ञानरूपमें हो, और पुन: प्रत्येक क्षुद्र अवयवके सामान्य अंशमें भी तुम वही ज्ञानमय-प्रेममय हो। तुम्हारी यह कैसी लीला है? बताओ तो, क्या यही तुम्हारी माया है?

हृदयको कैसे समझाऊँ? कैसे इस बातपर विश्वास करूँ कि तुम भी मुझको चाहते हो? परन्तु यह जो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि तुम मुझे एक घड़ीके लिये भी नहीं छोड़ते, मैं अपने प्रत्येक चिन्तनमें, प्रत्येक कर्ममें तुम्हारा अस्तित्व पाता हूँ—मेरे गोपनीय मनकी एकान्त कोठरीमें जो कुछ भी है, वह सभी तुम्हें ज्ञात है। तुम्हें किसी प्रकार भी धोखा नहीं दिया जा सकता!

हे मायावी, एक बार इस अपने पर्देको हटा लो, घूँघट खोल दो, तुम्हारी आवरणहीन मुखश्रीको मैं एक बार देख लूँ!

हे पागल, हे अनादि-अनन्त कालके शिशु, हे नित्य अविनाशी, नित्य आनन्दमय किशोर, हे मेरे पुरातन, सर्वप्राचीन सनातन पुरुषोत्तम! क्या मेरी प्रार्थना सुनोगे? कमल-रक्त-राग-रञ्जित तुम्हारे श्रीचरणकी जो छाया मैंने देखी है, उसे क्या एक वार और दिखलाओगे? कहाँ हो मेरे नयनलुभावन, मनलुभावन? कहाँ हो मेरी आँखोंके नित्य आलोक, मेरे प्राणोंके परम पुलक?! तुम्हारी वह भुवनमोहिनी हृदय-शीतलकरी मधुर मूर्ति कहाँ है? अब कबतक मुझसे अपने पूर्ण स्वरूपको छिपाये रक्खोगे? एक वार आओ, अचानक आओ, उस अपनी अपूर्व मुनिमनलुभावनी माधुरीको लेकर, सुरासुरवन्दित अपूर्व शोभनश्रीको लेकर, एक वार मोहन-वेशमें मधुररूपमें मेरे हृदय-देशमें आकर खड़े तो हो जाओ। तुम्हारे आवरणहीन परिपूर्ण अरूप रूपको निरखकर इस मनुष्य-जीवनको सार्थक करूँ!

करुण आँखिर दृष्टि ताहार, भरे आछे ए आकाश जुड़े।
वायु एसे तार कथाटि, कि ये आमाय सुनिये गेल
कत फुलेर गन्ध हते, तार प्राणेर गन्ध छुटे एल।
आकाश हते आलोर साथे, प्राणे आमार प्रवेशिल,
भावे कत रूपे, कत बार से देखा दिलो।
जले, अन्तरिक्षे, कत प्रेम से ढले दिल,

अलक्ष्य

के तुमि मोर प्राणेर आलो ?

के तुमि गो साथे साथे

रयेछ मोर प्राण जुड़ाते

आमि चिनते नारि बुझते नारि

नामटि तोमार बल बल ?

यखन मातृ गर्भ हते, पड़लाम एसे क्षिती तले

के तुमि गो सेखान हते, निते आमाय हाथ बाड़ाले ?

के एसे मोर तप्त हिया, निमेषेते जुड़िये दिले।

क्षुधाय आमि कातर देखे, मायेर स्तने दुग्ध दिले ?

अचेना अजाना देशे, यखन आमि पड़लाम एसे

के सेथा गो हेसे हेसे, मायेर वेसे देखा दिले ?

अजानेते आत्महारा, काँदछि यखन भूमे पड़े

सोणार किरण परस दिये, हृदय के मोर जुड़ाइले ?

चाँदेर किरण हते से गो, दिच्छे ऊकि सदाई मोरे,

करुण आँखिर दृष्टि ताहार, भरे आछे ए आकाश जुडे।
वायु एसे तार कथादि, कि ये आमाय शुनिये गेल
कत फुलेर गन्ध हते, तार प्राणेर गन्ध छुटे एल।
आकाश हते आलोर साथे, प्राणे आमार प्रवेशिल,
कत भावे कत रूपे, कत वार से देखा दिलो।
स्थले, जले, अन्तरिक्षे, कत प्रेम से ढले दिल,
(आवार) नर नारीर हृदय हते, एसे आमार प्राण जुडालो।

कोथा हते कत कथा, बलते आमाय आसे छुटे,
तार परसे हृदय कलि, आपना हते फुटे गेल।
नर नारीर मुखे मुखे, ताहार येन चित्र आँका
प्रति जीवेर चोखे चोखे, तारे येन जाय गो देखा।
सागरेर ओई सुनील बुके, कत शत लहर दुले,
सुनील तनुर आभा ताहार, ढेउयेर साथे उठछे दुले।
नर नारीर हृदय हते, कतवार से साडा दिये,
से ये आछे सकल ठा तेई, एई कथाटि बुझिये दिल।
माँ, माँ, बले डाकते नारे, यडई भालबासि आमि,
सकल देशे मायेर वेसे, ताई ये मोरे देखा दिल।
सखा बले आदर करे, यत मोरे से जडिये धरे
अपूर्व्व तार प्रणय देखे, नयन जले भरे एल।
तार परसे अवश तनु, आँखि पागल ताहार रूपे
एमन नयन भरा हृदय काडा, रूपटि के तार निरमिल?

उत्तिष्ठत जाग्रत

उठ अमृतेर पुत्रेरा सबे हेर नयन मेलिया,
के तव अन्तरे निभृत कन्दरे रयेछे नित्य जागिया।
कर उन्मीलन प्रज्ञानयन हेर अपूर्व्वरूप
अनिद्र-आँखि करुणाते माखि जागिया विश्वभूप।
शिव सुन्दर शुभ्र मूरति स्वर्णरश्मि जाले
द्युलोक भूलोक फेलिल छाइया स्वर्ण किरण माले॥
हास्यछटाय हरिछे आँधार मानस कलुष नाशे,
प्रेम पुलकित हृदय ताँहार हासे कुसुमवासे॥
तिनि सखा तव, राज अधिराज, नित्य तोमार साथे,
भय केन तबे, हइबे तोमार जाइते गहन पथे?
मृत्यु, मृत्यु कोथाय मृत्यु? शुधु छाया विभीषिकामयी,
तुमि ये अमृत, तुमि ये नित्य, तुमि ये मरणजयी॥
इन्द्रियक्षोभे हयेछ मुग्ध, आपना जानना कभु,
तुमि ये सत्य, परम-तत्व तुमि ये तादेर प्रभु॥
केन संशय, केन ए भ्रान्ति, केन ए अज्ञानता?
आपन शक्ति कर जाग्रत, ताहा नाहि तुमि जानि
शोके-मोहे सदा व्यर्थ करिछ अमूल्य जीवन खानि॥

अमोघ तोमार आत्मशक्ति प्रत्यय कर यथा
देख कि अपार बल साधनार ए नहे शुधुई गाथा ॥
जागिया बसिया, देखह चाहिया, तुमि काहार पुत्र ?
चौदिके फोटे ताँर आनन्द, भय नाहि हेर कुत्र ॥
आपन घरेते आपन सखाके हे सखा बलिया डाक,
सकल काजेते, सकल भावेते, ताँहाते युक्त थाक ॥
सागरेर ढेउ उपरे शुधुई, निम्ने अतल स्थिर;
बाहिरे मायार प्रक्षेप, शान्ति अन्तरे सुनिविड़ ॥
बाहिरेर रसे, बाहिरेर रूपे मुग्ध हउ ना आर
गभीर अतले, डुब दिते दिते, परश चरण ताँर ॥
तिनि तोमादेर, तिनि जगतेर, तिनि सक्लेर पिता,
आनन्द मयेर हईया पुत्र केन एई व्याकुलता ?
लभह शान्ति चिर विराम ताँहार सत्ता माँझे,
हेरगो मुग्ध, हृदये शुद्ध-ज्योति काहार राजे ?
देख ना दाँडाये, वराभय करे, मुखे आनन्द राजे।
शून्ये सुदूरे मेघ गम्भीरे माभैः शब्द बाजे ॥
सब चरा चरे हेर ताँहार एक अखण्ड भाति,
चन्द्र सूर्य कनक-किरणे फुटिछे कि ताँर ज्योति !
भय नाहि भीरु, भय नाहि हेर अभय परम धाम,
प्रकाशित आछे अन्तरे तव लह ताहे विश्राम ॥

क्या फिर नहीं आओगी ?

आज फिर आनन्दध्वनि क्यों सुनाई पड़ रही है ? नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवक-युवती आदिके आनन्द-कोलाहलसे देश फिर मुखरित क्यों हो उठा ? कौन आयेगा ? धनी-दरिद्र, गृहस्थ-ब्रह्मचारी, सभी उसके स्वागतके आयोजनमें व्यस्त हैं ! आज देशभरमें शोर मचा हुआ है—"माँ आ रही है, माँ आ रही है।" इसीलिये आज घर-घरमें बार-बार शंख और घड़ियाल (हुलुध्वनि) की ध्वनि गूँज रही है। क्या वास्तवमें माँ आ रही है ? मुझे तो विश्वास नहीं होता ! कहाँ, हृदय नाच उठ नहीं रहा है ! शरीर भी तो पुलकित होकर सिहर नहीं रहा है ! जगदीश्वरी जगद्धात्री मेरी माँ आ रही है और मैं कुछ भी नहीं

पाया—क्या यह सम्भव है ! यह सत्य है कि अविराम
त बन्द हो गया है, कामिनीके लम्बे-लम्बे काले-काले
सी घनघोर घटायें अब नहीं हैं; निविड़ तिमिर-राशिको
रनेवाली सौदामिनीकी अतिशय चंचल चमक अब नहीं
थ, मैदान, घाट आदिको उलट-पलट करके जलस्रोतकी
बल चक्र-गति थम गई है, हरे धानोंके खेत नवीन मेघोंकी
को भी तुच्छकर रहे हैं; वृक्ष, लता, गुल्म सभीमें मानो
ये जीवनका सञ्चार हो गया देख रहा हूँ। पूर्ण यौवनका
ानकाल निकट आने पर जैसे युवती स्त्रीकी भाव-भंगी
चञ्चलताको दूर कर एक गम्भीर भाव धारण कर लेती है,
उसी प्रकार इस समय प्रकृति रानीने भी गम्भीर भाव धारण
लिया है ! ताल-तलैया ऊपर तक जलसे भरे हुये हैं, किन्तु
को तोड़ देनेवाला उनका वह प्रखर वेग मानो कम होता आ
है। आकाश मेघशून्य, निर्मल होकर वासनाविमुक्त योगीके
की-सी शोभा धारण कर रहा है। पल-पल मेघका टुकड़ा
जाता है. धूप खिल उठती है, आशासे भर कर लोगोंने रास्ता
ना फिरना शुरु कर दिया है। हठात् विश्वस्त हृदयको चौंका
जाने कहाँसे छोटी-छोटी मेघमालायें मिलकर इकट्ठी हो गयीं
र वर्षाका थोड़ासा खेल-खेलकर फिर अदृश्य हो गईं। ठीक
से किशोरी अपने फूट उठनेवाले यौवनकी चपल रसिकताको
व और संवरण नहीं कर पा रही हो। योगीके समाधिस्थ
ानेपर भी व्युत्थान अवस्थामें जिस प्रकार पहलेके संस्कार फिर

फिर तेरा हास्यसे भरा भव-भय हरनेवाला प्रसन्न मुखड़ा देखकर इस जगतके निवासी अभय पायेंगे ? बड़ी विकट ज्वालामें यह जगत् जल रहा है, माँ ! सुरासुरवन्दित रक्तकमलसे सुन्दर अपने दोनों चरणोंसे इस पृथ्वीतलको स्पर्शकर उसके संतप्त हृदयको शीतल कर दो माँ ! दुखियों और दीन-हीनोंके दर्दको तुम्हारी तरह समझनेवाला और तो कोई नहीं है माँ ! क्या इसीलिये कंगालके घर फिर लौटकर आई हो ?

मैं यह क्या बक रहा हूँ ? कहाँ है वह माँ जिसको मैं प्राणोंकी व्यथा सुना रहा हूँ ? नहीं, नहीं, यह सब स्वप्न है ! माँ क्या इस देशमें कभी फिर लौटकर आ सकती हैं ? यह तो नरक है ! सभी ओर नरककी आग धू-धू करके जल रही है ? सभी ओर तो यह प्रलयकी विभीषिका है ! रक्तसे रँगे पैरोंवाली, रक्तसे सने मुखोंवाली ये जो कोटि-कोटि प्रेतिनी ता-थेई ता-थेई करती ताण्डव नृत्य कर रही हैं ! सभीके गलेमें नर-मुण्डोंकी माला, सबकी सब नर-कङ्कालोंके आभूषणोंसे सज्जित हैं ! वे क्रोधोन्मत्त लाल-लाल आँखें चमकाकर जिस ओर दृष्टि-निक्षेप कर देती हैं उसी ओरसे स्वास्थ्य, सुख, शान्ति राख होकर उड़े चले जाते हैं ! चारों ओर यह कैसी सड़ान और दुर्गन्ध फैली हुई है ! प्रलयाग्निके धुँयेसे समस्त आकाश कैसा भर गया है ! तब भी कहते हो, माँ आ गई है ? अरे पागल ! माँ के आनेके बाद क्या पृथ्वीकी यह दुर्दशा रह सकती है अथवा उसकी गोदमें दैत्य-दानव निर्भय होकर नृत्य करनेका साहस कर सकते हैं ? माँ

उसके चित्तको आच्छादन करनेकी चेष्टा करते हैं उसी प्रकार यह नई मेघमाला अपनेको रिक्त करके ढाल देनेके बाद भी फिर प्रकृतिके बीच आधिपत्य स्थापित करनेका व्यर्थ प्रयास कर रही है। नवमल्लिका, मालती, चम्पा, बक, हरसिंगार फिर किसको देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो रहे हैं। स्थल-कमलके अपूर्व सौन्दर्यमें यह किसका सुधा-हास्यमय मुखमण्डल दीखता मालूम पड़ रहा है। गाँव-गाँवमें लोगोंका समागम, घर-घरमें आनन्दोत्सव फिरसे पृथ्वीको प्राणमयी किये दे रहा है। तब क्या इस दुःखके जगत्में सुखकी शरद ऋतु फिर आ गई? वह देखो, शरद ऋतुकी चाँदनीकी निर्मल किरणोंसे समस्त आकाशमें आनन्द जैसे समा नहीं रहा है। आज नक्षत्रलोकमें, चन्द्रलोकमें यह कैसा महा-महोत्सव आरम्भ हो गया है। तब क्या ज्योत्स्नाप्लावित शारदी रात्रिमें सैकड़ों चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दरी जगज्जननी मेरी माँ शिवसीमन्तिनीके वेशमें फिर लौट आई है? नहीं तो, इस शोक-रोगाच्छन्न मृत्युसे त्रस्त जगत्में फिर यह सुखकी लीलाका अभिनय क्यों? माँ आ गई है क्या? इस मृत्युलोकमें अमृतका स्पर्श देने सचमुच ही मेरी माँ क्या फिर आई है? अरी दीनोंका दुःख दूर करनेवाली मैया, इतने दिनों पर क्या तुझे सन्तानके प्रति करुणा पैदा हुई है? रोते-रोते आँखें अन्धी हो चली हैं माँ! "आई" कहकर तू चली गई और युग-युगान्तर बीत गये माँ! हाँ, माँ, दीनवत्सले! क्या फिर तेरे चरण-स्पर्शसे इस विपण्ण मुखपर आनन्द नहीं फूट उठेगा? हाँ, माँ अभये! क्या

फिर तेरा हास्यसे भरा भव-भय हरनेवाला प्रसन्न मुखड़ा देखकर इस जगतके निवासी अभय पायेंगे ? बड़ी विकट ज्वालामें यह जगत् जल रहा है, माँ! सुरासुरवन्दित रक्तकमलसे सुन्दर अपने दोनों चरणोंसे इस पृथ्वीतलको स्पर्शकर उसके संतप्त हृदयको शीतल कर दो माँ! दुखियों और दीन-हीनोंके दर्दको तुम्हारी तरह समझनेवाला और तो कोई नहीं है माँ! क्या इसीलिये कंगालके घर फिर लौटकर आई हो ?

मैं यह क्या बक रहा हूँ ? कहाँ है वह माँ जिसको मैं प्राणोंकी व्यथा सुना रहा हूँ ? नहीं, नहीं, यह सब स्वप्न है! माँ क्या इस देशमें कभी फिर लौटकर आ सकती हैं ? यह तो नरक है! सभी ओर नरककी आग धू-धू करके जल रही है ? सभी ओर तो यह प्रलयकी विभीषिका है! रक्तसे रँगे पेटोवाली, रक्तसे सने मुखोवाली ये जो कोटि-कोटि प्रेतिनी ता-थेई ता-थेई करती ताण्डव नृत्य कर रही हैं! सभीके गलेमें नर-मुण्डोंकी माला, सबकी सब नर-कङ्कालोंके आभूषणोंसे सज्जित हैं! वे क्रोधोन्मत्त लाल-लाल आँखें चमकाकर जिस ओर दृष्टि-निक्षेप कर देती हैं उसी ओरसे स्वास्थ्य, सुख, शान्ति राख होकर उड़े चले जाते हैं! चारों ओर यह कैसी सड़ान और दुर्गन्ध फैली हुई है! प्रलयाग्निके धुँएसे समस्त आकाश कैसा भर गया है! तब भी कहते हो, माँ आ गई है ? अरे पागल! माँ के आनेके बाद क्या पृथ्वीकी यह दुर्दशा रह सकती है अथवा उसकी गोदमें दैत्य-दानव निर्भय होकर नृत्य करनेका साहस कर सकते हैं ? माँ

का चरण-स्पर्श होने पर तो यह नारकीय दृश्य एक क्षण भी नहीं ठहर सकता था! यह देखो, दानव लोग दल बाँधकर सुन्दर भ्रातृबन्धनको, प्रीति-प्रेमको पैरोंसे कुचल कर, भाई-भाईका विनाश करनेको उद्यत, हाथमें मूसल लिये इधर-उधर दौड़ रहे हैं। कोटि-कोटि नारियोंके हृदयोंको उन्मूलित करके मातृ-हृदयोंके अस्थिपञ्जरोंको चूर-चूर करके पिशाचोंके झुण्डके झुण्ड अट्टहास्य कर रहे हैं! नहीं, नहीं, माँ आई है, यह कभी नहीं हो सकता! दानवोंका दलन करनेवाली माँका आविर्भाव होने पर क्या यह असुरोंका दल ऐसा उत्पात करने पाता? सूर्योदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार भाग जाता है उसी प्रकार तम-विनाशिनी, शिवविलासिनी माँ के आगमनसे यह असुर-कुल भी भयभीत होकर जाने किस अदृश्य अन्धकारके गम्भीर गह्वरमें जा छिपता और उनके अस्तित्वका भी अनुभव किसी को नहीं हो पाता! ऐसा तो हुआ नहीं—माँ तो आई नहीं; इसीलिये तो अभी भी घोर अन्धकारसे समस्त दिग्दिगन्त भरा हुआ है, चारों ओर ग्रास-रागका विकट विस्तार सुननेमें आ रहा है! नहीं, नहीं—माँ तब तुम आई नहीं हो!

सचमुच ही क्या तुम नहीं आई हो? हाँ माँ, तब क्या फिर कभी नहीं आओगी? तुम्हारी चरणरजसे इस धरणीका वक्ष-स्थल क्या फिर शोभायमान नहीं होगा? तुम्हारे चरण-स्पर्शका यह सौभाग्य हमने कहाँ खो दिया है? किस दुष्कर्म रूपी राहुने हमारे हृदयाकाशमें तुम्हारी दिव्य चरण-ज्योतिको ग्रास कर

डाला ? जगत्का प्रत्येक अणु जिस अमृतमय स्पर्शसे अमृतके समान था, आज वह मुट्ठी भर धूल मात्र होकर केवल आँखोंकी ज्योतिको मलिन किये दे रहा है ! तुम तो घट-घटकी प्राण-रूपिणी—चैतन्यमयी हो ! तब यह प्राणहीन, अचेतन भाव कहाँसे आया माँ ? यह तो सारा जगत् ही अज्ञानी है । अविद्या-नाशिनी माँ ! तुम्हीं बता दो, हम सब इस अज्ञान रूपी राक्षसके ग्राससे किस प्रकार त्राण पायेंगे ? जगज्ज्योतिरूपिणी ! तुम्हें छोड़कर इस अज्ञानान्धकारको कौन शान्त करेगा ? हमारा यह दुर्निवार मोह-आसक्ति तुम्हारे ज्ञानरूपी खड्गसे खण्डित हो जाय । एक बार "माँ भै माँ भै" शब्दसे चारों दिशाओंको कँपा कर, हँसीके विकाशसे चन्द्र सूर्यको करके खड़ी होजाओ माँ ! तुम्हारी सन्तान तुम्हारे चरण-कमलोंमें अञ्जलि अर्पण कर कृतार्थ हो जायँ !

माँ शिवे ! आज शिवको विसर्जन देकर हम सभी सम्पदाको, समस्त शोभाको खो बैठे हैं । आज तुम्हें हम भूल गये हैं । इसी लिये धनधान्यसे भरे इस सुन्दर भारतमें दुर्भिक्षकी क्रोधाग्नि धक्-धक् करके जल उठी है । हाँ, कनकवर्णा गौरी माँ ! हमारे दुष्कर्मोंके कलंकसे आज सारी दिशायें भर उठी हैं इसीलिये क्या सन्तानके अपराधोंको स्मरण कर तुम्हारा मुख विषादसे मलिन हो गया है ? इसीलिये क्या तुम्हारी वह शोभनीय कान्ति अब जगत्को आनन्द-रससे पूर्ण नहीं करती ? इस-लिये क्या तुमने हमको त्याग दिया है माँ ? अथवा हम अज्ञ

प्रकारसे दरिद्र और दीन हैं क्या इसीलिये तुम नहीं आओगी ? तुम्हारी पूजाका आयोजन हम नहीं कर सकेंगे, क्या इसीलिये तुम विमुख हो गई माँ ? हमारे पास धन-वैभव नहीं है यह सत्य है, किन्तु तुम्हारे दोनों रंगीन चरण ही तो जीवका परम ऐश्वर्य, सभी भोग और मुक्तिका आश्रय हैं! तुम दया करके आ जाओ, बस सारी दरिद्रता दूर हो जायगी। ऋद्धि-सिद्धि सभी कुछ तो तुम्हारे चरणकमलकी ही महिमा है न ? तुम्हारे आनेसे ही तो हम सभी विद्या, सभी ज्ञान, सभी सम्पदायें, समस्त सिद्धियाँ, सारी शक्तियाँ, सब कुछ फिर पा जायेंगे। तब तुम क्यों नहीं आओगी ? हम भक्त नहीं हैं क्या इसीलिये ? हमने शुभ वस्तुको पददलित कर दिया है इसीलिये ? हमारे घर-घरमें विपाद, शोक, रोग और हाहाकारकी ध्वनि है क्या इसीलिये ? घर-घरमें कलह, भाई-भाईमें अनबन, गुरुजनोंके प्रति भक्ति नहीं, स्त्री जातिके प्रति श्रद्धा नहीं—क्या इसीलिये तुम नहीं आओगी ? क्या इसीलिये तुम दिगम्बरा होकर, नग्न होकर जगत्के सामने विभीषिकामयी होकर भय दिखा रही हो ? माँ! हमारी यह दुर्गति हो गई है, यह ठीक है। किन्तु तू जो दुर्गति दूर करनेवाली है, क्या तू भी ठोकर मारेगी माँ ? माँ, मेरी एक बात सुन! तू श्मशानवासिनी कहाती है, सुना है श्मशान तुझे बहुत प्रिय है। तब तो माँ, मेरे हृदयमें तेरे बैठनेके लिये स्थान ठीक ही होगा। मेरे हृदयके जैसा महाश्मशान तुझे और कहीं नहीं माँ, कहीं नहीं! एक बार मेरे हृदयमें

भीतर ध्यानसे देख—वहाँ न दया है, न श्रद्धा है, न कोमलता है, न पूज्य-पूजा है, सब कुछ अविश्वासकी अग्निमें जलभुन कर राख हो गया है। वहाँ तो केवल ज्वाला है—हृदयकी ज्वाला, कामकी ज्वाला, क्षुधाकी ज्वाला, रूपकी ज्वाला और धनकी ज्वाला धू-धू करके दिन-रात धधक रही है। वहाँ और कोई शब्द नहीं, केवल बीच-बीचमें षड् रिपुओंका विकट चीत्कार श्मशानमें श्वान-शृगालोंका अभिनय करता फिर रहा है। जैसे श्मशानमें कहीं-कहीं पर जलते हुये अंगारे बिखरे रहते हैं और मुर्देके जलनेकी गन्ध चारों ओर फैल कर राहगीरोंको भयभीत करती है उसी तरह मेरे हृदयके श्मशानमें और कुछ भी नहीं है। सब कुछ जल कर भस्म हो चुका है, केवल पापोंकी स्मृति रूपी कङ्काल, विकृत दुष्कर्मोंके अस्थिशेष और अतीत गौरवके प्रति अभिमान और स्पर्धाके नरमुण्ड इधर-उधर फैले हुये हैं! लोग श्मशान देखकर जैसे भयभीत होते, वैसे ही मैं भी अपने हृदयकी ओर देखकर भयभीत हो गया हूँ। माँ, मेरे हृदयके समान भयंकर श्मशान और कहाँ हैं ? इसके अन्दर प्रति दिन सैकड़ों शुभ वासनायें सूखी लकड़ीकी भाँति प्रवृत्तियोंकी अग्निमें जलकर भस्म हो रही हैं।

आ माँ, तब एकबार इस श्मशान-हृदयमें ही अपना आसन ग्रहण कर ! मेरे हृदयकी करुण वेदना, रोगका भीषण आर्तनाद, मर्माहत रोदनकी अव्यक्त ध्वनि वहाँ पर संगीतका काम करेंगे। पत्र, पुष्प, नैवेद्य अब क्या लाऊँ माँ ? मेरे हृदयके क्षुद्र कोमल

भाव कम से कम गन्धहीन पुष्पोंका ही कार्य कर लेंगे। भक्त लोग तो तुम्हे आकाशके थालमें चन्द्र सूर्यके दीप सजाकर, मनको अर्घ्य बनाकर पंचप्राणोंके पंच प्रदीप जलाकर, सहस्रार कमलसे क्षरित (टपकी हुई) सुधा-धाराको आचमन और पीनेके लिये जलरूपमें निवेदन करते हैं —मैं अभक्त हूँ, दीन कङ्गाल हूँ, वह सब कहाँ पाऊँगा बोलो ? मेरे श्रद्धाहीन, भक्तिहीन भावरूपी सूखे फूल और अशान्त हृदयके तप्त आँसू ही मेरी पूजाका सम्बल हैं। अपने हृदयकी अक्षम शक्तिकी व्याकुलता अर्घ्य रूपमे तुम्हे दूँगा। अरी माँ, यह कैलाश थोड़ा ही है, यह श्मशानकी पूजा जो है—यहाँ इस दीन पूजाके दीन आयोजनसे ही तुम्हे सन्तुष्ट रहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारी बलिकी बात सोचता हूँ। मेरे पास क्या है, तुम्हारे चरणोंमें क्या बलि दूँ? भक्त लोग जो आत्मबलि तुम्हारे चरणोंमें निवेदन करते हैं, वह शक्ति तो मुझमें है नहीं! तुम अपने जोरसे मेरी मोह-आसक्तिको बलिरूपमें ग्रहण करो। मैं इतनी चेष्टा करनेपर भी अब तक अपनेको 'अपना' नहीं कर सका; तब फिर तुम्हारे चरणकमलोंमें और क्या बलि दूँ माँ? हे असुरनाशिनी! एकबार अपनी हुङ्कारसे समस्त दिशाओंको संक्षुब्ध करके रिपुकुलको स्तम्भित कर दो, जिससे वे सब अपनी ही इच्छासे तुम्हारे चरणोंमें अपनेको बलि दे दें! एक बात, तुमसे एक बात कहनेकी बड़ी इच्छा होती है माँ! यह सब जगत्-व्यापार सभी तो तुम्हारी ही माया है! तुम जिस प्रकार एक ओर सुकिंद्रा मातृमूर्ति रूपमें

भक्तोंके हृदयको शीतल करती हो, उसी प्रकार दूसरी ओर तुम्हीं तो यह महामोहरूपिणी अनादि अविद्या हो! हाँ हाँ, हे अलङ्घ्यवीर्ये! यदि मायाके उसपार न जानेसे मुक्ति नहीं ही होगी, यही निश्चय तुमने किया हो, तो एकवार अपने परमभक्त ऋषिके वाक्यको सार्थक करो।

"सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥"

यही तो उन्होंने कहा है, तुम्हारे प्रसन्न होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। तब फिर अपनी उसी भक्तोंको अभय देनेवाली, प्रसन्न दक्षिणा मूर्तिको एकवार प्रकटित करो! अब देर क्या है माँ! बहुत हो चुका, इस वार एक वार पर्दा हटा दो, आँखोंका अँधेरा, मनकी मलिनता एक वार मिट जाये। तुम्हारी त्रिताप-हारिणी, शोकतापनाशिनी, गणेश-जननी मूर्ति देखकर हमारे भयसे काँपते वक्षस्थल शान्त हो जायें। एकवार शरणागतोंकी अभयदायिनी होकर अभयनेत्रोंसे देखो माँ! समस्त भय, समस्त शोक, समस्त द्वेष, समस्त भेद तुम्हारे दृष्टिपातसे अमृत हो जायें। तुम्हीं तो "शरणागतदीनार्त परित्राणपरायणा" हो, तब फिर और कहाँ शरण माँगें माँ? समस्त जगत्की आधारभूता चैतन्यरूपिणी माँ जो तुम हो? समस्त विद्यायें तुम्हारी ही जो विभूति हैं। एक वार उसी विद्याका प्रकाश जला दो माँ! जिससे कि हम समझ सकें "स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु—यह तुम्हीं हो! जिससे तुम्हारी मातृमूर्तिके सुन्दर रूपमें बुद्धिको स्थिर रख सकें और इस प्रकार हृदयके रोगसे मुक्त हो सकें। एक बार

अपनी अपरूप 'अरूप' सत्तामें 'सब' रूप मिलाकर "सर्वमंगल-मंगल्य" मातृमूर्तिको प्रकाशित करो। हम सब तुम्हारी वर और अभय देनेवाली मूर्तिको देखकर बच जायें। स्वर्ग, अपवर्ग, तुम सब कुछ दे सकती हो, यह जानता हूँ। लोग तुम्हारे ही कृपा-कटाक्षसे ऐश्वर्य-शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, यह सत्य है। किन्तु हे माँ, अब मोहमें मत डालना, अब अपने बच्चेके साथ बच्चोंका खेल मत करना। मैं, तुम, वह, इस प्रकारके हजारों भेद हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, मूर्ख-ज्ञानी, धनी-दरिद्र आदिके सैकड़ों भेद हैं। एक बार अपने अभेद भावमें सब भावोंको मिलाकर अपने स्वरूपमें आ खड़ी हो ओ माँ! रणरंगिनी, कितने युगोंसे कितने युद्ध तुमने किये माँ, अब अपनी तलवार म्यानमें रख लो! तलवारकी क्या आवश्यकता है? तुम्हीं तो सब लोगोंके हृदयमें स्थिर बुद्धिरूपिणी हो। एक बार हमारी बुद्धिके अन्दर अपने आविर्भावको सम्भव करो माँ! तुम्हारे स्पर्शसे हमारी सत्वशुद्धि हो जानेपर फिर हम तुम्हें परेशान नहीं करेंगे। हमने भूलकी है, इससे जो अपराध हुआ है उसे हम मानते हैं, किन्तु यह भ्रान्ति किसकी है? उस मोहमें बद्ध करनेवाली भी तुम्हीं हो और उस मोहपाशको तोड़नेवाली भी तुम्हीं हो! यह जो "मैं, मैं" और "मेरा, मेरा" करते हुये हम केवल चक्कर खा रहे हैं, एक बार उस मोहके भयानक भँवरको रोक दो माँ! सकल विश्वकी आदि जननी!, सारा विश्व तुम्हारी ही सन्तान है, तब फिर हमारा कौन पराया है, कौन अपना? हम सब एक हैं, इस

एकत्वको समझकर जिससे हम अभिमानको नष्ट कर सकें ! गहरे मोहान्धकारमें पड़े हम डूबते-उतराते हैं, सारा जगत् कुम्हारके चाककी भाँति घूम रहा है इसीलिये भ्रम पैदा होता है। जन्म-मृत्युका भ्रम, सुख-दुखका भ्रम, स्त्री-पुरुषका भ्रम हम सबके ऊपर छाया हुआ है। माँ, इस महान् विपत्तिसे तुम्हारे सिवाय और कौन हमारी रक्षा कर सकेगा ?

"विश्वेश्वरि ! त्वं परिपासि विश्वं विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ती विश्वाश्रयाः ये त्वयि भक्ति नम्राः ॥"

एक वार अपने सुन्दर चरणोंमें हमको लुटा दो माँ, हम इच्छा करने मात्रसे ही तो अब तुमको प्रणाम कर नहीं सकेंगे। सैकड़ों जन्मोंके कितने ही जञ्जाल जो गठरी भर भारकी भांति इस बुद्धि में भरे हुये हैं ; उस भारको लेकर क्या झुका जा सकता है माँ ?

लम्बा रास्ता है, बहुत सा भार कन्धेपर लेकर इस जगत्में भ्रमण करते-करते बड़े थक गये हैं माँ ! एक वार अपने उस श्रान्तिको हरनेवाले मुखड़ेका लेकर हमारे सामने आ जाओ माँ ! हम तुम्हारे निर्मल मुखारविन्दको देखते-देखते अपनेको और जगतको जिससे भूल जा सकें ! गठरीके भारसे सर फट गया है, उस भारको उतारकर लेनेका भार तुम्हें छोड़ और कौन लेगा, बोलो ! इस भूखे-प्यासे चित्तको अपने स्तन्यकी अमृत-धारासे क्लेशमुक्त करके अपने चरणोंकी वन्दना करनेका अधिकार दो माँ ! तब हम समस्त भेदोंको भूलकर आत्मविस्मृत होकर भक्तिसे गद्गद् कण्ठसे कह सकेंगे—

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि ! विश्वार्तिहारिणि !
त्रैलोक्य वासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥

और कोई वर नहीं माँ ! एक यही वर दो, कि हम ज्ञान-नेत्रोंसे देख सकें—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत् ।"

"इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या ।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमोनमः ॥
चिति रूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥"

निश्चिन्तता (निर्भयता)

प्रभु, मैं अपने आपको जितना प्रिय लगता हूँ, उससे कहीं अधिक मैं आपका प्रिय हूँ। तब क्यों मैं अपने लिये सोच करूँ ? तुम्हें क्या मेरा विश्वास नहीं ? तो क्या मेरे हृदयने तुम्हें ठीक तरहसे अपनाया नहीं है ? कहाँ, मैं तो अभी अपने आपको निर्भर नहीं कर सका हूँ! पतिव्रता स्त्रीका यदि सब कुछ चला जाय, पर पति रह जाय, तो वह हँसती हुई सब कुछ सह सकती है। कारण पतिव्रताके लिये पतिसे बढ़कर और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। जो व्यभिचारिणी अपना हृदय सबको देती फिरती है पर कहीं प्राण अर्पण नहीं कर सकती, वह कहीं भी इससे आश्रय भी नहीं पाती। उसका मन कहीं भी

निश्चिन्त होकर नहीं टिक सकता। व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मेरा मन भी अभीतक एकनिष्ठ नहीं हो सका है, वह अभीतक ठीक नहीं कर सका, कहाँ अपनेको अर्पण करेगा। प्राण खरीदना चाहनेवाले बहुत हैं। यश, अर्थ, विद्या, स्त्री, पुत्र, परिवार सभी प्राण खरीद लेना चाहते हैं, पर मूल्य देना कोई भी नहीं चाहता। कारण, इसका उचित मूल्य किसीके पास नहीं है। इसका ठीक मूल्य देकर खरीदनेकी सामर्थ्य किसीमें हो, ऐसा तो नहीं देख पड़ता। परन्तु दुःखकी बात है कि, जो उसकी कदर कर सकता है, उसका वास्तविक मूल्य चुका सकता है, उसे वह अभीतक नहीं पहचान सका और इसीलिये अपना भी नहीं सका। प्यार न करनेपर भी जो उसे प्यार करते हैं, स्मरण न करनेपर भी जो मनमें आ जाते हैं, उन अपने चिरंतन सखा, जीवन-मरणके संगी, जीवन-बन्धुको, रे मन, तू किस सम्पत्तिके लोभसे, किसकी मायासे मुग्ध हुआ भूला बैठा है? क्या तू धन चाहता है? रूप चाहता है? प्रतिष्ठा चाहता है? इतना धन किसके पास है? ऐसा ऐश्वर्य और किसका है? "छाय छाय देय भुवन सिन्धु सारे" अखिल भुवनमें उन्हींका ही तो विभव बिखर रहा है! ऐसा रूप भी किसका है? वह रूप-छटा त्रिलोकमें समा नहीं सकती! आकाशमें, चन्द्रकी चाँदनी और सूर्यके प्रकाशमें, ग्रहमण्डल और नक्षत्रमण्डलमें उसी रूपकी छटा छिटक रही है! पशु-पक्षी, कीट-पतंग, नर-नारी हर किसीके मुखमण्डल और नयनप्रान्तमें कैसी अपूर्व

छवि विकसित हो रही है! कितने लोक कितने कालसे वह रूप निहार रहे हैं! कितने-कितने प्रकारसे कितने लोगोंने उसे समझने-बूझनेका यत्न किया, पर किसीने उसका अन्त नहीं पाया! किसीके सामने वह रूप पुराना नहीं हुआ! कितने दिनोंकी बात है, ध्रुवने उन्हें देखा, प्रह्लादने उन्हें देखा, अम्बरीष-ने उन्हें देखा, नारदादि ऋषियोंने देखा, फिर व्रजकी गोपियोंने देखा, ग्वालबालोंने देखा, अर्जुन, उद्धव, युधिष्ठिर, विदुर, भीष्मने देखा—वही एक रूप! फिर भी वह कैसी अनुपम अपार शोभा, क्या ही नयन-विमोहन हृदयहारी अलौकिक सौन्दर्य, जिसका किसीकी दृष्टिमें, किंचित् भी कभी कोई ह्रास नहीं! जिसने देखा वही उन्मत्त हो गया, घर-परिवारसे बाहर निकल आया, मोह-ममताके सब बन्धन उसके टूट गये; अर्थ, रूप, यौवन, प्रतिष्ठा सब मोह कट गये!

उन्हें प्राण अर्पण कर इस प्रकार निश्चिन्त होना और कहीं नहीं बनता। और किसीको भी अपना हृदय-प्राण दो, पर तब भी प्राणोंके सम्बन्धमें एकबारगी निश्चिन्त होना नहीं बन सकता। कारण इसका यही है कि इतनी सामर्थ्य और किसीमें नहीं है, व्यथाका व्यथी, दुखदर्दका अनुभव करनेवाला भी वैसा और कोई नहीं है। माता जैसे अपने बच्चेका दुखदर्द अनुभव करती है, वैसा अनुभव करनेवाला और कोई नहीं होता; कारण शिशुका इतना अन्तरतर और कोई नहीं हो सकता। इसी प्रकार हमारे हृदय-सखा परमात्मासे अन्तरतर और कोई

नहीं हो सकता। अतः उनका-सा प्यार पानेकी आशा और किसीसे कर ही नहीं सकते। वे इतना प्यार करते हैं कि यदि तुम वह स्वीकार भी न करो, तब भी वे तुम्हारे ऊपर क्रोध न करेंगे, अपने मानका कोई दावा न करेंगे। केवल तुम्हारा व्यवहार देखकर अश्रुभरे नेत्रोंसे तुम्हारी ओर देखते रहेंगे। देखो तो सही, कितने लोग कितने कितने पाप करते हैं, उनके विरुद्ध आचरण करते हैं, पर इससे क्या वे उन्हें आश्रय देना छोड़ देते हैं ? या उनसे सूर्यका प्रकाश, वायु, जल आदि रोक रखते हैं ? ऐसा तो कभी नहीं करते। वे जानते हैं, तुम्हारा यह भाव सामयिक है, चिरंतन नहीं। वे जानते हैं, तुम्हारा यह अज्ञान किसी दिन नष्ट होगा ही और तब तुम अपना निगूढ़ सम्बन्ध जान ही लोगे ! वे किसी बातके लिये व्यस्त नहीं होते। तुम भी व्यस्त क्यों होते हो ? दुःख-दारिद्र्य, रोग-शोक-ताप सब आयें, आयें खूब प्रबल होकर, पर तब भी तुम भीत मत हो ! यह सब उनके यहाँसे आयी हुई सौगात है। इसका आदर करो, नतमस्तक होकर इसे वरण करो। उनका दिया हुआ भार ढोना ही होगा, सहना ही होगा ! और फिर ऐसा दिन कब आयेगा ? उनका दिया हुआ भार वहन करनेका ऐसा सुयोग कहाँ मिलेगा ? इतने समीप होकर उन्हें धर लेना, जानना और समझ-बूझ लेना अन्य किसी अवस्थामें नहीं बन पड़ेगा। इसीलिये कहता हूँ, जो भार उन्होंने दिया है उसे ग्रहण करते पश्चात्पद मत हो, दुःखित मत हो। कारण ऐसे सखा और कोई

नहीं हैं। जिनका नाम लेनेसे, जिनकी कथा श्रवण करनेसे गृहकर्म, खाना-पीना सब कुछ विस्मृत हो जाता है, उन्हें यदि अपने हृदयमें पा जाओ तो फिर क्या दु खको दु ख मान सकोगे ? जब तुम यह समझ सकोगे कि वे तुम्हें कितना प्यार करते हैं, तब कोई दु ख तुम्हे दु ख दे रहा है यह बात मनमें लाते भी तुम्हें लज्जा आयेगी। इसीलिये कहता हूँ, जो कुछ भी हो—तुम्हारा लाभ या हानि, अर्थ या अनर्थ, हेय अथवा उपादेय, जन्म या मृत्यु, विच्छेद या मिलन, सब उन्हींका दिया हुआ है, यह जानकर निश्चिन्त हो रहो। 'मैं उनका सेवक हूँ' यह समझकर उनका आदेश पालन करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहो। सुनो, ऐसे सखा तुम्हारे और कोई नहीं हैं, ऐसे प्रेममय और कोई नहीं हैं, इतने अन्तरतर तुम्हारे अपने प्राण भी नहीं हैं! यह जानकर निर्भय होकर उनके संसारमें विचरो!

पत्रोत्तर

आपका पत्र पाकर प्रसन्नता हुई। नारायणकी इच्छासे जो कुछ आ पड़ती है उसको जो लोग श्रद्धापूर्वक मानकर ग्रहणकर सकते हैं वे वास्तवमें धन्य हैं। समझना पड़ेगा कि इसी प्रकारके व्यक्ति वास्तविक ज्ञान और भक्तिके उच्च शिखर पर पहुँचनेका सामर्थ्य रखते हैं।

वैशाख मासमें कालवैशाखी (आँधी, बवण्डर) जैसे देखनेमें आती है वैसे हो समय-समय पर शीतल हृदयको शान्ति देने-वाली मलय वायु भी हिलोरें लेती है—ये दोनों ही अति विचित्र हैं और यही उसकी अपूर्व सृष्टि है। सुख-दुःख दोनोंके इस अपरूप रूपमें जो मानव-जीवनमें आविर्भूत होकर अपना अरूप

रूप विकसितकर ,बालककी भाँति उन्हींको लेकर क्रीड़ा कर रहे हैं उन्हीं सर्वाश्रय, सर्वेश्वर रसिक-शिरोमणिको जिससे हम भक्ति-गद्‌गद् चित्तसे स्वीकार कर सकें। इस सम्बन्धमें भक्तके मनोभाव ये हैं—जो भक्त हैं वे जानते हैं कि जब उनके हृदय-सखा, प्राण-रमण भगवान् ही सब कुछ हैं तब सुख-शान्ति हो अथवा शोक-रोग-दुःख-मृत्यु ही हो—उससे भय क्यों करें ? अपनेसे अतिरिक्त या भिन्न बोध होनेसे ही न भय उत्पन्न होता है, ऐसी दशामें समस्त विश्व उससे एकदम: अभिन्न है यह बात जिसके मनमें समा गई है, उसके मनमें भय नामका कोई विकार उठ ही नहीं सकता। इसीलिये ज्ञानी अथवा भक्तके निकट सुख-दुःख आदि सभी भ्रम या कल्पना है। वे जानते हैं कि "अहं वै सर्वभूतेषु सर्वभूतान्ययो मयि।" बात तो यही है, फिर भी मायाके इस जगत्‌में सुख दुःखकी अजस्र लीला चल रही है यह भी देखनेमें आता है, इसलिये उसको एकदम अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। किन्तु वह जो कुछ भी हो, भक्त उसके कारण विह्वल नहीं हो सकते। भक्त-जन देखते हैं, मालाके डोरेकी भाँति वे ही सुख-दुःख आदि सांसारिक बातोंको धारण किये हुये हैं। जिस तरह केश लोम आदि सहजमें ही शरीरसे निकलते, प्रत्येक वृक्षमें फल फूल आदि सहज ही में स्वाभाविक रूपसे निकल आते हैं उसी तरह सुख-दुःख आदि सहस्रों मालरूपी पत्र-पुष्प उनके चरणकमलोंमें पड़े अपूर्व महिमाके साथ फूल रहे हैं। इसीलिये (भक्त लोग) दुःखसे भी भय नहीं करते, सुखको भी उपेक्षा नहीं

करते क्योंकि ये सब तो उन्हींके प्रभुकी महिमा है यही जानकर वे आनन्दसे नाच उठते हैं। वे कहते हैं कि उनका संस्पर्श हमें जो मिल गया है यही तो हमारा भाग्य है चाहे वह सुखरूप ही हो या दुःखरूप ही हो, उसमें स्पर्श तो उन्हींका है। वास्तवमें जगत्से अथवा जगत्के किसी भी कार्यसे उनको (भगवान्को) यदि पृथक् न किया जाय तो जगत्की किसी भी घटनासे ज्ञानी पुरुषका चित्त विचलित नहीं होता, और उनको पृथक् करके देखते ही जगतकी प्रत्येक बात एक बड़े भारी दुःखके रूपमें दीखती हैं। उस समय सभी कुछ दुःखदायी मालूम होता है और उस दुःख और वेदनाके भारसे हमारी गर्दन टेढ़ी होकर एकदम जमीन से जा लगती है।

जिन्होंने उनको सच्चे हृदयसे मान, रक्खा है, वे तो उनको पराया समझते नहीं, बल्कि बिल्कुल अपना प्रियजन समझते हैं, इसीलिये उनके दिये हुये सुख-दुःखमें उनको तनिक भी दुःखका अनुभव नहीं होता; जो उनका स्मरण करते हैं, उनके भजनके आनन्दसे जिनका चित्त परिपूर्ण रहता है वे दुःखको सुखसे पृथक् करके कभी नहीं देखते अथवा दिनरात भजन करते हुये दुःखोंको तौल-तौलकर देखनेका अभ्यास नहीं करते। वे जानते हैं कि प्रकाश और ज्वाला एक ही वस्तु है। अज्ञानी अभक्त लोग दुःखके समय भगवान्को याद करते हैं किन्तु सुखके समय उसी तरह उन्हें भूले रहते हैं। यदि सुखमें उन्हें याद रखते तो दुःख फिर पास ही नहीं आ पाता। यह भूल हमारे जीवनने कितनी ही बार

होती है। दुःखकी ज्वालासे निस्तार पानेका प्रधान उपाय है उनको स्मरण करना, उनका शरणागत होना। जगत्में कटु, तिक्त, खट्टा आदि कितने ही रस हैं, किन्तु सबके साथ शहद (मीठा) मिलाकर खानेसे अन्य रसोंकी तीव्रताका अधिक अनुभव नहीं होता, उसी तरह सुख, दुःख, रोग, शोक आदि जिस किसी रसका भी आविर्भाव हो उसको यदि भगवत् स्मरणके रसमें मिला लिया जाय तो उनकी तीव्रता बहुत कुछ कम हो जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं। उनके नाम-स्मरणकी ऐसी ही महिमा है! विपत्तिमें कम्पित और हर्षमें उल्लसित न होना पड़े यही बोध मानवकी चिरन्तन आकांक्षा रहा है। लोग समझते नहीं फिर भी इसी लक्ष्यको लेकर सब दौड़ रहे हैं। जीवोंके हृदयके अन्तस्तलसे यही प्यास जाग रही है। जो इस मानव-हृदयके इस चिरन्तन लक्ष्यको समझ गया वही वास्तवमें जाग गया। आपके जीवनमें भी यही आकांक्षा जाग्रत् हो रही है यह देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। भगवान् दया करके आपके हृदयकी इस गोपन अथच चिरन्तन आकांक्षाको सजीव करेंगे ही एवं नाना प्रकारकी विचित्र घटनाओंमें होकर वे आपको अपने श्रीचरणोंकी ओर आकर्षित रहे हैं यह मानो मैं स्पष्ट देख पा रहा हूँ। सुख-दुःख जो भी आवे, लाभ या क्षति, सभी कुछ, जिससे प्रसन्नचित्त होकर ग्रहण करनेका सामर्थ्य आपको प्राप्त हो, यही मेरा आशीर्वाद है। सकल जीवोंके परम सखा भगवान्ने आपके लिये जो व्यवस्थाकी है उससे कभी भी अकल्याण नहीं

होगा। सुख-दुःख उन्हींके दो चरण हैं, उन्हीं युगल चरणोंमें आइये, हमलोग प्रणाम करें। मैं निश्चय जानता हूँ कि भगवान्‌की करुणाकी किरणोंसे यह दुर्दिनका अन्धकार दूर होगा, विषादकी प्रबल आँधी प्रशमित होती जायगी। यह याद रखियेगा कि जो उनके शरणागत हैं वे इहलोक, परलोक दोनों लोकोंका जय कर चुके हैं। उनकी सत्वसंशुद्धि हो गई है, अतएव वे उस अभय परमपदको प्राप्त करके सदाके लिये निर्भय हो सके हैं।

तीव्र आकांक्षा

अनन्त सागर बुके नदी धाय मुखे
एकेबारे जाय डुबे आर कभु उठे ना,
कोन खाने छुटे जाय कूल मान भेसे जाय
जाति पाँति मुछे याय आर कभु जागे ना।
तेमन कबे वा हबे प्राण गिये प्रवेशिबे
तब माँझे प्राणसखा आर नाहि जागिबे,
एकमात्र रबे तुमि आर किछु नहे स्वामि
तब माँझे "आमि" मोर चिर तरे घुमाबे।
आकुल नयन मोर दरशन आशे मोर
हृदय जागिया आछे तब पथ चाहिया,
कबे चुपि चुपि आसि आमार हृदये पशि
तब प्रेम-सुधा हाँसि लबे मोरे हरिया।
ऊगो मोर चितचोर एकान्त यो पदे तोर
दिनु प्राण जौवन सकलि तो सँपिया,
प्रियतम फिरे चाल शुधु दृष्टि भिक्षा देह
कत युग बसे आछि थोमारि तो लागिया।

कत काल फिरितेछि पथे पथे घुरितेछि
तोमार परश लागि परारोर अमिया,
देखा ना पेलाम तव प्रारो उठे नव नव
असीम पियासा हेर फाटि जाय छातिया।
यत दिन रात काटे प्रारो हाहाकार छुटे
निशिदिन झर झर झरितेछे आँखिया,
विरह वेदना भार समय काटे न आर
हृदय पागल प्रभु दरशन लागिया।
एस उगो प्रारावंधु हृदय-कमल मधु
तव तरे अन्तरे रेखेछि ता झाँपिया
आसिबे आसिबे एई कत आशा हृदे वई
तुमि नाथ आस कई निशि जाय काँदिया।
एई धन जन गेह एई मन प्राण देह
लह मोर सब लह, लह मोरे लुटिया,
धरम करम ज्ञान, गरव गरिमा मान
दियेछि सबि तो आमि वोई पदे ढालिया।
हृदयकमल मोर परश आवेशे भोर
नयन तृषित मोर युग युग जागिया,
थाकिते पारि ना एका दाओ स्पर्श सुधामाखा
एस प्राणे प्राणधन हृदयेर आलिया

साधना

अभ्यास

मन बड़ा बेहयाहै, भैया। उसकी गतिको समझना जिस-तिसका काम नहीं। अभी देखो न कितना प्रसन्न, संशयशून्य है, समझ रहा है मानो मैदान मार लिया और लक्ष्मीके किसी वर पुत्रके समान शिष्ट और शान्त हो गया है, सब कुविचार जैसे निकल भागे हों। इस समय किसी कदर सावधान है, अपना हिताहित समझनेकी उसकी शक्ति जागी है, मालूम होता है उसके सम्बन्धमें अब सोच-विचार करनेका कोई कारण नहीं रहा। इस प्रकार मजेमें दिन कट रहे हैं। मनकी बुद्धिमानीपर क्रमशः आस्था स्थापन करनेमें अब कोई शंका-आशंका नहीं होती। कुछ दिन इस प्रकार बीत चले, व्येष्ठ पथि, कुमति

मन-ही-मन सब ताड़ गई—अब, बचाजी, बच कर कहाँ जाओगे ? अकस्मात् मनके एक कोनेमें एक मलिन मेघखण्ड देख पड़ा। मनने सोचा, यह कुछ नहीं है; पर क्रमशः यह छोटासा मेघ बढ़ चला, बढ़ता बढ़ता बृहदाकार हो गया और उससे, किसी निर्जन स्थानमें अकस्मात् वज्रपात होनेपर जैसे पथश्रान्त पथिकका मन विकल हो उठता है, वैसे ही मेरा मन व्याकुल हो उठा। समस्त चिन्ताकाश घन घोर घटासे आच्छन्न हो गया। समस्त मनोमण्डलमें घनघोर वर्षाका प्रलय-नृत्य आरंभ हुआ। जो समुद्र थोड़े समय पहले स्थिर था, अकस्मात् क्षुब्ध और चंचल हो उठा। पलभरमें प्रलय जैसा दृश्य उपस्थित हो गया। यह क्या बात है, कहो तो सही। एक मुहूर्त्तमें जरासी असावधानीके कारण ६ मासका मेरा सारा परिश्रम इसने नष्ट कर डाला ! हटाओ इस झगड़ेको ! मनका निग्रह करनेकी चेष्टा अब तो छोड़ ही देनी पड़ी। जब कुछ भी होना-जाना नहीं है, मनकी धृष्टता जब नष्ट होनेवाली ही नहीं है, तब व्यर्थकी चेष्टाके परिश्रमसे क्यों बेकार क्लेश सहें और क्लान्त हों ? इससे अच्छा तो यही है कि जैसे कुछ चल रहा है चलने दो ! स्रोतमें पड़ा शरीर उसीके पीछे बह जाने दो !

शान्त हो, इतने गुस्सा क्यों होते हो ? मनपर गुस्सा हो, यही तो ? यह काम तुम्हारा कैसा है, जानते हो ? जैसे चोरपर कोई गुस्सा हो और मट्ठीपर भात परोस कर खाये ! एक बात तुमसे पूछूँ ? मनका निग्रह करनेका तुम कबसे कितना प्रयत्न

कर रहे हो ? बालक यदि दुष्ट हो तो उसके माँ-बाप उसे कितना समझाते हैं, क्या क्या प्रयत्न करते हैं, घरमें मास्टर रखते हैं, कभी-कभी एकाध थप्पड़ भी जमा देते हैं, फिर थोड़ा समझाते हैं, मीठे बचन बोलते हैं, तब उसका मन वशमें आता है। तुम्हारा मन भी ठीक दुष्ट बालक जैसा है। अच्छा, अब यह तो बताओ तुमने उसे अच्छे रास्तेपर लौटा लानेका कितना प्रयत्न किया ? तुम लोग हो बहुत अधीर। चाहते यह हो कि जादूका-सा काम हो जाय, मन्त्रका आघात लगते ही डंठलसे पेड़ निकल पड़े, और उसमें फल भी लगें। और चटपट तुम उसे खा भी लो ! बस यही, मतलब है न ? बुद्धि यदि इसी जगह ऐसेही चक्कर काटा करे, तब तो इस आवर्त्तमें उसे आत्म समर्पण ही करना पड़ेगा। तुम यदि अपना मंगल चाहते हो तो अधीर-मत हो। हठात् सातवें आसमानपर उठनेकी इच्छा मत करो। रातो रात बड़े बन जानेकी चेष्टाको संयत करना होगा, कारण ऐसी चेष्टा स्वस्थ चित्तका लक्षण नहीं है। असल बात यह है कि, चेष्टा चाहिये, यत्न चाहिये, और दृढ़ अभ्यास चाहिये। बच्चेको कोई कठिन पीड़ा हो तो माँ सारी रात जागती रह जाती है, और किसी तरफ उसका ध्यान नहीं जाता, केवल बच्चेकी सेवा-शुश्रुषामें एकाग्रचित्त हो चिकित्सकके निर्देशानुसार सब काम करती और प्रतिक्षण रोगके लक्षण देखती रहती है; इस प्रकार एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, जबतक रोग नहीं हटता और बच्चा स्वस्थ और सबल नहीं हो लेता, तबतक उसकी

स्नेहमयी और सावधान दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं दे
इसी प्रकार जो कोई साधक होना चाहता है उसे ऐसाही
होगा, इस प्रकार अपने प्रयत्न और मनपर सदा ती
सावधान दृष्टि रखते हुए चलना होगा। तभी इस
प्रतिकार होगा। भगवानने अर्जुनसे कहा है:—

स्नेहमयी और सावधान दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार जो कोई साधक होना चाहता है उसे ऐसाही धीर बनना होगा, इस प्रकार अपने प्रयत्न और मनपर सदा तीक्ष्ण और सावधान दृष्टि रखते हुए चलना होगा। तभी इस व्याधिका प्रतिकार होगा। भगवानने अर्जुनसे कहा है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा (६ । २३)

यदि साधनामें जल्दी-जल्दी सिद्धि न भी मिले, तो भी अनिर्विण्ण चेतसा अर्थात् दुःख-बुद्धि जनित प्रयत्न शैथिल्यसे रहित चित्तके द्वारा अभ्यास किये चलना होगा।

"सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ (६ । २४)
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (६ । २५)

संकल्पप्रभव (मनमें निरन्तर होनेवाले संकल्प विकल्प— अनावश्यक चिन्ताओंको, निःशेपरूपसे परित्याग करना होगा और चतुर्दिक् धावमान इन्द्रियोंको विशेषरूपसे संयत करके योगका अभ्यास जारी रखना होगा। इसके अनन्तर "शनैः शनैः" सहसा नहीं, धीरे-धीरे धैर्य युक्त बुद्धिसे (क्योंकि पूर्व संस्कारवश मन समय-समयपर विचलित होगा, ऐसे) मनको आत्मसंस्थकर 'उपरमेत्' उपरतिका अवलम्बन करे।

देखो, अर्जुनके समान सब लोगोंको भी भगवान् कितना

सावधान किये देते हैं। और एक बात ध्यानमें रखो, जिस चिन्ता या जिस कार्यमें जिसका मन जितना ही लगा रहता है, उस चिन्ता अथवा कार्यमें उसके मनका उतना ही अधिक आग्रह होता है। भलाई-बुराईका उसमें कोई विचार नहीं रहता जब अभ्यास एक बार बद्धमूल हो जाता है, वह वृक्षकी शाखाओंके समान धरती के भीतर बहुत-बहुत दूर तक अपना मौरूसी हक जमा कर बैठ जाता है, तब उसे वहाँसे बेदखल करना बहुत ही कठिन होता है। फिर भी आशा-भरोसा छोड़ बैठना ठीक नहीं। भगवान्ने कहा है, "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" पतञ्जलिने भी वही बात कही है, "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"। एक तरफ सत्कार्य और सच्चिन्ताका अभ्यास हो और दूसरी तरफसे असत्कार्य और असच्चिन्ता उसमें बधिक हो—इस प्रकारकी चित्तवृत्तिका ही निरोध रूप योग बन सकता है। पुनः पुनः सत्कार्य और सच्चिन्ताका प्रभाव भी बहुत होता है। इस प्रकार की चेष्टा बराबर जारी रहनेसे वह अभ्यास ही बन जायगी। तब एक दूसरेको हरानेके इच्छुक दो भेड़ोंके समान सुमति और कुमतिमें लड़ाई लग जायगी। पहले-पहले कुमतिकी ही जय होती है। कारण अनेकानेक जन्मोंके अभ्यासने कुमतिको बहुत प्रबल बना रखा है। परन्तु सुमतिभी सुरपुरसे दिव्याभरण-विभूषित होकर समस्त देवताओंके आशीर्वाद मस्तक पर धारण कर जब रणक्षेत्रमें अवतीर्ण होती हैं तब उनके सामने कुमतिको भीषण और दुर्द्धर्ष होने पर भी अन्तमें हारना ही पड़ता है।

स्नेहमयी और सावधान दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार जो कोई साधक होना चाहता है उसे ऐसाही धीर बनना होगा, इस प्रकार अपने प्रयत्न और मनपर सदा तीक्ष्ण और सावधान दृष्टि रखते हुए चलना होगा। तभी इस व्याधिका प्रतिकार होगा। भगवानने अर्जुनसे कहा है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा (६ । २३)

यदि साधनामे जल्दी-जल्दी सिद्धि न भी मिले, तो भी अनिर्विण्ण चेतसा अर्थात दुःख-बुद्धि जनित प्रयत्न शैथिल्यसे रहित चित्तके द्वारा अभ्यास किये चलना होगा।

"सङ्कल्पप्रभवा-कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ (६ । २४)
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (६ । २५)

संकल्पप्रभव (मनमें निरन्तर होनेवाले संकल्प विकल्प— अनावश्यक चिन्ताओंको, अनि शेषरूपसे परित्याग करना होगा और चतुर्दिक् धावमान इन्द्रियोंको विशेषरूपसे संयत करके योगका अभ्यास जारी रखना होगा। इसके अनन्तर "शनैः शनैः" सहसा नहीं, धीरे-धीरे धैर्य युक्त बुद्धिसे (क्योंकि पूर्व संस्कारवश मन समय-समयपर विचलित होगा, ऐसे) मनको आत्मसंस्थकर 'उपरमेत्' उपरतिका अवलम्बन करे।

देखो, अर्जुनके समान सब लोगोंको भी भगवान् कितना

सावधान किये देते हैं। और एक बात ध्यानमें रखो, जिस चिन्ता या जिस कार्यमें जिसका मन जितना ही लगा रहता है, उस चिन्ता अथवा कार्यमें उसके मनका उतना ही अधिक आग्रह होता है। भलाई-बुराईका उसमें कोई विचार नहीं रहता जब अभ्यास एक बार बद्धमूल हो जाता है, वह वृक्षकी शाखाओंके समान धरती के भीतर बहुत-बहुत दूर तक अपना मौरूसी हक जमा कर बैठ जाता है, तब उसे वहाँसे बेदखल करना बहुत ही कठिन होता है। फिर भी आशा-भरोसा छोड़ बैठना ठीक नहीं। भगवान्ने कहा है, "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" पतञ्जलि-ने भी वही बात कही है, "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"। एक तरफ सत्कार्य और सच्चिन्ताका अभ्यास हो और दूसरी तरफसे असत्कार्य और असच्चिन्ता उसमें बधिक हो—इस प्रकार-की चित्तवृत्तिका ही निरोध रूप योग बन सकता है। पुनः पुनः सत्कार्य और सच्चिन्ताका प्रभाव भी बहुत होता है। इस प्रकार की चेष्टा बराबर जारी रहनेसे वह अभ्यास ही बन जायगी। तब एक दूसरेको हरानेके इच्छुक हो भेड़ोंके समान सुमति और कुमतिमें लड़ाई लग जायगी। पहले-पहले कुमतिकी ही जय होती है। कारण अनेकानेक जन्मोंके अभ्यासने कुमतिको बहुत प्रबल बना रखा है। परन्तु सुमतिभी सुरपुरसे दिव्याभरण-विभूषित होकर समस्त देवताओंके आशीर्वाद मस्तक पर धारण कर जब रणक्षेत्रमें अवतीर्ण होती हैं तब उनके सामने कुमति को भीषण और दुर्द्धर्ष होने पर भी अन्तमें हारना ही पड़ता है।

हमारे सब शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके आख्यानों और उपाख्यानोंमें यही बात प्रमाणित हुई है। एक दिनके सत्कर्म, सच्चिन्तनका भी कितना मूल्य कितना बल है, इसका हमलोग कभी विचार नहीं करते। समझते हैं कि समुद्रमें एक अर्घ्य देनेसे क्या होगा? पर ऐसा नहीं है, एक दिनका पुण्य कर्म भी मनुष्यको पापके गहरे पङ्कसे बलपूर्वक ऊपर खींच लाता है। किसी सुदूर अतीत कालमें एक-एक करके परमाणु जमा होना आरम्भ करते हैं। युग-युगान्तर बीत जाते हैं, वे ही परमाणु पुञ्ज लोकदृष्टिकी ओटमें जमते-जमते एक दिन द्विपाकार होकर सामने प्रकट होते हैं। उसी प्रकार छोटे-छोटे सत्कर्मोंके फल संचित होते होते दीर्घकाल पश्चात् मनुष्यके खड़े होने योग्य स्थान प्रस्तुत कर देते हैं—पथ दिखा देते हैं। इसीलिये कहता हूँ, एक बार सत्कर्म और सच्चिन्तनके नियम-वेष्टणसे अपने आपको बाँध ले तो फिर कोई भय न रहेगा। "सत्त्वात् सञ्जायतेज्ञानम्"—सत्त्वगुणकी वृद्धि के साथ साथ ज्ञानकी वृद्धि होती रहती है और ज्ञान जैसे जैसे परिस्फुट होता है, वैसे वैसे मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटता जाता है। तब ज्ञानके निर्मल आलोक, शान्तिकी कौमुदी छटासे उसका समस्त मन अधिकृत हो जाता है। "ज्ञानं लब्ध्वापरां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति"—ज्ञान लाभ होने पर तुरंत शान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है। जो यत्न करता और अभ्यासके द्वारा ज्ञान आयत्त करनेकी चेष्टा करता है, वही भगवान्‌की कृपा भी समझ सकता है। आज हो या आजसे दस बरस बाद

हो, अभ्यास ही उसे गंतव्य स्थान तक पहुंचाने पाता है। अतः अभ्यास ही सब पापोंका विनाशक और सब पुण्य कर्मोंका उद्दीपक है। अभ्याससे बढ़कर सुदृढ़ शक्ति और दुर्भेद्य आश्रय मनुष्यके लिये और नहीं है।

वैराग्य

वैराग्य जितना कहनेमें सहज है उतना वास्तवमें सहज नहीं है। असली वैराग्यका उदय होना कठिन है। अवश्य ही संसारकी ज्वाला-यन्त्रणाओंसे घबराकर कभी-कभी घरसे निकल भागनेकी इच्छा होती है परन्तु वह श्मशान-वैराग्य ही होता है। बहुत समयतक नहीं टिकता। कभी-कभी पत्नीके वाक्य-प्रहारोंसे भी चित्तमें वैराग्य उत्पन्न होता है परन्तु वह भी असली नहीं। यह सब होनेपर भी वैराग्यके बिना काम नहीं चल सकता। जबतक वैराग्य नहीं होता तबतक अध्यात्म-पथमें तो ताला ही लगा रहता है। अध्यात्ममार्गमें वैराग्यकी बड़ी ही आवश्यकता है। गेरुआ कपड़ा पहनने, जटा बढ़ाने या माथा मुड़ाकर नाचते हुए घूमनेसे ही वैराग्य नहीं होता। वैराग्य बड़ा कठिन है। कठि-नताके कारण ही तो उसका स्थान इतना ऊँचा है। वैराग्य

शब्दकी व्युत्पत्ति ही देखिये—'विरागस्य भाव वैराग्यम्'। विराग कहते हैं राग या आसक्तिके अभावको। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयमें राग होना चित्तके विक्षेपका कारण है। विक्षिप्त चित्तमें शान्ति नहीं होती और 'अशान्तस्य कुत सुखम्?' अशान्तको सुख कहाँ है? सारांश यह कि वैराग्यहीन पुरुषको शान्ति-सुखकी प्राप्ति नहीं होती और शान्तिहीन व्यक्ति ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं होता। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

'जो विधेयात्मा (मनको वशमें कर रखनेवाला) पुरुष राग-द्वेषरहित होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका उपभोग करता है वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

जिसमें वैराग्यकी प्रबलता होती है उसकी मुक्तिमें विषयभोग कोई बाधा नहीं दे सकते। दृष्टान्तके लिये राजा जनक और महर्षि वसिष्ठ आदिके नाम लिये जा सकते हैं।

चारों ओरसे विषयोंका प्रलोभन, इन्द्रियोंकी अत्यन्त विषय-लोलुपता और मनकी प्रबल विक्षेपशक्ति ये सभी वैराग्यके प्रति-कूल हैं। तथापि वैराग्य तो होना ही चाहिये। क्योंकि वैराग्यके बिना चित्तमें सुख और आनन्द नहीं हो सकता। अधिक क्या, चित्तका कोई आश्रय नहीं रहता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो मुक्ति वैराग्यके साधनसे होती है, वह हमें नहीं चाहिये।' इसका क्या अर्थ है ? अवश्य ही यह एक विचारणीय विषय है। यह कपट-वैराग्यपर सच्चे कर्मवीर-का एक प्रहार है। परन्तु मुक्ति नहीं चाहिये, ऐसा कहना तो सत्यको छिपाना है। दुःखसे मुक्ति, अभावसे मुक्ति, ऋणसे मुक्ति, अज्ञानसे मुक्ति, सन्देहसे मुक्ति, कपटतासे मुक्ति, द्वेषसे मुक्ति और नाना प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति, सभी तो 'मुक्ति' चाहते हैं, सभीकी तो यह भावना है कि मुक्ति मिलनेसे ही हमारे प्राण बचेंगे। यह कोई नहीं कह सकता कि मैं मुक्ति नहीं चाहता। जब मुक्ति चाहते हैं तो उसके लिये वैराग्य अवश्य ही होना चाहिये। मुक्ति हो, पर वैराग्य नहीं, यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आती। किसी भी प्रकारकी मुक्तिके लिये त्याग-वैराग्य की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल हमारे देशमें जटा-चिमटाधारियोंके उत्पातसे 'वैराग्य' शब्द लोगोंकी दृष्टिमें कुछ दूषित-सा हो चला है। परन्तु वास्तवमें उनका तो वह वैराग्य नहीं है, वह है 'वैराग्यका व्यापार'। वैराग्यका यह अर्थ नहीं है कि हाथपाँव न हिलाकर चुपचाप बैठ रहो और अपनेको दूसरेके गले मँढ़कर खूब घी-शक्कर उड़ाओ !* वैराग्य

* असली वैराग्यवान् पुरुष भी कभी-कभी बेकार-से मालूम होते हैं, परन्तु इस श्रेणीके पुरुषोंको समझनेमें हम बड़ी भूल कर जाते हैं। वास्तवमें वे ही लोग सर्वोच्च श्रेणीके साधक हैं। उनका हृदय अगाध समुद्रके सदृश गम्भीर होता है। उनका कर्मत्याग हमलोगोंकी तरह 'कायक्लेशभयात्' नहीं होता। फल पकनेपर जैसे आप ही टूट पड़ता है, वैसे ही उनका कर्म-बन्धन टूट जाता है। वे जिस अनोखे राज्यमें विचरते

बड़ा ही पवित्र और सुन्दर है। जिनको वास्तविक वैराग्यकी

है उसमें पहुँचनेपर सभीको 'जड़भरत' बन जाना पड़ता है। बहुत जन्मोंतक कठोर तपस्या करनेपर भगवत्कृपासे इस अवस्थाका अधिकार मिलता है। हम कामविमूढ़चित्त मनुष्य इस रहस्यको कैसे समझ सकते हैं? अनेक प्रकार चेष्टा करनेपर चित्तकी शुद्धि होती है, तब निष्कामभावसे कर्म करनेकी शक्ति आती है। निष्काम कर्म करनेवालोंका कर्म ही उपासना कहलाता है। (work is worship) उनके कर्मोंमें कामनाकी गन्ध नहीं रहती, उनकी समस्त कर्मचेष्टा केवल भगवदर्थ ही होती है। इन निष्काम कर्म करनेवालोंसे भी परे उन महात्माओंका स्थान है जो निकम्मे-से प्रतीत हुआ करते हैं। उन लोगोंका एकमात्र कर्म होता है 'उपासना' (worship is work) दूसरे कर्मके लिये चेष्टा भी नहीं होती। कर्मका जो कारण होता है वह उनमें नहीं रहता। अतएव कर्मत्यागका उनको कोई प्रत्यवाय नहीं होता। वे भगवद्भाव या स्वरूपमें सर्वदा ही तन्मय रहते हैं (इसीका नाम असली उपासना है)। ऐसे महात्माओंसे जगत्का जितना कल्याण होता है उतना हमलोगों जैसे लाखों सकाम कर्मी और हजारों निष्काम कर्मियोंसे भी नहीं होता। ऐसे महात्माओंका अब भी जगत्में अस्तित्व है। इसीलिये पृथिवी हमलोगोंके इतने अत्याचार और पापको सहकर भी अबतक रसातलमें जानेसे बची हुई है। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। हमलोगोंमें अधिकांश तो तमोगुणकी प्रबलतासे आलस्य, निद्रा या वृथा कलहमें ही समय खो देते हैं। कुछ लोग रजोगुणकी अधिकतासे देशसेवा, लोकोपकार, शहर सफाई करने या रोगियोंकी सेवा करनेका आग्रह दिखाते हैं। बाहरी प्रशंसा प्राप्त करनेकी उत्तेजना ही अधिकांशमें इस आग्रहका कारण होती है। यह सत्त्वगुणका फल नहीं होता। जिसकी जड़में कामना छिपी हुई है वह कर्म नितान्त सकाम और हेय ही है, अवश्य ही तामसी पुरुषोंकी जड़ताकी अपेक्षा यह काम भी बहुत ही ऊँचा है।

प्राप्ति होती है, उनका जीवन धन्य है। दूसरेके लिये अपनेको भुला देना, विश्वात्माके लिये अपने सम्पूर्ण अभिमानको विसर्जन कर देना, वैराग्यको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। प्रेम इसीलिये इतना मधुर है कि वह वैराग्यमें सना हुआ है। वैरागी 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' समस्त कामनाओंसे निःस्पृह होता है। वह किसीके भी सुखके पथमें बाधक होकर नहीं बैठता। वह सबके लिये मार्ग छोड़ देता है। वह किसीसे कुछ भी नहीं चाहता, क्योंकि वह विनियतचित्त है। वह सबके साथ अपने प्राणोंसे बढ़कर प्रेम करता है, क्योंकि जगत्में उसके लिये कोई पराया नहीं है। वह धन और यशकी प्रत्याशा नहीं करता क्योंकि वह निष्काम है। उसका हृदय किसी भी अवस्थामें विकल नहीं होता क्योंकि उसने अपना चित्त प्रभुको अर्पण कर दिया है—वह भगवान्‌का सेवक बन गया है। वैराग्यहीन प्रेम तो प्रेम नहीं है, वह है 'महामोह'। इसीलिये तो प्रेमिक वैष्णवों-को लोग वैरागी कहा करते थे। दुर्भाग्यसे आजकल वैरागीका अर्थ बिल्कुल पलट गया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि हमें वैराग्य नहीं चाहिये। असली वैराग्य तो अवश्य ही चाहिये।

वैराग्य हमें क्यों चाहिये? इस विषयपर आगे चलकर कुछ विस्तारसे कहा जायगा। पहले वैराग्यका स्वरूप क्या है यही बतलानेकी चेष्टा की जाती है। जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें प्रसन्न नहीं होते और अप्रियकी प्राप्तिमें दुःखित नहीं होते, इष्टके नाशमें

जिनको शोक नहीं होता, इष्टकी प्राप्तिके लिये लाभाको तरह जो हर्षविह्वल और अधिक पालनेके लिये व्याकुल नहीं होते, जिनका शत्रु-मित्रमें समभाव है, जो मानापमानको समान समझते हैं, शीतोष्णादि सुखदुःखोंमें जिनको विकार नहीं होता, जो स्तुति-निन्दासे विचलित नहीं होते, जो बड़े चतुर स्थिरबुद्धि, सदा सन्तुष्ट, सर्वभूतोंमें अद्वेष्टा, मैत्र, करुण, निरहङ्कार, क्षमाशील सभी विषयोंमें अनपेक्ष और उदासीन रहते हैं वे ही वैराग्यवान हैं। इन्हींको गीतामें भक्तके नामसे बतलाया है। इन सब लक्षणों-में कुछमें तो चित्तवृत्तिको कल्याणमय भावोंमें लगानेकी बात कही गयी है, और कुछमें उसे असत्-कर्म या असत-चिन्तनसे हटानेकी। इसीसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। अभ्यास करते-करते जब यह सब बातें सहज और स्वाभाविक वृत्तिरूपमें परिणत हो जाती हैं, बलात्कारसे इनको चित्तमें घुसानेकी चेष्टा नहीं होती, तब यह सब भक्तिके लक्षण कहलाने लगते हैं।

महर्षि पतञ्जलिने पर और अपर वैराग्यके दो सूत्रोंमें इस एक ही विषयका प्रतिपादन किया है। असली वैराग्य होनेसे ही हमें यथार्थ सुखका पता लगता है। हमलोग जिसे सुख कहते हैं वह यथार्थ सुख नहीं है। जगत्के सभी सुख क्षणभंगुर और दुःखदायक हैं, अतएव उनसे चित्तको हटाना ही पड़ेगा। ऐसा किये विना असली सुख हमें कभी नहीं मिल सकता।

इतना होते हुए भी हम इस क्षणिक सुखकी मायाको नहीं

छोड़ सकते! इस ज़रा-से सुखके लिये संसारमें कितनी लूट-मार मच रही है, यह सब जानते हैं।

इसीलिये तो कहा जाता है कि वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अभी वैराग्यका उदय न हुआ हो तो विचारके द्वारा इन क्षणिक सुखोंकी आड़में छिपे हुए दुःखके भारको बाहर निकालकर देखना चाहिये। दोष सामने आ जानेपर उसपरसे आस्था आप ही हट जायगी। जबतक विषय-सुखोंपर आस्था बनी हुई है तबतक ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बारबार दुःख ही मिलता है। 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सुख भूमामें ही है अल्पमें नहीं है। अतएव असली सुखकी प्राप्तिके लिये क्षणिक सुखोंमें वैराग्य होना ही चाहिये।

अग्निके पास जाकर बैठिये, अपने शरीरमें गर्मी मालूम होगी। शरीर तो और समय भी रहता है तथा अग्निमें भी गर्मी रहती ही है, परन्तु सब समय तो अग्निसे आपके शरीरको क्लेश नहीं होता। जब शरीर अग्निके पास आता है तभी उसमें क्लेशका अनुभव होता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि अग्निके साथ शरीरका कोई सम्बन्ध है। जब शरीर अग्निके समीप आता है तभी अग्नि उस शरीरके अन्दर अपने तापका सञ्चार कर देती है और शरीर भी अग्निके तापसे तप्त हुए बिना नहीं रह सकता। यह सब तो होता है पर बीचहीमें यह जलन क्यों होती है? इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग-वियोग तो चला ही करता है, परन्तु हम उसके लिये सुख-दुःखका अनुभवकर

सुखी-दुखी क्यों होते हैं ? यही तो असली प्रश्न है। अग्निके साथ शरीरका जन्म-जन्मान्तरका संयोग भले ही क्यों न हो, स्त्री-पुत्रादिका विच्छेद सदा ही क्यों न होता हो, यदि हमें प्रकृति-पुरुषका विवेक या आत्मा-अनात्माका यथार्थ ज्ञान हो तो इन सब बातोंसे हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। हमारा यह 'अहं ममेति भाव' मैं-मेरापन ही सब चौपट कर रहा है। मनका यही संस्कार सबसे बड़ा बुरा संस्कार है। यही भवरोगकी जड़ है। चिकित्सा इसीकी होनी चाहिये।

यहाँपर आत्मा-अनात्माके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, उसे जरा मन लगाकर पढ़ना चाहिये। हमारे सभी कामोंमें प्रत्येक चिन्तनमें 'मैं' का पुछल्ला लगा ही रहता है। मैं देखता हूँ, मैं करता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ, सबमें ही 'मैं'। श्रीगीता और अन्यान्य अध्यात्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि यही सबसे बड़ी भूल है। मैं करता हूँ, मैं करता हूँ इत्यादि विचार ही भूलसे भरे हुए हैं! वास्तवमें 'मैं' न कुछ करता है, न सोचता है और न बोलता ही है। ये काम हैं प्रकृतिके, हम भूलसे कह रहे हैं 'मेरे'। (प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः) प्रकृति *

* प्रकृतिमें चौबीस तत्त्व हैं—महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ (गीता १३ । ५) पाँच महाभूत (आकाशतन्मात्र, वायुतन्मात्र, अग्नितन्मात्र, जलतन्मात्र और पृथिवीतन्मात्र), अहङ्कार (रजोगुण और तमोगुणकी जाग्रतिसे अहङ्कारकी

ही देह और इन्द्रियोंके आकारमें परिणत होकर सब प्रकारके कर्म कर रही है। इसमें आत्माका कर्तृत्व तो उसके देहाभिमानके कारण ही प्रतीत होता है। स्वयं उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है। बुद्धिके भीतरसे हम आत्माको देख पाते हैं। बुद्धि मानो दर्पण है, परन्तु दर्पणपर जहांतक मैल जमा रहता है वहांतक उसमें प्रतिबिम्ब साफ नहीं दीखता। इसी प्रकार गुणयुक्त मलिन बुद्धिमें आत्मा भी मलिन दीखता है। आत्मा वास्तवमें निर्विकार और साक्षी-स्वरूप है। आत्मामें जो विकार दीख पड़ता है वह विषयेन्द्रियके संयोगसे होनेवाला बुद्धिका विकार है। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण ही सुख-दुःख और मोहको उत्पन्न करते हैं। यह प्रकृतिका स्वतःसिद्ध व्यापार है। स्फटिक निर्मल तथा सफेद होनेपर भी जवा-पुष्पके संयोगसे वह लाल दीखने लगता

उत्पत्ति होती है, पञ्चमहाभूत इसी अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं), बुद्धि (सृष्टिकी आदिम सत्वगुण बढ़नेसे ज्ञानात्मक महत्तत्व या बुद्धिकी उत्पत्ति होती है), अव्यक्त (मूल प्रकृति त्रिगुणमयी माया—सत्व, रज और तमोगुणकी साम्यावस्था), इन्द्रियाणि (दस इन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां —चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा, पांच कर्मेन्द्रियां—वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ), एक (मन) इन्द्रियगोचर (तन्मात्र व्यक्त होकर स्थूलाकारसे इन्द्रियगोचर होते हैं, पांच तन्मात्राओंके विकार—स्थूल आकाश, स्थूल वायु, स्थूल अग्नि, स्थूल जल और स्थूल पृथिवी या शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) यही चौबीस पदार्थोंका समूह क्षेत्र कहलाता है।

है। इसी प्रकार बुद्धिमें जो सुख-दुःखके खेल होते हैं, वे बुद्धिके सान्निध्यवश आत्मामें अध्यस्त या आरोपित हो जाते हैं। इच्छा, सुख-दुःख, चेतना, धृति आदि सब प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं!

> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
> एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
> (गीता १३। ६)

अतएव जो कुछ भी कार्य हो रहा है सो सभी प्रकृतिका है। सुख-दुःखादि, मनोवृत्ति सभी क्षेत्रके धर्म हैं, आत्माके नहीं हैं। इसीलिये भगवान्ने कहा है—

> नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
> (गीता ५। ८)

'तत्त्ववेत्ता योगी समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता' इसका कारण यही है कि आत्माके साथ योगयुक्त होनेपर उसमें प्रकृतिका अध्यास नहीं रहता। तब उसे इस बातका पता लग जाता है कि आत्मा वास्तवमें कुछ भी नहीं करता। करना-कराना आदि सम्पूर्ण व्यापार प्रकृतिके कर्मोंका अहंकार आत्मामें क्यों होने लगा? आत्मज्ञानी इस बातको जानते हैं, इसीसे उनको कर्म करनेपर भी अहंकार नहीं होता।

> पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
> साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८। १३-१५)

शारीरिक, मानसिक और वाचिक जो कुछ भी न्याय्य (धर्मानुमोदित) और अन्याय्य (धर्मविरुद्ध) कर्म मनुष्य करता है उसमें ये पाँच हेतु रहते हैं। अधिष्ठान (स्थूल शरीर), कर्ता (अहङ्कार), अनेक प्रकारके करण (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि), विविध चेष्टाएँ (पाँचों प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान), और दैव* अर्थात् अधिष्ठात्री देवता-श्रोत्रके अधिष्ठात्री देवता दिशाएँ, त्वक्के वायु, चक्षुके सूर्य, जिह्वाके वरुण और घ्राणके अश्विनी-कुमार, वाक्‌के अग्नि, हाथके इन्द्र, पैरके उपेन्द्र, वायुके यम और उपस्थके प्रजापति, मनके चन्द्रमा, बुद्धिके ब्रह्मा, अहङ्कारके शङ्कर और चित्तके विष्णु, ये सब देवगण ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारको अपने-अपने विषयोंमें लगाते हैं। इन देवताओंकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको भोगती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियादिके कर्म सभी प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं हैं।

'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'—कार्य (शरीर), करण (सुखदुःखसाधनरूप इन्द्रियाँ) के सम्बन्धमें कर्तापन है प्रकृतिका,

---

* 'दैव' शब्दसे पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार भी माने जाते हैं।

—सम्पादक

अतएव 'मैं' कर्ता नहीं है। इतनेपर भी, आत्मामें कर्तापन क्यों दीखता है? 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'—पुरुषके प्रकृतिस्थ होने अर्थात् प्रकृतिके परिणाम या कार्य देहमें तादात्म्यभावसे निवास करनेके कारण प्रकृतिके गुण सुख-दुःखादिको यह भोग रहा है, ऐसी प्रतीति होती है। पुरुषको भोग प्रतीत होता है आत्मा और अनात्माकी पृथक्ताका ज्ञान न होनेके कारण अध्यास उत्पन्न होनेसे। एक पदार्थको दूसरे पदार्थमें आरोपित कर देनेको अध्यास कहते हैं। जैसे कोई कहे कि 'मैं स्थूल हूँ' यह स्थूलत्व धर्म देहका है आत्माका नहीं है, परन्तु मैं स्थूल हूँ यों कहकर देहका धर्म आत्मामें आरोपित कर दिया जाता है।

इस प्रकार विवेकपूर्वक आत्माको अनात्मासे अलग करके देखनेकी चेष्टाको ही वैराग्यका साधन कहते हैं। 'मैं' का स्वरूप ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब असली जगहपर मनुष्य जा पहुँचता है तभी भूमानुसन्धान (आत्माकी खोज) आरम्भ होता है। वेदने 'नेति-नेति' कहकर यह बतला दिया है कि न यह 'मैं' है और न वह 'मैं' है। तब 'मैं' क्या है? भगवान्‌ने गीतामें इसका उत्तर दिया है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३ । ३१)

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष. पर: ॥
(१३। २२)

सर्वत.पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(१३। १३)

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ॥
(१३। १४)

वहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३। १५)

अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
(१३। १६)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस. परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३। १७)

अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३। १२)

ब्रह्म अनादि है, परम है, निरतिशय है वह सत्—प्रमाणका
विषय भी नहीं है और असत्–निषेधका भी विषय नहीं है पर

अघटनघटनापटीयसी शक्तिके द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में वह अवस्थित है—सर्वमय है। सोना जैसे कुण्डलके बाहर-भीतर सब जगह है इसी प्रकार ब्रह्म भी चराचर भूतप्राणियोंके अन्तर और बाहर स्थित है।

श्रुतियोंमें 'नेति नेति' क्यों कहा है? एक मनुष्य बाघ देखनेको वनमें जा बैठा। उसे मालूम था कि बाघ वनमें रहता है परन्तु वह बाघको पहचानता नहीं था। वनमें केवल एक बाघ ही तो नहीं है, और भी अनेक जीव हैं। वह मनुष्य एक-एक जीवको देखता हुआ लक्षणोंसे मिलाकर कहता था कि यह भी बाघ नहीं है, यह भी बाघ नहीं है। यों करते-करते जब सब-के-सब प्राणी बाहर निकल गये तब यह सिद्ध हो गया कि इनमेंसे कोई भी बाघ नहीं है। अब जो बाकी रह गया है वही बाघ है। इसके बाद जब बाघ बाहर निकला तब उसका अपना एक स्वरूप भी प्रकट हो गया। यद्यपि यह स्वरूप उसने पहले देखा नहीं था, परन्तु अब उसके देखते ही मनमें पक्का विश्वास हो गया कि वास्तवमें यही बाघ है। इसीका नाम है 'प्रत्यय'। प्रत्यय करनेकी वस्तुमें भी उसकी एक अपनी स्वाभाविकी शक्ति रहती है, वह प्रमाण-निरपेक्ष होकर भी अपनेको आप ही प्रकट करती है। वह स्वयं ही अपना प्रमाण है। जिस समय यह निश्चय हो जाता है कि ये सब वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं, बस, उसी समय वह आत्मा-ब्रह्म प्रकट हो जाता है। उस समय यह बात किसीके न समझनेपर भी समझमें आ जाती है। यही 'नेति

नेति' कहकर उसे ढूँढ़ना है और इसी भावका नाम है 'वैराग्य'। नेति नेतिके विचारसे जब यह पता लग जाता है कि इन सब वस्तुओंमें कोई भी परमात्मा नहीं है तब स्वयं ही यह भाव होता है-फिर इन सबको लेकर हम क्या करें? चिरकालसे-जन्मजन्मान्तरसे जिसको ढूँढ़ रहे हैं, उस प्राणाराम-प्रियतम पदार्थकी प्राप्तिको छोड़कर इन कंकड़-पत्थरोंके लिये जी ललचानेके क्या लाभ है। इस प्रकार सब ओरसे मनको अपने प्रियतमकी ओर लगा देना ही वैराग्य है। जबतक विषयोंकी तृष्णा रहती है, विषयोंमें स्वादका बोध होता है, तबतक यही समझना चाहिये कि अभी परमात्माको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं हुआ। 'मुझे विषय और भगवान् दोनों ही अच्छे लगते हैं' यों कहनेवालोंको मिथ्यावादी पाखण्डी समझना चाहिये। ऐसे लोगोंकी बातें भी सुनना उचित नहीं। अवश्य ही उन लोगोंकी बात दूसरी है, जिन्होंने समस्त इन्द्रिय-भोग्य विषयोंको भगवान्के यथार्थ प्रसादरूपसे ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त कर ली है। मैं परमात्माको चाहता हूँ, इसका अर्थ ही यह होता है कि मैं संसारके सुखसे सुखी नहीं हूँ, तृप्त नहीं हूँ, उससे और भी अधिक आनन्दकी मुझे चाह है। भगवान्में वह ऐकान्तिक आनन्द पूर्ण मात्रामें है, इसीलिये मुझे भगवान्की आवश्यकता है। इतनी तृप्ति, इतना आराम तथा इतनी शान्ति भगवान्के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं मिलती। इसी हेतुसे मैं उनका आश्रय प्राप्त करनेके लिये लालायित हूँ। इसका

अर्थ यह नहीं है कि स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि आदिमें सुख ही नहीं है, सुख सभीमें है परन्तु वह सुख निरालिस नहीं है। उस सुखके साथ दुःखकी बडी भारी मिलावट है। वह सुख वास्तवमें दुःखसे मिला हुआ ही है। इसीलिये इन सब सुखोंको छोड़कर मनुष्यजीवनका एकमात्र परम लोभनीय लक्ष्य उस यथार्थ, सत्य और अविमिश्र सुखकी खोज करना है। यही कर्तव्य भी है। बस, इस अकृत्रिम (असली) वस्तुको प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण कृत्रिम (नकली) वस्तुओंको हटा देनेका नाम ही वैराग्य है। अब इसके बाद आता है—

परवैराग्य

महर्षि पतञ्जलिजीने इसका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १। १६)

'पुरुषख्याते' अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो जानेके कारण 'गुणवैतृष्ण्यम्' गुणमात्रमें जो वितृष्णा हो जाती है उसे 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ वैराग्य कहते हैं।

इस परवैराग्यके प्राप्त होनेसे साधकको अपनी प्राप्तव्य वस्तु मिल जाती है। इसीसे उसके हृदयमें अन्य किसी वस्तुके पानेकी जरा-सी भी आशा नहीं रह जाती। उसके हृदयदेशसे अविद्याकी ग्रन्थि सदाके लिये टूट जाती है। इस वैराग्यको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् पुनः पतनकी आशङ्का नहीं रहती। इसीको लक्ष्य करके श्रीभगवान्ने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

उसके अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेश अशेषरूपमें मिट जाते हैं, इसीसे उसकी ऐसी अवस्था होती है। यही मुक्ति है, इस मुक्ति और परवैराग्यमें कोई भी अन्तर नहीं है।

अब एक बार श्रीगीताके भावको फिर समझना चाहिये। भक्त बननेके लिये कन्धोंपर जो भार उठाना पड़ता है वह साधारण नहीं है। हाथ-पैर सिकोड़कर चुपचाप सो रहनेकी सुविधा तो उसमें है ही नहीं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

(गीता ३।१७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मतृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है उसके लिये कोई कर्तव्य (शेष) नहीं है।'

ज्ञानीके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इस बातको सुनकर लोग बिना ही समझे-बूझे कहीं कर्म छोड़कर ज्ञानी सजनेके लिये तैयार न हो जायँ, इसीलिये भगवानने पहलेसे सावधान कर दिया है कि—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(गीता ३।४)

'न तो कर्मोंके न करनेसे नैष्कर्म्य प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागसे ही सिद्धि मिलती है।'

चित्तकी शुद्धि हुए बिना ज्ञान नहीं होता। चित्त-शुद्धिके लिये अपने-अपने आश्रमोचित कर्म करने चाहिये। 'अकर्मकृत' बनकर कोई रह नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति जबर्दस्ती उसे कर्ममें लगा देती है; अतएव कर्मेन्द्रियोंके निरोधसे ही कर्मत्याग नहीं होता। मन तो काम करता ही रहता है। इससे जो ज्ञानेन्द्रियोंको ईश्वराभिमुखी करके कर्मेन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य कर्म करता है वही फलासक्तिरहित पुरुष श्रेष्ठ है। अतएव 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' तू नियत कर्मोंको कर, और—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'अनासक्त भावसे निरन्तर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर। अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है।'

इन बातोंके रहस्यको जान लेनेसे ही सब बातोंकी मीमांसा हो जायगी। पहले 'आत्मरति' 'आत्मतृप्त' और 'आत्मन्येव च सन्तुष्ट' इन तीनोंका उद्देश्य समझ लेनेपर 'तस्मादसक्त सततम्' का मर्म समझनेमें सुभीता होगा। 'आत्मरति' अर्थात् जिसकी रति विषयोंमें नहीं परन्तु केवल 'आत्मा' में है। आनन्दप्राप्तिकी इच्छासे ही किसी पदार्थमें हमारी आसक्ति होती है। वस्तुमें आसक्त होना इन्द्रियोंका स्वभाव है। स्वभाव छूटता नहीं, तब क्या करना चाहिये? चित्तवृत्तिके मुखको उलट देना

चाहिये। विषयके साथ जैसे ही इन्द्रियका संयोग हो वैसे ही इन्द्रियोंके साथ उस विषयी (आत्मा) का सम्बन्ध जोड़ देना उचित है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

(योगदर्शन १ । ३)

अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधकालमें द्रष्टा (आत्मा) की स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, इसे ही योग कहते हैं।

इन्द्रियके साथ विषयका संयोग होना, चित्तका इन्द्रियके द्वारा उसके विषयको ग्रहण करना है और इस ग्रहण करनेका अर्थ है—चित्तका विषयाकारभावको प्राप्त हो जाना। इसीसे जब किसी एक विषयका चिन्तन होता है ठीक उसी समय दूसरेका नहीं हो सकता। इन्द्रियके साथ विषयीका संयोग भी ठीक इसी तरह होता है। चित्त उस विषयी (आत्मा) के भावको प्राप्तकर तदाकार बन जाता है और वह उस आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं कर सकता। अतएव द्रष्टाके स्वरूपमें स्थितिरूप योग सिद्ध हो जाता है। परन्तु इस स्थितिको प्राप्त करना केवल मनकी बात नहीं है यदि यह इतना सहज होता तो साधनके कण्टकाकीर्ण पथपर कोई भी चलना नहीं चाहता।

चित्तकी पाँच वृत्तियाँ हैं। क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धम् इति चित्तभूमयः। (योगभाष्य) अत्यन्त चञ्चलतावश चित्तका क्षण-क्षणमें एक विषयसे दूसरे विषयमें

जाना जिस वृत्तिसे होता है उसे 'क्षिप्त' कहते हैं। आलस्य, तन्द्रा, मोह आदि वृत्तिको 'मूढ' कहते हैं। कभी चञ्चलता और कभी स्थिरता जिस वृत्तिसे होती है वह 'विक्षिप्त' कहलाती है। एक ही विषयमें वृत्तिके प्रवाहको 'एकाग्र' कहते हैं (ध्येय पदार्थके स्वरूपका ज्ञान इसी समय होता है) और समस्त वृत्तियोंके निरोधको 'निरुद्ध' कहते हैं।

'विक्षिप्त' अवस्थामें समय-समयपर जो चित्तकी स्थिरता होती है उससे सत्त्वगुण बढ़ता है। सत्त्विकताका चित्तमें जितना ही अधिक विकास होता है आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें उतनी ही उसकी उदासीनता बढ़ती है और अन्यान्य वस्तुओंमें उदासीनताका भाव जितना बढ़ता है उतनी ही आत्मदृष्टिमें उसकी अधिक आसक्ति होती है। यों करते-करते चित्त जब वृत्तियोंसे रहित हो जाता है तब 'चित्त' नामका किसी पदार्थका पता ही नहीं लगता। इस स्थितिमें संस्कारोंको ग्रहण करनेकी थैली नष्ट हो जाती है। इससे फिर किसी भी विषयके संस्कार वहाँ ठहर नहीं सकते।

अब पहलेके विषयपर आइये! आत्मरतिका रहस्य समझा गया, अब आत्मतृप्ति रहा। आत्मरति होते-होते ही आत्मतृप्ति होती है। यही द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान है। इसके होनेपर ही—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

—का भाव होता है, इसीलिये आत्माको छोड़कर उसे बाहरके किसी भी पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती। पश्चात् जिन

वृक्षोंपर बैठते हैं, यदि वे सब काट दिये जायँ तो वे सब आपही आकाशमें उड़ जायँगे। बस, यहाँ भी ठीक इसी तरह होता है। जब किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती तब इस मन-पक्षीके बैठनेके लिये कोई स्थान भी नहीं रहता—विषयके अभावसे यह विषयाकार नहीं बन सकता। फिर उस 'आकाश-कल्पम्' आत्मामें अर्थात् अपने आपमें स्थित होनेके सिवा इसके लिये और कोई उपाय नहीं रह जाता। अतएव यह उसीमें स्थिर हो जाता है। इसीको कहते हैं 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः'!

इस अवस्थाको प्राप्त पुरुषोंके लिये हमारी-आपकी भाँति, कोई कर्तव्य नहीं रहता। जब कर्तव्य ही शेष हो जाता है तब 'कार्यं कर्म समाचर' की दुहाई क्यों दी जाती है? इसका कारण पहले ही बतलाया जा चुका है। प्रकृतिका काम कभी बन्द नहीं होता परन्तु आत्मानात्म-विवेक हो जानेके कारण फिर उसमें यह भ्रम नहीं होता कि यह 'मेरा कार्य है' या 'मैं करता हूँ'। एक कारण और भी है, वह है *लोकसंग्रह*। आपका तो कर्तव्य पूरा हो गया, अतः आपको तो किसीसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा परन्तु दूसरे लोगोंका तो प्रयोजन अभी शेष है, उनकी प्रवृत्ति तो नहीं मिटी, ऐसी अवस्थामें उनकी सहायता किये बिना कैसे काम चलेगा। यदि यह कहा जाय कि दूसरोंके लिये हम क्यों बेगार सहें? ऐसा कहना उचित नहीं। कारण, आप अकेले कुछ भी नहीं हैं। सबको साथ लेनेपर ही आपकी *पूर्णता* है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
(गीता ५ । २५)

जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जिसका संशय मिट गया है, जो संयतचित्त और सर्वभूतोंके हितमें रत हैं, ऐसे ऋषिगण ही ब्रह्मनिर्वाण या मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसीलिये सर्वभूतोंमें 'आत्मा'की अपनी उपलब्धि करना ही सम्पूर्ण धर्मोंका सार और ज्ञानकी चरम सीमा बतलाया गया है। मेरी बुद्धिकी जड़ता जाती रही, मेरी बेड़ियाँ टूट गयीं परन्तु तब हाहाकार करते हुए अपने अन्यान्य साथियोंको छोड़कर मैं अकेला कहाँ भाग जाऊँ? एकके पास बहुत-सा अन्न है और दूसरा भूखकी यन्त्रणासे कराहता है ऐसे समय उस क्षुधापीड़ितको अन्न दिये बिना किसी ज्ञानवान्की भोजनमें रुचि होती है? भगवान्‌ने एक भक्तको अकेले ही स्वर्गमें खींचना चाहा, तब उसने कहा—

'प्रभो! आपने मुझे स्नेह-प्रेम क्यों दिया था और उस स्नेहके बन्धनसे मुझे पापियोंके साथ क्यों बाँधा था? नाथ! आज मैं उस बन्धनको नहीं तोड़ सकता। उनको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग नहीं चाहता। एक पापीको छोड़कर भी नहीं!' 'अरे, पापी बन्धुओ! तुम तैयार हुए या नहीं?' 'भगवन्! सुनिये, वे अभीतक तैयार नहीं हो सके हैं, इसीलिये उन्हें छोड़कर मैं आज कैसे आऊँ? यदि आप मेरा हाथ पकड़कर खींचते हैं तो खींचिये, हाथ अलग होकर चला जायगा, मेरा हृदय

और शरीर तो इन पापियोंके पास ही पड़ा रहेगा × × × ×
अरे, पापी भाइयो! क्या अब भी जानेकी इच्छा नहीं हुई?
नहीं प्रभो! अभी उनकी इच्छा नहीं हुई, तब मैं भी नहीं
चलूँगा।'

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादने भी कहा था—

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः।

'इन दीन असुरबालकोंको छोड़कर मैं अकेला मुक्ति नहीं चाहता।'

इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष अपना कुछ भी न रहनेपर भी कर्म करते हैं। एक बात और है। ऐसे पुरुषोंका 'स्व' केवल साढ़े तीन हाथमें ही सीमाबद्ध नहीं रहता—उनका वह 'स्व' विस्तार पाकर सम्पूर्ण विश्वमें फैल जाता है। जो पहले केवल अपने शरीर और स्वजनोंमें ही सीमाबद्ध था, वह विश्वव्यापी हो जाता है।

वैराग्यका असली अर्थ यही है—'अपनेको छोड़कर सबको ग्रहण करना।' पहले जहाँ अपने लिये काम करके हम सन्तुष्ट रहते थे, वहाँ अब समस्त विश्वके लिये परिश्रम करना पड़ेगा। न तो केवल गुदड़ी ओढ़कर तम्बूरा बजाते फिरनेसे ही काम चलेगा और न जरा-सी आँखें मूँदकर ध्यानका साज सजनेसे ही। अस्तु, इस विवेचनसे वैराग्यका मर्म समझमें आ गया होगा। अब—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्' कहकर युद्धक्षेत्रसे भागनेकी आवश्यकता नहीं!

मुक्ति पानेके लिये वैराग्यकी और वैराग्यके लिये कठोर साधनकी बड़ी आवश्यकता है। परन्तु डरने और घबरानेको कोई बात नहीं। एक बड़े भरोसेकी बात सुनिये—

न हि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

'हे तात! कोई भी कल्याण—शुभकर्म करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

इस बातके लिये भी डरना नहीं चाहिये कि मन इन भोग—ऐश्वर्यके प्रत्यक्ष सुन्दर सुखोंको छोड़कर उस काल्पनिक सुखकी ओर क्या जाना चाहेगा? चाहेगा, अवश्य चाहेगा! पर चाहेगा धीरे-धीरे।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

मन दुर्निग्रह और चञ्चल तो है ही परन्तु यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो सकता है।

यही बात महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध ।

(योगदर्शन १ । १२)

योगदर्शनके भाष्यकार कहते हैं—

चित्त नाम नदी उभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। ससारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत एद्घाट्यते इत्युभया धीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

दोनों ओर बहनेवाली चित्त नामक एक नदी है। वह कल्याणकी ओर भी बहती है एवं पापकी ओर भी। जो प्रवाह कैवल्यके अभिमुख है, विवेक-वैराग्यकी ओर जिसकी गति है, उसे कल्याणवहा कहते हैं। और जो प्रवाह संसारके अभिमुख है, अज्ञानकी ओर ही जिसकी गति है, उसे पापवहा कहते हैं। वैराग्यके द्वारा विषयकी ओर जानेवाला प्रवाह रुकता है और विवेकके अनुशीलनसे विवेक-पथका स्रोत खुल जाता है। जब विवेकदर्शन करते-करते ऐसा हो जाता है तब एक आत्माके अतिरिक्त अनात्म-पदार्थमें किसी प्रकार भी आस्था नहीं रह सकती। थालीभर सोना मिल जानेपर धूलकी मुट्ठीके लिये कोई व्याकुल नहीं होता, अतएव स्वाभाविक ही विषयरसके ग्रहण करनेमें मनकी अनिच्छा हो जाती है। देहकी आसक्ति चली जाती है। इस लोक और परलोकके फलभोगोंमें वैराग्य हो जाता है, सब प्रकारके भोगोंसे मन हट जाता है। देहपिञ्जरमें आबद्ध पक्षी स्वतन्त्र होकर आकाशमें उड़ना सीख लेता है, इसलिये उसके अपने और परायेकी धारणा नष्ट हो जाती है। उस समय समस्त विश्व उसे अपना दीखता है इसीलिये उसके समीप शत्रु-मित्र और ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं रह जाता। एक ब्रह्म, एक आत्मा, एक महाचैतन्य बुद्धिके साक्षीरूपसे उसके निकट प्रकाशित हो जाता है। जगत् और जगत्का सारा व्यापार उसकी दृष्टिमें इन्द्रजालके समान कल्पित प्रतीत होने लगता है इस अवस्थामें वह फिर किस वस्तुके लिये इच्छा

रस सकता है ? इसीलिये उसे परम वैराग्यकी प्राप्ति होती है, जिसे स्वस्वरूपमें अवस्थान कहते हैं। जिनको यह अवस्था प्राप्त हुई है वे ही असली वैराग्यवान् होकर धन्य और कृतकृत्य हुए हैं।

कल्याणकामियोंके चित्तको वैराग्य ही पराभिमुखी (ईश्वरार्पित) बनाता है। पराभिमुखी चित्तके द्वारा ही 'परम निवृत्ति' होती है। यह 'परम निवृत्ति' ही 'पर वैराग्य' है। भगवत्कृपासे इसपर वैराग्यकी हम सबको प्राप्ति हो।

किसान (कृषक)

यदि सुन्दर फसल चाहते हो तो किसान बनो। असली किसान बनो। आलसी लोग अच्छे किसान नहीं हो सकते। मजबूत किसान झड़, वृष्टि, कीचड़, धूप, शीत आदिकी कुछ भी परवा नहीं करता। किसानकी तेज नजर रहती है केवल अपने कामपर। वह सुविधा-असुविधा और लाभ-हानिका पहलेसे इतना हिसाब नहीं रखता। फसल पकनेपर ही वह अपने परिश्रमको सफल मानता है। कितने परिश्रमसे कितना लाभ होना चाहिये इस बातका बारीक हिसाब बनिये रखते हैं। किसान इस बातकी परवा नहीं करता। वह तो यही समझता है कि यदि देवने दया न की तो सारी मेहनत व्यर्थ जायगी। पर यों समझकर वह मेहनतसे मुँह नहीं मोड़ता। क्योंकि वह इस बातको भी जानता है कि यदि मैंने खेत तैयार नहीं किया

तो देवताकी दयासे भी कुछ भी नहीं होगा। इसीलिये वह अपने परिश्रमसे नहीं चूकता। खेत तैयार करनेमें कभी आलस्य नहीं करता। उसको इसीमें आनन्द और शान्ति रहती है! 'मेरी भूलसे कहीं देवताकी दया व्यर्थ न चली जाय' इसीलिये वह लगातार महीनोंतक प्राणोंकी बाजी लगाकर मेहनत करता है और देवताकी दयाके लिये ऊपर आकाशकी ओर ताकता रहता है। ईश्वरकी दयाके लिये वही दावा कर सकता है जो कपट और आलस्यको छोड़े हुए है। आलसी और कपटी मनुष्य किस मुँहसे भगवान्‌के सामने दयाका प्रार्थी होगा? यदि कोई साल बुरी निकले, पानीकी बूँद भी न बरसे तो भी वह सच्चा साधु किसान कभी हताश नहीं होता और यदि देव-ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे फसल अच्छी हो जाय तब तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। पर इस अवस्थामें भी उसे यह अभिमान नहीं होता कि फसल मेरी मेहनतसे अच्छी हुई। वह तो इस सफलताके लिये केवल देवताको ही धन्यवाद देता है। साधनक्षेत्रमें भी मनुष्यको ठीक इसी प्रकार किसान बनना चाहिये। अभिमानरहित, आलस्यरहित और भक्तिसम्पन्न साधकके द्वारा जो साधन होता है वही सच्चा साधन है। आलस्य और अभिमानसे हटकर दूर हुए बिना साधनरूपी खेतीको कोई नहीं बचा सकता। जीतोड़ परिश्रम करते हुए भी फलके सन्धानको छोड़ना चाहिये। फल क्या होगा, इसको फलदाता जाने। परन्तु इस बातसे घबराने या दीनता दिखानेसे काम नहीं चलता। खेतीको बचाये

किसान (कृषक)

यदि सुन्दर फसल चाहते हो तो किसान बनो। असली किसान बनो। आलसी लोग अच्छे किसान नहीं हो सकते। मजबूत किसान झड़, वृष्टि, कीचड़, धूप, शीत आदिकी कुछ भी परवा नहीं करता। किसानकी तेज नजर रहती है केवल अपने कामपर। वह सुविधा-असुविधा और लाभ-हानिका पहले-से इतना हिसाब नहीं रखता। फसल पकनेपर ही वह अपने परिश्रमको सफल मानता है। कितने परिश्रमसे कितना लाभ होना चाहिये इस बातका बारीक हिसाब बनिये रखते हैं। किसान इस बातकी परवा नहीं करता। वह तो यही समझता है कि यदि देवने दया न की तो सारी मेहनत व्यर्थ जायगी। पर यों समझकर वह मेहनतसे मुँह नहीं मोड़ता। क्योंकि वह इस बातको भी जानता है कि यदि मैंने खेत तैयार नहीं किया

तो देवताकी दयासे भी कुछ भी नहीं होगा। इसीलिये वह अपने परिश्रमसे नहीं चूकता। खेत तैयार करनेमें कभी आलस्य नहीं करता। उसको इसीमें आनन्द और शान्ति रहती है! 'मेरी भूलसे कहीं देवताकी दया व्यर्थ न चली जाय' इसीलिये वह लगातार महीनोंतक प्राणोंकी बाजी लगाकर मेहनत करता है और देवताकी दयाके लिये ऊपर आकाशकी ओर ताकता रहता है। ईश्वरकी दयाके लिये वही दावा कर सकता है जो कपट और आलस्यको छोड़े हुए है। आलसी और कपटी मनुष्य किस मुँहसे भगवान्‌के सामने दयाका प्रार्थी होगा? यदि कोई साल बुरी निकले, पानीकी बूँद भी न बरसे तो भी वह सच्चा साधु किसान कभी हताश नहीं होता और यदि देव-ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे फसल अच्छी हो जाय तब तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। पर इस अवस्थामें भी उसे यह अभिमान नहीं होता कि फसल मेरी मेहनतसे अच्छी हुई। वह तो इस सफलता-के लिये केवल देवताको ही धन्यवाद देता है। साधनक्षेत्रमें भी मनुष्यको ठीक इसी प्रकार किसान बनना चाहिये। अभिमान-रहित, आलस्यरहित और भक्तिसम्पन्न साधकके द्वारा जो साधन होता है वही सच्चा साधन है। आलस्य और अभिमानसे हटकर दूर हुए विना साधनरूपी खेतीको कोई नहीं बचा सकता। जीतोड़ परिश्रम करते हुए भी फलके सन्धानको छोड़ना चाहिये। फल क्या होगा, इसको फलदाता जाने। परन्तु इस बातसे घबराने या दीनता दिखानेसे काम नहीं चलता। खेतीको बचाये

रखना चाहिये, हाथ-पैर सिकोड़कर बैठ रहना उचित नहीं। केवल एक यह विश्वास रखना चाहिये कि 'किसी-न-किसी दिन तो देवताकी दया होगी ही, मेरी तैयारी न देखकर कहीं उसे हताश होकर लौट जाना न पड़े।' जिसके मनमें इतना-सा बल नहीं है उसका साधन-क्षेत्रमें अवतीर्ण होना विडम्बनामात्र है, साधन-भूमिके कृपकको उद्दण्डता और अभिमानसे सदा दूर रहना चाहिये। एक दिन नवीन ऊषाकी आलोक-छटासे जब दशों दिशाएँ भर जायँगी, जब उस राजाधिराजके पधारनेकी सूचनामें वारम्वार गगनभेदी शंखध्वनि होगी तब भक्त साधकको विनम्र हृदयसे धीरे-धीरे उसकी विश्व-सभाके एक अलक्षित प्रान्तमें आकर उसकी कृपा प्राप्त करनेके लिये आशा लगाकर बैठना होगा, और जब कृपा चाहनेवालोंकी भीड़ कुछ कम हो जायगी तब उस भक्त साधकको अपने प्रभुके सम्मुख आकर भक्तिविह्वल चित्तसे उसका आदेश पानेके लिये उसके मनोहर मुखमण्डलकी ओर ताकना पड़ेगा। वसन्तके आगमनमें जैसे पुष्पकी मञ्जरीसे एक नवीन गन्ध प्रकट होती है उसी प्रकार एक अपूर्व नवीन भावकी मनोहर सुवास विकसित होकर भक्तके प्राणोंको आकुल कर देगी। उस समय उस विह्वल भक्तका चित्त अनायास ही गाने लगेगा—

आया हूँ मैं आज 'मुझे' देनेको।
कौन बढ़ाता हाथ 'मुझे' लेनेको॥

× × × ×

चल रहा है मलय वायु सुहावना,
धीर गतिसे आ रहा जिस देशमें।
लूटकर शुचि-गन्ध सुन्दर सुमनकी,
छोड़ता जिसके चरणमें वह पवन॥
क्यों नहीं मुझको लिये जाता अभी,
डालने उस 'श्याम' के पद-देशमें।
कर रहा हूँ आश कितने युगोंसे,
कौन करता आज है मेरा हरन॥

समुद्र-गर्जन

जानते हो, समुद्र रात-दिन क्यों गरजता है? वैज्ञानिक विद्वान् इसका कुछ उत्तर अवश्य देंगे। परन्तु समुद्रके प्राणोंकी भीतरी बात बतलाना बहुत ही कठिन है। समुद्रके प्राणोंमें आठो पहर कितनी व्याकुलता लहरें मारती हैं, इसका पता तो उसकी चञ्चलता देखते ही लग जाता है। "होगी व्याकुलता पर वह है तो जड़।" एक तरहसे क्या हमलोग भी जड़ नहीं हैं? पर उसके अंदर भी वह चेतना तो है ही जो सारे विश्वमें व्याप्त है, तब उसमें व्याकुलता क्यों नहीं रह सकती? 'वह बोल नहीं सकता' क्या इसीसे उसमें व्याकुलता नहीं है? शायद वह अपनी

भापामें बोलता हो, जिसको हम नहीं समझते। कीट-पतंगोंकी भी तो भाषा है पर क्या वह सब हम समझते हैं? समझनेकी चेष्टा करनेपर शायद समझ सकते। बहुत-से पाश्चात्य पण्डितोंने पशु, पक्षी, कीट, पतंगोंकी भाषा समझनेकी चेष्टा की है और यह नहीं कहा जा सकता कि उनको कुछ भी सफलता नहीं मिली। हमारे यहाँ भी तो तपस्वी ऋषि दूसरे जीवोंकी भाषा समझ सकते थे। शकुन-शास्त्र देशमें अब भी कुछ वर्तमान है। जिस भाषामें हम बोलते हैं उस भाषाको कितने मनुष्य समझते हैं? एक प्रान्तके मनुष्य दूसरे प्रान्तकी भाषा नहीं समझ सकते। पर एक ऐसी भाषा भी है जो सब जीवोंकी एक भाषा है। उसका नाम है 'पश्यन्ती वाणी'। ऋषिगण चित्तका संयम करनेपर इस अवस्थाको प्राप्त करते थे। उस देशकी भाषामें बाह्य शब्द नहीं हैं, परन्तु वहाँ कहना-सुनना मजेमें चलता है। अवश्य ही पाश्चात्य पण्डितोंने पशु-पक्षियोंकी भाषा समझनेमें जो चेष्टाकी, उसकी प्रणाली यह नहीं हैं, वह दूसरी है। उन लोगोंने बाहरी शब्दोंकी सहायतासे ही मनका भाव समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु उनकी यह प्रणाली असम्पूर्ण है। जो बोल सकते हैं, वे भी भाषामें मनके सारे भाव प्रकट नहीं कर सकते। भाषाकी वह पूर्णता अभी नहीं हो पायी है। कभी होगी या नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता!

जो कुछ हो, मनुष्य है बड़ा अहंकारी जीव! इसीसे वह दूसरे किसी जगत्‌के ज्ञान, बुद्धि, भाव, भाषा आदिको स्वीकार

नहीं करना चाहता। पर यह सब 'छातीके जोर' के सिवा और कुछ भी नहीं है। एक बाघ भी मनुष्यका गला पकड़कर उसका खून पीते हुए यह सोच सकता है कि मनुष्य अज्ञानी जीव है, ज्ञानी तो हम हैं। तभी तो इनका गला पकड़कर खून पी रहे हैं। वास्तवमें जहाँ भाव है वहाँ भाषा भी है, यह बात समझ लेनी चाहिये। खैर, अब जरा समुद्रके प्राणोंकी बात समझनेकी चेष्टा कीजिये—

मैं एक दिन समुद्रके किनारे बैठा उसकी तरंगोंके खेल देख रहा था, उसका गर्जन सुन रहा था। बहुत दूरतक फैली हुई हुई उसकी वह सुनील जलराशि और शुभ्र फेन-विमण्डित तरंग-मालाओंका उत्थान-पतन प्राणोंमें एक विलक्षण भावकी जागृति कर रहा था! समुद्रके उस सीमाहीन जलमें मेरी सीमाबद्ध इन्द्रियोंकी सारी शक्तियाँ डूबने लगीं। मेरे पास एक मनुष्य और बैठे थे, वह कहने लगे—'बाबा, आठों पहर यहाँ तो यही शों-शों शब्द होता है, यहाँ भी कभी मन स्थिर हो सकता है?' मैंने यह शब्द सुनकर सोचा, अवश्य ही बाहरसे देखनेपर तो यही समझमें आता है परन्तु मैंने अनेक बार परीक्षा की है, समुद्रका गर्जन सुनकर एक बार चित्त अवश्य विक्षिप्त होता है परन्तु कुछ समयतक चुपचाप सुनते रहनेपर मनका कार्य स्वयमेव बंद होने लगता है। फिर मन किसी भी दूसरे शब्दकी ओर नहीं जाना चाहता। क्रमश जब उस शब्दमें और भी सूक्ष्म एकतानता हो जाती है तब तो बाहरके शब्दोंकी तरफ मन

विल्कुल ही नहीं जाना चाहता। फिर देखा जाता है कि वह सूक्ष्म एकतानता हमारे प्राणोंमें और समुद्रमें क्रमशः जम रही है। इसके बाद थोड़ी ही देरमें हमारी हृत्तन्त्रीके तार समुद्रके वीणा-तारोंके साथ एक साथ एकतानसे बज उठते हैं, केवल एक ही ध्वनि निकलती है। उस समय यह पहचानना कठिन हो जाता है कि कौन-सा स्वर किसका है!

फिर उसमें भी नीरवता छाने लगती है। सारे शब्द मानो एक महाशून्यमें मिलकर विलीन हो जाते हैं। समुद्रमें डुबकी लगानेपर भी ऊपरके शब्द कानोंतक नहीं पहुँचते। एक गम्भीर नीरवतामें समस्त चञ्चलता मानो सर्वथा शान्त हो जाती है। यहाँ सारे स्वर मिलकर एक अव्यक्तभावमें मिल जाते हैं और सारी भाषा और शब्दोंकी यहाँ समाप्ति हो जाती है। सबके 'सर्व' के साथ इस सुरको मिला देनेपर कोई झंझट नहीं रह जाती। जीवके साथ जीवके सुर जहाँ मिलते हैं, ठीक वहीं बजानेपर मन्त्रके अंदरसे एक-सा ही स्वर निकलता है। तब यह बात समझमें आती है कि हम सबके साथ अभिन्नभावसे एक हैं और एक ही जगहपर स्थित हैं। भगवान्‌के साथ भी इसी तरह सुर मिला देना चाहिये। यही तो उन्हें पानेका साधन है। उनके सुरके साथ जहाँ हमारे सुरका मिलान होता है उस जगह का पता लगाना हो तो हमें इस शब्द-मुखरित, वासना-विक्षोभित मन-समुद्रके अतल तलमें डुबकी लगानी चाहिये। बार-बार डुबकियाँ लगाते-लगाते क्रमशः एक अव्यक्त अवस्थाका

तत्त्व हम समझ सकेंगे। उस अवस्थामें, इस जगत्के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सभी एकाकार होकर एक साथ मिल जायँगे। एक गम्भीर एकतानतामें मनके सारे विक्षेप-सारी चञ्चलताएँ मूर्छित हो जायँगी! उस समय हमारे और विश्वके हृदयके साथ भगवान्के एक अखण्ड संयोगकी उपलब्धि होगी। निर्वात दीपशिखाकी तरह मन एकाम, निश्चल और स्तब्ध हो जायगा। इसी अवस्थाको योगी 'द्वन्द्वातीत' अवस्था कहते हैं। उसी अवस्थामें यथार्थ ज्ञानी और भक्त 'मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा'—मोदनीयको पाकर प्रमुदित होते हैं। उस समय अन्तःकरणमें जो मनोहर एकतान संगीत-ध्वनि होती है उसे सुनते ही सारे बन्धन खुल जाते हैं। वह शब्द बड़ा ही मधुर, बड़ा ही प्राणोंको शीतल करनेवाला होता है। उदात्त-अनुदात्त स्वरोंमें, विश्व और मनुष्यके हृदयके साथ भगवान्का अनादि महिमान्वित एकतान सुर मिलकर सारे सुर एक साथ एक स्वर से बज उठते हैं, तब केवल सुनायी पड़ता है—'ॐ ॐ ॐ!'

शान्ति-सुधा

अनर्थ-चिन्ता जितनी ही करता हूँ, उतनी ही जलन और बढ़ती है। कल्पनामें चित्त जितना ही भटकता है, उतना ही निराश्रय हो जाता हूँ। मनमें संकल-विकल्पका कारबार जितना ही चलाये चलता हूँ, चित्त उतना ही निराशासे व्याकुल हो उठता है। यह सब तो जैसे चरखीपर चढ़कर चक्कर काटना है, अपनी इच्छासे, अपने शौक़से अपने सिरमें स्वयं ही पीड़ा खींच लाना है। शान्ति कहाँ, आनन्द कहाँ, तृप्ति कहाँ, उसके पीछे केवल रो रहा हूँ। पर मन जो मर्कटकी तरह विषयसे विषयान्तरमें भटकता फिरता है, अशान्ति और निरानन्द बरबस बटोर लाता है, उस ओर कोई ध्यान ही नहीं है। कभी इस विषयमें

ही जो ऐसा कर सकोगे, यह बात नहीं। मनको आत्मस्थ करनेकी क्या दवा है, जानते हो ? विचार और सत्संग। वाक्, काय, कर्म और मनके द्वारा भगवान्‌का स्मरण मनन और ध्यान करना होगा। विस्मरण न हो। मन जल्दी निर्विषय नहीं होगा, विषय-चिन्ता आयेगी ही। पर विषयके आनेपर भी, विषय भी भगवान् हैं यह सोच लो। अर्थात् "प्रतिबोध-विदितं"—प्रतिबोधमें उन्हींको विदित होना होगा। यदि निरन्तर उनका चिन्तन न कर सको, तो थोड़ा-थोड़ा श्रम कर करो। उनके स्मरणमें चित्तको लगा रखनेका काम होना ही चाहिये। यही सबसे बड़ी चीज है। व्यर्थके मिथ्या संकल्प मनमें किसी तरह आने ही न देंगे, यह दृढ़ निश्चय करके स्थिर होकर बैठ रहो। और वैराग्य-आलोचना तथा तत्त्वकथा सुन-सुनकर मनकी विषयस्पृहा कम करते रहना होगा। मनका एक स्वभाव यह है कि वह किसी-न-किसी अवलंबनके बिना नहीं रह सकता। यदि मनको स्मरणमें लगा रखो, तो उसे एक अवलंबन मिलेगा। इससे मनका बातें करनेका रोग भी कम हो जायगा। कुछ दिन धीरज और दृढ़ताके साथ इस प्रकार अभ्यास करनेसे यह वशमें हो जायगा। तब नाना प्रकारके कोलाहलके बीचमें भी मनको मौन रखना कठिन न होगा। मनकी बातें करनेकी प्रवृत्ति तब अपने आप ही कम होती जायगी। अचंचल हो कर थोड़ी-थोड़ी देर भी मन यदि रह सकेगा, तो इससे चित्तमें ध्याननिष्ठाका सञ्चार होगा। इस ध्याननिष्ठाकी गभीरता जितनी

ही जो ऐसा कर सकोगे, यह बात नहीं। मनको आत्मस्थ करनेकी क्या दवा है, जानते हो? विचार और सत्संग। वाक्, काय, कर्म और मनके द्वारा भगवान्का स्मरण मनन और ध्यान करना होगा। विस्मरण न हो। मन जल्दी निर्विषय नहीं होगा, विषय-चिन्ता आयेगी ही। पर विषयके आनेपर भी, विषय भी भगवान् हैं यह सोच लो। अर्थात् "प्रतिबोध-विदितं"—प्रतिबोधमें उन्हींको विदित होना होगा। यदि निरन्तर उनका चिन्तन न कर सको, तो थोड़ा-थोड़ा थम कर करो। उनके स्मरणमें चित्तको लगा रखनेका काम होना ही चाहिये। यही सबसे बड़ी चीज है। व्यर्थके मिथ्या संकल्प मनमें किसी तरह आने ही न देंगे, यह दृढ़ निश्चय करके स्थिर होकर बैठ रहो। और वैराग्य-आलोचना तथा तत्त्वकथा सुन-सुनकर मनकी विषयस्पृहा कम करते रहना होगा। मनका एक स्वभाव यह है कि वह किसी-न-किसी अवलंबनके विना नहीं रह सकता। यदि मनको स्मरणमें लगा रखो, तो उसे एक अवलंबन मिलेगा। इससे मनका बातें करनेका रोग भी कम हो जायगा। कुछ दिन धीरज और दृढ़ताके साथ इस प्रकार अभ्यास करनेसे यह वशमें हो जायगा। तब नाना प्रकारके कोलाहलके बीचमें भी मनको मौन रखना कठिन न होगा। मनकी बातें करनेकी प्रवृत्ति तब अपने आप ही कम होती जायगी। अचंचल हो कर थोड़ी-थोड़ी देर भी मन यदि रह सकेगा, तो इससे चित्तमें ध्याननिष्ठाका सञ्चार होगा। इस ध्याननिष्ठाकी गम्भीरता जितनी

कोई आपत्ति भी नहीं करता। तब होता यही है कि चित्तको जिधर चाहे भटकने देकर उसके पीछे फिरा करता हूँ। इससे चित्तकी उद्दण्डता भी दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। परन्तु उस तरफसे कानोंको बधिर कर लिया है। पर शान्ति तो आसमानकी चीज नहीं है। शान्ति पानेके लिये शान्त होना होगा। मनका बाहर भटकनेका स्वभाव जबतक सुधर न सकेगा, तबतक अशान्तिसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। केवल मुँहसे शान्ति चाहनेसे कुछ न होगा, शान्तिलाभके लिये वास्तविक प्रयत्न आरंभ हुआ या नहीं यह देखना होगा। मन-प्राण एक करके शान्तिकी इच्छा करनी होगी, तब शान्ति मिलेगी। मनकी वृत्तियोंपर विशेष सावधान दृष्टि रखनी होगी—वृथा चिन्ता मनको भाराक्रान्त न कर डाले, इसका ध्यान रखना होगा। व्यर्थकी चिन्तासे तो भैया, कोई लाभ नहीं; मनको यह बात विशेष यत्नपूर्वक समझा देनी होगी। मनके खयालोंके पीछे कितना कष्ट पा रहे हो, कितनी पीड़ा सह रहे हो, फिर भी इसकी उद्दण्डताका जरासा भी शासन नहीं कर पाते? यह भी कैसा पुरुषत्व है? अच्छा, यदि कोई बहुत बड़ा प्रयास नहीं भी कर सकते तो एक परामर्श देता हूँ, सुनो! यदि वस्तुतः तुम्हारे प्राण मनकी शान्ति चाहते हैं तो यह काम करो। अर्थात् "यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्"—यह अस्थिर मन जहाँ-जहाँ चला जाय, वहाँ-वहाँसे उसे पकड़ कर लौटा लाना होगा और लौटाकर आत्मस्थ करना होगा। एक बारमें

ही जो ऐसा कर सकोगे, यह बात नहीं। मनको आत्मस्थ करनेकी क्या दवा है, जानते हो? विचार और सत्संग। वाक्, काय, कर्म और मनके द्वारा भगवान्‌का स्मरण मनन और ध्यान करना होगा। विस्मरण न हो। मन जल्दी निर्विषय नहीं होगा, विषय-चिन्ता आयेगी ही। पर विषयके आनेपर भी, विषय भी भगवान् हैं यह सोच लो। अर्थात् "प्रतिबोध-विदितं"—प्रतिबोधमें उन्हींको विदित होना होगा। यदि निरन्तर उनका चिन्तन न कर सको, तो थोड़ा-थोड़ा श्रम कर करो। उनके स्मरणमें चित्तको लगा रखनेका काम होना ही चाहिये। यही सबसे बड़ी चीज है। व्यर्थके मिथ्या संकल्प मनमें किसी तरह आने ही न देंगे, यह दृढ़ निश्चय करके स्थिर होकर बैठ रहो। और वैराग्य-आलोचना तथा तत्त्वकथा सुन-सुनकर मनकी विषयस्पृहा कम करते रहना होगा। मनका एक स्वभाव यह है कि वह किसी-न-किसी अवलंबनके बिना नहीं रह सकता। यदि मनको स्मरणमें लगा रखो, तो उसे एक अवलंबन मिलेगा। इससे मनका बातें करनेका रोग भी कम हो जायगा। कुछ दिन धीरज और दृढ़ताके साथ इस प्रकार अभ्यास करनेसे यह वशमें हो जायगा। तब नाना प्रकारके कोलाहलके बीचमें भी मनको मौन रखना कठिन न होगा। मनकी बातें करनेकी प्रवृत्ति तब अपने आप ही कम होती जायगी। अचंचल होकर थोड़ी-थोड़ी देर भी मन यदि रह सकेगा, तो इससे चित्तमें ध्याननिष्ठाका सञ्चार होगा। इस ध्याननिष्ठाकी गम्भीरता जितनी

ही बढ़ेगी, प्राणोंमें उतनी ही आनन्दकी लहरें क्रीडा करती रहेंगी। चित्तकी व्याकुलता उतनी ही कमती हुई देख पाओगे, उतनी ही शान्ति बढती हुई अपने अन्दर अनुभव करोगे। मनका भटकना बन्द होते ही चित्त विक्षोभविहीन सागरके समान अतिशय प्रशान्त और रमणीय हो उठेगा। यही शान्ति है—*यही अमृत है! यदि यह अमृत पान कर सको तो ही तुम्हारा* मनुष्य-जीवन चरितार्थ और धन्य है! यह मत समझो कि ऐसा होना सर्वथा असभव है। हाँ, आरभमें कुछ काल प्रयत्न करते रहना होगा, एक विशेष प्रयत्न और उत्साहके साथ उठ कर इस काममें जुट जाना होगा। कन्धापर जो बोझ लदा हुआ है, उसे उतारनेमें कुछ समय लगेगा। पर इससे क्या? भोगका जो परिणाम है वह प्रति दिन ही नेत्रोंके सामने आ रहा है, उसपर जरा अच्छी तरहसे ध्यान रखो और भोगकी परिणाम विरसताकी बात मन ही मन स्मरण रखो। भगवान् और उनके भक्तोंकी चरित्रगाथा निष्ठापूर्वक श्रद्धाके साथ समझो-बूझो। इससे विषयोंके प्रति मनका लोभ घट जायगा और बन्धन क्रमश खुल जायँगे।

इन्द्रियोंके साथ इन्द्रियविषयोंका सयोग ही समस्त सुख-दु खोंका कारण है, अन्यथा सुख-दु ख नामकी कोई वस्तु नहीं है। धीरजके साथ विचारकर उसे शुरू-शुरूमें सह लेना होगा। इसी मार्गसे कोई परमानन्दका अधिकारी होता है। वासनाका सर्वथा लोप हो जाय, अथवा प्रवृत्तिकी कोई उत्तेजना फिर कभी

सिर न उठा सके, यह संभव नहीं है। यह सब कुछ रहेगा, इतना ही नहीं—कभी-कभी अत्यन्त प्रबल होकर ये चीजें उठेंगी, पर इससे भीत होनेका कोई कारण नहीं। एकनिष्ठ होकर लगे रहनेसे सब कुछ ठीक होगा। दिन-रातमें जितनी बार उपासनाके लिये बैठो, हर बार कम-से-कम दो-तीन मिनट चित्त-को सर्वथा चिन्ताशून्य करनेकी चेष्टा करो। इससे बड़ा आनन्द आयेगा। हो सकता है, सब समय ऐसा करना अच्छा न लगे, प्रत्युत् कभी-कभी वृथा संकल्प करना ही भला मालूम हो, पर इससे निराश मत हो, ऊब न जाओ, निष्ठा मत छोड़ दो। उन्हें टेरने बैठो और कोई दूसरी ही भावना आ जाय और उसे तुम हटा भी न सको, तब भी डरो मत। वे तो जानते हैं कि तुम उन्हींको पुकारने बैठे हो। इसीलिये कहता हूँ, प्रतिदिन जिस समय उपासना करो, ठीक उसी समय बैठकर मनको आत्माके साथ संयुक्त करनेकी चेष्टा करो। किसी दिन काम बनेगा, किसी दिन नहीं बनेगा। उपास्य देवकी श्रीमूर्तिके अंग-प्रत्यंगका धैर्यके साथ ध्यान करनेका प्रयत्न करो, कभी चिन्ताशून्य होकर बैठ रहनेकी चेष्टा करो, कभी स्थिर दृष्टिका अभ्यास करो। कभी प्रति श्वासके साथ उनका नाम स्मरण करो। कभी भगवान्‌का गुणकीर्त्तन करो, कभी भागवती कथाका श्रवण अथवा अध्ययन करो। सब कार्य उन्हें निवेदन करके करो। कोई भी दुःख हो, कितना भी दारुण होकर आया हो, उसे सह लिया करो और इस बातमें कभी सन्देह मत करो कि सारी व्यवस्था स्वयं

भगवान् कर रहे हैं। सब बातोंको अपने अनुकूल भावमें ग्रहण करनेकी चेष्टा करो। जो मिले उससे हर्षान्वित मत हो, कारण वह भी अलीक और अस्थायी है; और जो नहीं मिला उसके लिये दुखी मत हो, कारण वह भी वास्तवमें कुछ नहीं है, उसके मिलनेसे भी कोई विशेष लाभ नहीं। इस प्रकार विषयोंके प्रति मनको उदासीन किये रहनेकी चेष्टा करो। इस प्रकार चेष्टा, प्रयत्न और सफलता-विफलताके बीच मन तैयार होगा। धीरे धीरे चित्तमें भगवद्भक्तिका सञ्चार होगा और ज्ञानका प्रकाश परिस्फुट होगा। भगवदालोचनासे मन सहज ही स्थिर होता है। और फिर यह साधना योगादिके अभ्यासके समान इन्द्रियोंकी नीरस साधना नहीं है। यह साधना सुस्वादु और रोचक है। अथच भगवदालोचनामें भली-भाँति मन निमज्जित हो जाय तो चित्तका विक्षेप नष्ट हो जाता है और चित्त शान्त होकर आनन्द-लाभ करता है। विषय-चिन्तन कम होनेसे विषयाशक्तिका संस्कार क्रमशः क्षीण होता है। जिस किसीने समस्त जीवन यही एक अभ्यास सुदृढ़ कर लिया हो, उसे निश्चय ही भगवद्भक्ति प्राप्त होगी। मन आनन्दकी ही खोजमें रहता है, इस साधनसे आनन्द पानेपर वह वहाँसे कहीं हटनेकी इच्छा नहीं कर सकता। यह कम साधना नहीं है, फिर इसमें कोई कष्ट भी नहीं है।

अकिञ्चन का धन

प्रभु, कब मेरा यह अशान्त चित्त कुछ शान्त होगा ? कब आछी स्थिति लाभ कर हृदयका सारा खटका मिट जायगा ? कब समझूँगा कि सबसे बड़े तुम्हीं हो ? धनकी बात मनमें धारण किये, काल्पनिक ख्याति और विविध भोगलालसाकी चिन्तामें तो मन निविष्ट होकर डूबा रह सकता है; प्रभु, केवल तुम्हारे चिन्तनमें मन वैसे निविड़ भावसे डूबा क्यों नहीं रह सकता ? जिन मृत आत्मीय पुत्र-बन्धु आदिको फिर कभी देख नहीं पाते, उनके लिये मन कितना व्याकुल होता है, दिन-रात कितना-कितना उनके लिये सोच करता हूँ, कितना अश्रु-पात करता हूँ, पर तुम्हारे लिये कभी आँखोंमें जल तक नहीं

आता ! तुम ध्रुव सत्य हो, निश्चितरूपसे मिल सकते हो, तब भी तुम्हारा चिन्तन न कर, जिनके चिन्तनसे कोई लाभ नहीं—; मिलनेसे कोई लाभ नहीं, उनके लिये हाहाकार करता हुआ मरता हूँ ! यह कैसी विडम्बना है ! तुम्हें चाहूँ, यह बात अभी तक बनी ही नहीं ! कब ऐसा होगा कि सब छोड़कर अकेले तुम्हें पकड़ रखूँ ? सब प्रिय वस्तुओंमें कब तुम्हीं प्रियतम नजर आओगे ? मनकी ऐसी अवस्था होना क्या असंभव है ? मैं योग्य नहीं हूँ, यह तो जानता हूँ; मेरे पूर्व कर्म बहुत बड़े बाधक हैं. यह पता चल ही रहा है। प्रवाहके प्रबल वेगके साथ तृण जैसे बह जाता है, वैसे ही मैं प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहा जाता हूँ ! उससे मुक्ति पानेकी चेष्टा ही मैंने कब की ? तुमने कह ही दिया है, "वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"—इन्द्रियसंयम के बिना स्थितप्रज्ञताका साधन असंभव है। इस जीवनमें तो यह नहीं बना। विषय लालसामें सुख नहीं है, यह देखता हूँ; तब भी लालसाको रोक रखनेमें असमर्थ हूँ, विषयका सङ्ग छोड़ते नहीं बनता है ! यह कैसी लोलुपता है, कैसी विषय तृष्णा है ! क्या यह तृष्णा नहीं मिटेगी ? मेरा क्या उपाय होगा, यही सोचता हूँ ! यदि तुम कोई उपाय न करो, तब तो मेरे लिये कोई उपाय नहीं देख पड़ता ! ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म, अनेक उपाय दया करके तुमने जीवोंके लिये बनाये हैं; पर ऐसे भी लोग हैं जो इनमेंसे किसी मार्गपर चलने योग्य नहीं, क्या यह तुमने कभी नहीं सोचा ? उनके लिये क्या व्यवस्था की है, नाथ ? मेरा कोई

आश्रय नहीं, कोई सम्बल नहीं। ऐसा असहाय, ऐसा निराश्रय और कोई है? प्रभु, जो महादरिद्र हैं उन्हींके लिये तो धनीके सदावर्त्त सदा खुले रहते हैं! जो मेरे जैसे दरिद्र हैं, राहके भिखारी हैं, उनके लिये एक बार अपना द्वार खोल दो। तुम 'शरणागत दीनार्त्तपरित्राणपरायण' हो, अपना यह नाम एक बार चरितार्थ करो।

धन नहीं है, इसके लिये दुःख नहीं होता; देशव्यापी ख्याति नहीं है, लोकोत्तर प्रतिभा नहीं है, इससे भी कोई परिताप नहीं होता; शरीर भी स्वस्थ नहीं है, इसका भी कोई सोच नहीं है; पर तुम्हें क्यों नहीं प्यार करता, तुम्हारे ऊपर वह अगाध विश्वास क्यों नहीं होता, इससे मेरे नेत्र फटे जाते हैं और जल निकलता है, अपने ही ऊपर भीषण क्रोध होता है! सबमे मुझे तुमने वञ्चित कर रखा है, यह ठीक है! परन्तु तुम्हारे आश्रयसे वंचित रहूँ, ऐसी इच्छा तो नहीं है। मेरा कुछ भी नहीं है, यह व्यवस्था तो अच्छी ही रही, पर मन इसे क्यों नहीं समझता? विषयोंके पीछे भटकते-भटकते क्लान्त हो गया हूँ, मन-प्राण अवसन्न हो गये हैं; फिर भी विषयोंमें कोई रस नहीं, यह बात अभी तक समझमें न आयी। इसमें कितना कष्ट हो रहा है, कितना निराश हो रहा हूँ, तब भी भ्रम नहीं मिट रहा है। यह कैसी मूढ़ता है। तुमने जो दिया ही नहीं, उसका खेद भला क्यों हो?

अकिञ्चनके धन तो तुम हो! मुझे तुमने अकिंचन बनाया,

यह तो मेरा परम सौभाग्य है। तुम्हें पानेका यह रास्ता ही तो तुमने बना दिया है! पर दुःख है, मेरा मन यह सुयोग ग्रहण न कर सका। उसने तुम्हारी व्यवस्था न मानकर आप ही अपनेको वञ्चित किया! भारत-लक्ष्मी कुन्तीने कहा था, "सम्पद में मंगल नहीं; कारण कुलीनता, ऐश्वर्य, विद्यावत्ता और सौभाग्यके मदसे मत्त होकर मनुष्य तुम्हारा नामोच्चारण भी नहीं कर सकता। हरि! तुम अकिंचनके धन हो; जिसका कुछ नहीं उसीको तुम दर्शन देते हो।" वही अकिंचन बनाकर तुमने मुझे भेजा, उसमें भी मैंने तुम्हे नहीं पाया! तुम्हारी कृपाको मैं नहीं समझ सका! इसीसे रत्न फेंककर काँचके टुकड़ोंकी भीख माँगता फिरता हूँ! दिन-रात क्या चाहता हूँ, क्या सोचता हूँ! तुम्हे तो नहीं चाहता? परंतु धन्य है तुम्हारी दया, मैं भूलकर भी तुम्हारी चिन्तन नहीं करता, पर तुम तब भी मुझपर दया किये जाते हो—उससे विरत नहीं होते!

मेरा भ्रम कब दूर होगा? कब सब कुछ फेंककर तुम्हे चाहने लगूँगा? तुम जो मेरे सर्वस्व हो, कब तुम्हारे लिये प्राणोंके अंदर दारुण वेदना उत्पन्न होगी? मैं तो अपने मनको किसी तरहसे भी समझा नहीं सका। निरुपायके उपाय तुम हो, एक बार आओ, तुम्हारे कृपाकटाक्षपातसे हृदयके सब भार हलके हो जायँ। मुझे विषयोंसे खींच लो, तुम्हारा कृष्ण नाम जययुक्त हो। प्रभु, तुम जगज्जनमनोमोहन हो, मेरा मन हरण कर लो। तुम जगदभिराम, सब जीवोंके प्राणाराम हो! तब चित्तको भला

तुम प्रिय न लगोगे ? मेरे सब आश्रय मिट जायँ, केवल तुम्हारा आश्रय न छूटे। तुम जीवनके परम सम्पद हो, जीवकी परम गति हो, यह सत्य तुम्हीं मेरे मनमें अंकित कर दो। मुझे अकिंचन कर दो, नाथ, सच्चा कंगाल बना दो, नाथ ! इसका व्यर्थ अहंकार और अभिमान-मद मुझे अब अच्छा नहीं लगता। मुझे अपने पाद-पद्मोंके भिखारी बना दो, मैं और कुछ नहीं चाहता। मैं दीनोंमें सबसे दीन, कंगालोंमें सबसे बड़ा कंगाल, भिखारियोंमें महाभिखारी हूँ, फिर भी अपनेको राजा माने बैठा हूँ! यह कैसा व्यर्थ मोह, कैसा मिथ्या अभिमान है! अरे मूर्ख, एक क्षणके लिये भी जो स्थिर नहीं हो सकता, जो वासनाके घूर्णावर्त्तमें केवल चक्कर काटता है, उससे बड़ा दरिद्र, उससे बड़ा असहाय और कौन है ? हा! यह बात तुम समझ नहीं सके! तुम किस मुँहसे लोगोंके पास सम्मानकी भिक्षा माँगने जाते हो ? अरे महाभिखारी, महादरिद्र, तू किस नशेमें चूर है, अपनी अवस्थाकी बात तूने कभी एक बार भी नहीं सोची ?

दयामय ! करुणानिधान ! यह जो शराबीकी तरह उन्मत्त है, इसे तुम संयत करो ! तुम यदि इसकी रोक-थाम न करोगे तो इसे और कौन संयत करेगा ? प्रभु, जो तुम्हें 'प्रिय' जानता है, उसीकी प्रिय वस्तु सुरक्षित रहती है; जो अन्यवस्तुको प्रिय जानता है उसका प्रिय विनाशको प्राप्त होता है। मैं अब किसी चीजके लिये, किसी प्राणीके लिये व्याकुलता प्रकट करनेवाला

न बनूँ। मेरी संपूर्ण व्याकुलता प्रज्वलित अग्निशिखाकी शत लोलजिह्वाओंके समान तुम्हारे चरणोंकी ओर प्रसारित हो। मुझे निपीड़ित करो, अपमानित करो, मेरा सब कुछ निकाल लो, पर सदा मुझे अपने चरणोंकी ओर खींच रखो।

प्रभु, सबके ही प्रति तुम्हारी ऐसी ही दया हो। सब लोग तुम्हें न पाकर विषकी ज्वालामें जल कर मर रहे हैं। तुम अमृत सुधा हो, तुम्हें न पाकर सबके ही हृदय धक्धक् जल रहे हैं। प्रभु, यह आग तुम बुझाओ। और किससे कहूँ, किसमें इतनी सामर्थ्य है। तुम सर्वशक्तिमान् हो, तुम चाहो तो सब कुछ कर सकते हो, तुम्हीं मनको यह समझा दो कि—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
,त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥"

तुमी माता, तुमी पिता
सखा, बन्धु सब तुमी,
तुमी विद्या, तुमी धन
तुमी मोर अन्तर्यामी।
सर्व्वश्रेष्ठ धन मोर
हृदयेर रत्नहार,

तोमाके बासिब्रो भालो,
दाओ एई अधिकार।
आर किछु नाहि चाई,
शुधू पदे भिक्षा एई
दिवानिशि जेनो ओई
पदेते प्रणत होई॥

भिक्षां देहि

(भिखारियोंकी बातचीत)

'मै भिखारी दरवाजेपर खड़ा हूँ। तुम कौन अंदर हो ? इस पीड़ित, दुखी, अनाथ भिखारीको एक मुट्ठी भीख दे जाओ ! मुझे आये बहुत देर हो गयी, बड़ी देरसे बाट देख रहा हूँ। अब और खड़ा नहीं रहा जाता। कौन हो, दया करके तनिक-सी भीख दे जाओ ! सूर्यनारायण अस्ताचलको जाने लगे, सन्ध्या हो आयी। पृथ्वी घने अन्धकारसे ढकी जाने लगी। क्या अब भी तुम्हारे आनेका समय नहीं हुआ ? दिनभर सूर्यका प्रचण्ड ताप सहता हुआ मैं कितनी दूरसे चलकर तुम्हारे दरवाजेपर आया। बड़ी आशा करके आया था, कि तुम बिना कुछ दिये कभी नहीं लौटाओगे! मेरे दुर्दैवसे यह कैसा विपरीत फल हुआ?

कहाँ हैं यह दान करनेवाले दाता ? यहाँ तो कुछ भिखारियोंको छोड़कर और कोई भी नहीं दीखता ! कहाँ हो, तुम प्रभु राजाधिराज ! एक बार इस दीन दरिद्रकी ओर दृष्टिपात तो करो ! जानता हूं कि मैं दरिद्र हूँ, इसीलिये तो तुम्हारे द्वारपर खड़ा हूँ। हाय ! क्या तुम भी मुझे दरिद्र समझकर उपेक्षा करते हो ? एक शब्द मुँहसे बोलकर भी क्या दरिद्रका मान नहीं रक्खोगे ? क्या यही तुम्हारी आर्त्त-त्राण-परायणता है ? क्या यही तुम्हारी शरणागतवत्सलता है ? लोग तुम्हें दीनानाथ कहते हैं, इस दीनने भी इसीलिये तुम्हारे दरवाजे तक आनेका साहस किया था। ऐसा जानता तो शायद मैं न आता। मैं धन-ऐश्वर्य माँगने नहीं आया। मुझे मान-प्रतिष्ठा भी नहीं चाहिये, मैं तो केवल तुम्हारे चरण-रजका भिखारी हूं ! मुझमें न भक्ति है, न प्रेम है, न ज्ञान है। कोई भी आश्रय नहीं है। जिसके कोई सहारा नहीं होता, उसके तुम होते हो। यह सुनकर ही तुम्हारे दरवाजे आया था, पर तुमने भी इस अभागेकी ओर दया-दृष्टि नहीं की—तुमने भी मेरी वेदनाको नहीं समझा ! अब यहाँ खड़े रहनेसे क्या होगा ? लो चलता हूं।'

'अरे यह दीन दुर्बल कौन है ? कौन है तू कङ्गाल भिखारी ? भाई, क्रोध करके न जा। मेरी बात सुन, जरा ठहर ! इस प्रकार आँसू पोंछता हुआ क्यों निराश-मनसे लौटा जा रहा है ? भीख नहीं मिली इसी अभिमानसे रो रहा है ? भाई ! तू तो भिखारी है, भिखारीको क्या कभी अभिमान शोभा देता है ?

किसपर अभिमान करता है ? अभिमान करके कहाँ जायगा ? इस राजाके राज्यको छोड़कर तो कहीं स्थान ही नहीं है, जहाँ चला जायगा ? माँगेगा भी किससे ? तुझे कौन भीख देगा ? उनके सिवा दूसरा तो और कोई भी नहीं है। हम भी भिखारी हैं, भीखके लिये ही बैठे हैं। तू तो भाई ! अभी आज आया है, इतनी ही देरमें अधीर हो गया और अभिमान करके लौटने लगा। जानता है, हम कबसे यहाँ पड़े हैं ? एक दो दिन नहीं, एक दो महीने या वर्ष नहीं। हमें यहाँ खड़े पूरे दो युग बीत गये, परन्तु हमारे लिये अभी दरवाजा नहीं खुला ! इससे यह मत समझना कि अन्दर कोई नहीं है, अन्दर राजराजेश्वर ही हैं। यद्यपि हमलोगोंको अभी अन्दर जानेका अधिकार नहीं मिला, परन्तु हमने अबतक बहुतोंको भीतर जाते देखा है ! हमलोगों के जानेका समय अभी नहीं हुआ; जबतक समय नहीं होगा, तबतक दरवाजेपर खड़े रहना ही होगा। द्वारपर खड़े रहनेके सिवा और उपाय ही क्या है ? इसीलिये खड़े हैं। एक दिन समय अवश्य आवेगा। इसी आशापर छाती टिकाये बैठे हैं। कुछ लोगोंको अन्दर जाते देख लिया है, इसीसे आशा नहीं छूटती ! हमलोगोंमें और भी बहुत-से पहलेके आये हुए हैं, उनमेंसे किसी-किसीने उस राजाधिराजके शरीरके आभूषण देखे हैं, किसीको उनके मस्तकका किरीट देखनेको मिला है। किसी-किसीको उनका कण्ठस्वर सुनायी दिया है और किसी-किसी भाग्यवान्ने उनके चरणकमलोंकी ज्योतिके दर्शन किये हैं। वे

सब लोग इसीमें मस्त हो रहे हैं। इस नशेमें वे अब यहाँसे हट ही नहीं सकते। परन्तु अबतक उनको भी अन्दर जानेकी अनुमति नहीं मिली! कब मिलेगी, इस बातको भी कोई कह नहीं सकता। पर एक दिन मिलेगी अवश्य, ऐसा सभी कहते हैं। भाई! यदि तू आ गया है, यदि बड़े भाग्यसे भुवनेश्वरके महलके दरवाजेपर आकर पड़ गया है, तब लौटकर क्या करेगा? खाली हाथ अपना-सा मुँह लिये लौट जानेमें कोई लाभ नहीं है। बहुत देर हो रही है? धीरज छूटनेकी आशंका है? इस चिन्तासे क्या होगा? उनके न मिलनेपर भी दिन तो छोटे नहीं हो जायँगे। दीर्घकाल कटेगा कैसे? यहाँ तो आशा भी है, दूसरी जगह किस आशाको लिये भटकेगा? तेरी इच्छाको कोई पूर्ण नहीं कर सकता! भटक-भटककर भग्न हृदयसे खाली हाथों थके-हारे फिर इसी दरवाजेपर लौट आना पड़ेगा! तब फिर व्यर्थ परिश्रम कर क्यों हैरान होता है? कर्म कर्ताकी इच्छापर है। दान दाताकी दयापर निर्भर है। हम और क्या कर सकते हैं? इस दरवाजेपर खड़े राह देखनेके सिवा और उपाय ही क्या है? इस द्वारपर खड़े रहकर बाट देखना ही हमारा पुरुषार्थ है। बस, हमारे पुरुषार्थकी इतनी-सी ही सीमा है! उनके दर्शन पाना तो उनकी इच्छापर निर्भर करता है! घरमें प्रवेश तो उन्हींकी इच्छासे होगा, वह इच्छा माननी ही पड़ेगी—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'

अच्छी बात है, नहीं तो कड़े विधानको ही मानकर चलना होगा। विधान माननेकी तो इच्छा है परन्तु उतनी शक्ति नहीं है, क्या इसी बातकी चिन्ता कर रहा है? चिन्ता न कर! जितनी शक्ति है, उसीसे उनके लिये पूजाकी थाली सजा! अर्घ्य हाथमें लेकर खड़ा रह। थोड़ा हो तो भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं! वह तो भावग्राही हैं। हमारी शक्तिकी न्यूनताको क्या वह कभी भूल जायँगे? कभी नहीं। वह क्या इसके लिये रूठ जायँगे? कभी नहीं। हमारे घरमें राज-भोग नहीं है, सामान्य चावलोंकी कनी है, इस बातको वह जानते हैं। हम जो देंगे, वह उसीको हाथ पसारकर ले लेंगे। आदरके साथ भोग लगावेंगे! बस, तू जरा श्रद्धा और प्रेमसे उन्हें निवेदन करना!

क्या यह कहता है कि श्रद्धा-प्रेम कहाँसे मिलेंगे? भाई, इतनी-सी कमाई तो तुझे स्वयं करनी पड़ेगी। कुछ तो इसका बल तेरे पास है ही, उसे और जरा बढ़ा ले। उनके साथ तेरा संयोग करानेमें यह श्रद्धा-प्रेम ही सेतु है। जबतक उनकी प्राप्ति न हो, तबतक धैर्यके साथ राह देख और श्रद्धासे आत्म-निवेदन कर। उनको मिलना ही पड़ेगा, तू उनको पावेगा ही। केवल अपना पाथेयभर संग्रह कर रख!

शक्ति कम है, या बुद्धि मन्द है, इसके लिये चिन्ता न कर। तेरे पास जो कुछ है, उसीके द्वारा यदि तू प्रस्तुत हो

कौन तेरे घरपर पधारेंगे ? वह सम्राटोंके सम्राट् हैं, त्रिलोकीके सम्राट्से भी बहुत बड़े हैं, गुरुओंके गुरु और पितामहोंके भी पितामह हैं, वही जनिता हैं, वही विधाता हैं ! उनके स्वागतके लिये सभी कष्टोंको मस्तकपर चढ़ा लेना होगा। यह समझता है कि हृदय विदीर्ण हो जायगा, शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे और शोणितकुम्भ फूट जायगा ? हो न जाय ऐसा ! इसमें क्या हानि है ? यह सब वस्तुएँ हैं किसके लिये ? इस शरीरका मचान बाँधकर हम बैठे क्यों हैं ? उन्हीके लिये तो सब कुछ है ! यदि उनके लिये इसको तोड़ फेंकनेकी आवश्यकता होगी तो उसी दम तोड़ डालेंगे ! पतिसे आदर न मिलनेपर भी पतिव्रता-को अपने मनमें पतिके चरण-कमलोंके सिवा और किसी वस्तुको स्थान नहीं देना चाहिये, नहीं तो सतीधर्म नष्ट हो जाता है। उनकी दी हुई वस्तुओंसे कष्ट होता हो तो भी बड़े सम्मान-के साथ उन वस्तुओंको सिरपर चढ़ा लेना चाहिये। मन आपत्ति करता है ? इससे तो काम नहीं चलेगा। इस व्रतका यही मन्त्र है। वे आवें या न आवें, प्रतिदिन अपने हाथोंसे झाड़ू लगाकर घर, द्वार, रास्ता सब साफ कर रखना होगा। लता-पत्रोंसे और पुष्प-धूपसे घरको सुसज्जित और सुगन्धित रखना होगा। घीका दीपक जलाकर अकेले बैठे-बैठे सारी-सारी रात राह देखनेमें बिता देनी पड़ेगी। वह हमारे स्वामी हैं, हमारे प्रभु हैं, आपत्ति करनेसे काम नहीं होगा। क्या यह कहता है कि इससे कुछ नरम या सहज साधन होना चाहिये ? यदि ऐसा हो तो

अच्छी बात है, नहीं तो कड़े विधानको ही मानकर चलना होगा। विधान माननेकी तो इच्छा है परन्तु उतनी शक्ति नहीं है, क्या इसी बातकी चिन्ता कर रहा है? चिन्ता न कर! जितनी शक्ति है, उसीसे उनके लिये पूजाकी थाली सजा! अर्घ्य हाथमें लेकर खड़ा रह। थोड़ा हो तो भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं! वह तो भावग्राही हैं। हमारी शक्तिकी न्यूनताको क्या वह कभी भूल जायँगे? कभी नहीं। वह क्या इसके लिये रूठ जायँगे? कभी नहीं। हमारे घरमें राज-भोग नहीं है, सामान्य चावलोंकी कनी है, इन बातको वह जानते हैं। हम जो देंगे, वह उसीको हाथ पसारकर ले लेंगे। आदरके साथ भोग लगावेंगे! बस, तू जरा श्रद्धा और प्रेमसे उन्हे निवेदन करना!

क्या यह कहता है कि श्रद्धा-प्रेम कहाँसे मिलेंगे? भाई, इतनी-सी कमाई तो तुझे स्वयं करनी पड़ेगी। कुछ तो इसका बल तेरे पास है ही, उसे और जरा बढ़ा ले। उनके साथ तेरा संयोग करानेमें यह श्रद्धा-प्रेम ही सेतु है। जबतक उनकी प्राप्ति न हो, तबतक धैर्यके साथ राह देख और श्रद्धासे आत्म-निवेदन कर। उनको मिलना ही पड़ेगा, तू उनको पावेगा ही। केवल अपना पाथेयभर संग्रह कर रख!

शक्ति कम है, या बुद्धि मन्द है, इसके लिये चिन्ता न कर। तेरे पास जो कुछ है, उसीके द्वारा यदि तू प्रस्तुत हो

जायगा, तो उनकी दयाका अनुभव होनेमें विलम्ब नहीं होगा! उन्होंने स्वयं कहा है—'जो मेरी शरण लेता है, उसे कोई भय नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९ । ३१)

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । १०)

वह यदि कृपा करके उद्धार नहीं करेंगे तो फिर जीवके लिये कोई उपाय ही नहीं है। परन्तु भक्तानुग्रहकारी भगवान् भक्तपर कृपा करते ही हैं। भागवतमें इसके लिये उपायका यह क्रम बतलाया है—

'श्रद्धा होनेसे ही क्रमशः श्रवणकी इच्छा होती है, इच्छासे अभिरुचि उत्पन्न होती है। भागवती कथामें प्रेम होनेपर सारे अशुभ दूर हो जाते हैं, क्योंकि जो हरि-कथा सुनते हैं, साधु पुरुषोंके सखा हरि उनके हृदयस्थ होकर कामादि वासनारूप बाह्य और आन्तरिक सभी अमंगलोंको दूर कर देते हैं। नित्य भागवत-सेवाद्वारा उन सब अमंगलोंके नष्ट हो जानेपर पवित्र-कीर्ति भगवान्में निश्चल भक्ति उत्पन्न होती है, तब फिर रजोगुण और तमोगुण-जनित काम-लोभादि चित्तमें प्रवेश नहीं कर सकते। इससे अन्तःकरण सत्त्वगुणसे विभूषित होकर प्रसन्न

हो जाता है! भगवद्भक्तिके सहयोगसे मनके इस प्रकार प्रसन्न होनेपर मनुष्य संसार-पाशसे छूट जाता है, तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति और उसके अनन्तर ही आत्म-साक्षात्कार होता है। उस समय उसका 'अहं' भाव नष्ट हो जाता है, सारे संशय मिट जाते हैं, और जिन (सञ्चित) कर्मोंका फलोदय आरंभ नहीं हुआ, वे सब नाश हो जाते हैं।'

पूजार मंत्र एवार शुधु
प्राणेर ज्वाला तोमाय गला ॥
कुवासना हवे अर्घ्य
मोह पुष्प उपहार,
शोकाग्नि हईवे दीप
शख हवे हाहाकार।
अतृप्ति उठिवे ज्वलि
मने प्राणे अनिवार,
तातेई आरति तव
करिव ये मा आमार ॥
आछे तप्त अश्रु राशि
ताई मा व्यथित हृदे,
दिव पुष्पाञ्जलि वोई
तव पद कोकनद ।

(सच्चा प्यार) प्रीति

संसारमें बहुत-सी वस्तुओंको हम पसंद करते हैं, उनसे प्यार करते हैं और चाहते हैं कि वे हमारी हो जायँ। परन्तु यह 'प्यार' आसक्ति होनेपर भी उन वस्तुओंके प्रति प्रेम नहीं कहा जा सकता! मान लीजिये, सरोवरमें एक सुन्दर सरोज खिल रहा है, उसमें मृदु, मधुर, मनोहर सुगन्धि निकलकर वायुके साथ मिलकर हमारी इन्द्रियोंको तृप्त कर रही है। कमलकी इस नेत्रोंको सुख पहुँचानेवाली शोभा और घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाली सुगन्धिको पानेके लिये मनमें जो लालसा होती है, वह वास्तवमें उस कमलके प्रति हमारा सात्त्विक प्यार नहीं है। विषयेन्द्रियके संयोगसे जो आकर्षण या तृप्तिका अनुभव होता है,

यह राजसिक है। पुत्रके सौभाग्यसे या नारीके गात्रस्पर्शसे होनेवाले आनन्दका अनुभव केवल इन्द्रियतृप्तिमात्र है। कीर्ति या धनके प्रति होनेवाला आकर्षण भी इसी श्रेणीका प्यार है। इससे ऊपर उठे विना सात्त्विकी प्रीतिका उदय नहीं होता। जब इन्द्रियचरितार्थताके लिये तनिक-सी भी व्याकुलता नहीं रहती, तभी सात्त्विकी प्रीति होती है। जिसको देखते या सुनते ही हृदयमें एक अनिर्वचनीय प्रीतिका संचार हो जाता है,—एक तरहका अपने-आपको भुला देनेवाला कामगन्धशून्य आनन्द जाग उठता है—अपनी कहलानेवाली प्रत्येक वस्तुको जब उसके चरणतलपर चढ़ा देनेकी इच्छा प्रबल हो उठती है, तभी वह असली प्यार या निर्मल प्रेम कहलाता है। 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' (नारदभक्तिसूत्र २) यही भक्तिका स्वरूप है।

सेवा या प्यार करनेमें जब रत्तीभर भी बदला पानेकी आशा हृदयमें नहीं रह जाती; सेवा या प्यार इसीलिये किया जाता है कि वैसा किये विना कल नहीं पड़ती; बुद्धिका ऐसा निश्चयात्मक सहज और सरलभाव ही यथार्थ 'प्यार' कहलाता है। सरोवरमें कमल खिल रहा है, उसकी शोभा और सुगन्धिसे इन्द्रियाँ खिंची जा रही हैं, परन्तु जो शोभा और सुगन्धि अपने आकर्षणसे इन्द्रियोंमें उत्तेजना उत्पन्न करके या उनको तृप्त करके ही शान्त नहीं हो जाती किन्तु किसी प्रियतमकी आनन्दस्मृतिको जगा देती है, जिससे उसके चरणकमलोंके पानेके लिये मनमें व्याकुलता छा जाती है, उसीका नाम 'प्रेम' है। कमलके

प्रति इसीलिये अनुराग है कि वह हमारे प्रियतमकी स्मृतिको जगा देता है, यही सात्त्विक अनुराग है।

जो 'प्यार' इन्द्रिय-द्वारपर जाकर ही रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता, उसे मोह उत्पन्न करनेवाला राजसी प्यार समझना चाहिये। उससे प्रेमका स्फुरण नहीं होता। प्रेम तो जगत्‌को भुला देता है, अपने आपको खो देता है! उसमें न तो भोगकी आसक्ति है और न वहाँ 'अहम्' में ही सिर उठानेकी शक्ति रहती है। जहाँ पूँजी इकट्ठी करने, कुछ प्राप्त करने, दूसरेको ठगने या किसीको अपना बनानेके लिये प्रेमके नामसे व्यवसाय किया जाता है, वहाँ प्रेमका विकास नहीं होता। अपनेको लुटा देने—अपनेको भूल जानेमें ही प्रेमकी पूर्णता है। जहाँ 'अहं' है, जहाँ भोगोंकी इच्छा है, वहाँ विशुद्ध प्रेमका जन्म नहीं हो सकता। इन्द्रियोंकी लालसा और उनको चरितार्थ करनेका आवेग जहाँ जोरोंपर होता है, वहाँ पवित्र प्रेमका उदय होना असम्भव है। अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी इच्छाका नाम प्रेम नहीं है, वह तो प्रेमका विकार है। साधारणतः स्त्री-पुरुषोंमें जो परस्पर मिलनकी इच्छा होती है उसको भी सभी समय प्रेम नहीं कहा जा सकता। धनके लोभीकी धनके लिये जो तीव्र लालसा होती है या कामीकी जो कामिनीके प्रति आसक्ति होती है वह तो केवल नीच इन्द्रिय-लालसामात्र है। वह कभी देहसे आगे नहीं बढ़ती। यदि किसी अचिन्त्य भाग्यबलसे कभी वह प्यार देहकी सीमासे आगे बढ़ जाय, निजेन्द्रिय-सुखकी

इच्छा सर्वथा नहीं रहनेपर भी परस्परमें एकान्त अनुराग बना रहे और वह नित्य नवीन रहकर प्रबल वेगसे बढ़ता हुआ असीममें जाकर अपनेको मिटा दे, तब उसे प्रेम कहा जा सकता है। यही आत्माके साथ आत्माकी, चेतनके साथ चेतनकी मिलनेच्छा है—इसीका नाम विशुद्ध प्रीति, सात्विक प्यार या यथार्थ प्रेम है। प्रीति, प्यार और प्रेम स्वरूपसे एक ही वस्तु हैं, स्थानभेद तथा गुरुत्वभेदसे नामोंमें भिन्नता है।

हम जिस वस्तुको इन्द्रिय-द्वारपर देखते हैं, उसे उपभोग मान लेते हैं, यही हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द या जो कुछ भी कहें, सभीको समझनेमें हम भूल करते हैं। जरा-सा पीछे घूमकर देख लें तो फिर कोई भ्रमकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु हम अधिकांश समय हो पीछे फिरकर नहीं देखते, जो सामने पाते हैं उसीको पकड़कर सन्तुष्ट हो रहते हैं। इसीलिये इन्द्रिय-द्वारपर जो वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, वे किसका प्रकाश है, यह नहीं पूछकर, जो कुछ देखते, सुनते, सूँघते, स्पर्श करते या चखते हैं, बस, उसीको परमानन्दस्वरूप मानकर भ्रममें पड़ जाते हैं। वस्तुतः इन्द्रिय-द्वारसे जो कुछ प्रकाशित होता है, वह न इन्द्रिय है और न इन्द्रियका भोग्य पदार्थ ही। हम केवल भ्रमसे उसे भोग्य वस्तु समझते हैं।

घरका दरवाजा खुला हुआ है, उसमेंसे सूर्यका प्रकाश घरके अन्दर आ रहा है। मूर्ख मनुष्य समझ लेता है कि यह दरवाजा ही प्रकाश है और जितनी रश्मियाँ पड़ रही हैं, बस, यह उतना

ही हैं, इसके परे और कहीं कुछ भी नहीं है। परन्तु वास्तवमें वह प्रकाश दरवाजेका नहीं है। दरवाजा प्रकाशके आनेका एक मार्ग-मात्र है, और इस मार्गसे जितना-सा प्रकाश आ रहा है, वह सम्पूर्ण प्रकाश भी नहीं है। वह तो अनन्त प्रकाशका एक क्षुद्रतम अंशमात्र है, अंश होनेपर भी वह उस अनन्तके साथ योगयुक्त अवश्य है। प्रकाश दरवाजेसे होकर ही आता है परन्तु वह दरवाजेसे बिल्कुल दूसरी वस्तु है। इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श जो कुछ हम उनके इन्द्रिय-द्वारोंसे अनुभव करते हैं वह इन्द्रिय या केवल इन्द्रियोंका विषय ही नहीं है, वह उस अखण्ड-सत्यका ही प्रकाश है। परन्तु हम उन वस्तुओं-को, जितना उनका इन्द्रियोंसे प्रकाश होता है, उतना-सा ही मानकर महान् भ्रममें पड़ जाते हैं। छायाका स्वरूप न जाननेसे जैसे उसको काया समझकर मनुष्य भ्रममें पड़ता और डर जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-द्वारपर सत् वस्तुके प्रकाशको भी केवल वही समझकर हम डरते और परास्त हो जाते हैं। वस्तुतः हम जो कुछ देखकर, सुनकर, सूँघकर, चखकर या स्पर्श करके सुख प्राप्त करते हैं, वह सुख उन वस्तुओंमें नहीं है। उनसे अतीत होकर भी वह वर्तमान है, इस बातका अनुभव करनेपर ही सुखका स्वरूप जाननेमें आता है। परन्तु हम तो इस वस्तुमात्रको ही सुख समझ लेते हैं, इसीसे भ्रम हो जाता है, और उसकी भोग्यरूपतासे परे जो उसका स्वरूप है, इस बातको हम नहीं जान सकते। इसलिये इन्द्रियद्वारोंसे *मर्मस्पर्शी मधुर संगीत,*

नयनानन्ददायी रूप या मधुर स्पर्श आदि जो सब निरन्तर अनवरतरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं, उन सबका अनादि झरना इन्द्रियोंसे परे है, इस बातको भूलकर इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये।

इन इन्द्रियद्वारोंके प्रकाशकी गति भी उस अनन्तकी ओर ही है। जैसे छोटे-छोटे प्रवाहोंकी गति समुद्रकी ओर हुआ करती है वैसे ही इन्द्रियद्वारोंके इन प्रकाशोंकी गति भी उस अखण्ड-आनन्दघन प्रकाश—समुद्रकी ओर है। यह समझ लेनेपर हमारी इन्द्रिय-वृत्तियाँ फिर इन्द्रिय-वृत्ति नहीं रहतीं, वह भक्ति-वृत्तिमें परिणत हो जाती हैं। हम जो इस समय क्षुद्र-क्षुद्र इन्द्रियप्रकाशके प्रवाहको देखकर ही इतना आनन्दित हो रहे हैं, पता नहीं, आनन्दके उस असली झरनेको देखनेपर तो हमारा चित्त कैसे आनन्दसागरमें डूब जायगा! उस झरनेको न देखकर हम भूल जाते हैं और मोहके गढ़ेमें पड़कर यथार्थ प्रकाशके स्वरूपका अनुभव नहीं कर पाते। जिसके सौन्दर्यको इन्द्रियाँ केवल वहन करके लाती हैं, वही 'परम सुन्दर' ढूँढने-पर नहीं मिलता। छोटा बालक जैसे नटकी कल्पित पोशाक तथा उसकी सजावट-बनावट देखकर कभी प्रसन्न और कभी दुखी होता है, परन्तु पोशाक और सजावटकी आड़में जो नट रहा हुआ है, उसे वह नहीं देख सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य समस्त इन्द्रियोंके द्वारपर उसके प्रकाशको देखकर—कुछ और ही समझकर पल-पलमें हर्ष और विषादको प्राप्त होते हैं।

एक विषयसे दूसरे विषयमें मनका लक्ष्य बार-बार परिवर्तन करते रहनेसे वह सत्यस्वरूप चचंलताके आवरणसे ढक जाता है। इसीसे भ्रम होता है। मनकी यह विक्षेप-शक्ति ही महान् अनर्थका मूल है; तो भी इस विक्षेपके दूर होनेका कोई उपाय नहीं दीखता, कारण मन स्वभावसे ही चचल है। इन्द्रियद्वारोंपर अनवरत भटकना ही उसका स्वभाव है। यह मन जब जिस इन्द्रियके विषयमें स्थित रहता है तब उसको आत्मासे पृथक्, बाहरी वस्तु बतलाकर भ्रम उत्पन्न कर देता है, इसीसे मनुष्य पराजित हो जाता है। आत्मासे पृथक् स्वतन्त्ररूपसे जब किसी वस्तुकी उपलब्धि होती है, तब वह केवल क्षणिक सुख ही प्रदान करती है। वह अनन्त सुख देनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकती। परन्तु समस्त इन्द्रियद्वारोंपर सब उसीका प्रकाश है—यह समझ लेनेपर फिर मनको इन्द्रियके प्रत्येक दरवाजेपर दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती। यह समझते ही मन विक्षोभरहित—शान्त हो जाता है। अवश्य ही विषयको छोड़कर मन घड़ीभर भी टिक नहीं सकता, इसीलिये इस समय उसका एकमात्र विषय रह जाता है 'कृष्णपदारविन्दम्।' यही 'तत्त्वं किमेकं शिवमाद्वितीयम्' है।

उसके अनन्तमुखी प्रकाशको समीकरण करना ही मनका निर्विषय भाव है। मन वस्तुकी आकांक्षा करता है और उसे पाकर तृप्त हो जाता है। इस तृप्तिका स्वरूप क्या है? इस तृप्तिका स्वरूप है यह निर्विषय भाव अर्थात् उस विषयके आकारमे मनकी दीर्घकाल तक स्थिति। उस समय मन उस विषयके

सिवा दूसरे रूपसे उपलब्ध नहीं होता। इस अवस्थाका नाम ही 'आनन्द' है। विक्षेपशून्य चित्तकी स्थिरता ही इस आनन्दका नामान्तर है। यह हो जानेपर वह आनन्द कभी भी बहुत विषयोंकी ओर नहीं जा सकता। मनकी गति बहुत तरफ होनेसे ही यथार्थ आनन्दमें विघ्न हुआ करता है। इसीलिये जहाँ चित्तकी चंचलता या कामना होती है वहाँ राम नहीं मिलते। 'जहाँ काम तहँ राम नहिं' अर्थात् वहाँ परमानन्द नहीं रहता। जहाँ मन अनेक कामनाओंसे घिरा होता है, वहाँ प्राणाभिरामका यथार्थ आविर्भाव सम्भव नहीं है। अतएव यथार्थ प्रीति वस्तुतः एकनिष्ठ और अव्यभिचारिणी हुआ करती है और वही यथार्थ प्रेम है।

जन्म-जन्मार्जित अनेक तपस्याके फलसे हमारे हृद्रोग नष्ट होनेपर भगवद्भक्तिका बीज अंकुरित होता है। भगवान् 'प्रेय: पुत्रात् प्रेयो वित्तात्' पुत्रसे भी प्रिय और धनसे भी प्रिय हैं, बड़े सौभाग्यसे हम इस बातको समझ पाते हैं। पता नहीं ऐसा सौभाग्य कब होगा जब कि सारी आशा छोड़कर एकमात्र उन्हींको प्रियतम प्राणसखा समझकर हम अपने हृदयासनपर विराजित कर सकेंगे?

किसी मनुष्यके प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करनेके लिये मनमें एक प्रबल आग्रह हुआ करता है। इसीका नाम 'प्यार' है। यह प्यार जब ईश्वरमें अर्पित कर दिया जाता है, तब उसीको वैष्णवगण अनुराग

कहते हैं। फिर आग्रह बढ़ते-बढ़ते जब यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता,—सब कुछ सूना-सा लगता है। मनके इस अत्यधिक अनुरागको 'आसक्ति' कहते हैं। तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है, तब एक अनन्तस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राणको आनन्द-महासिन्धुमें बहा ले जाती है। फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता। समस्त विश्वमें उस प्रेममयके स्पर्शका ही अनुभव होने लगता है। उस समय भक्त आनन्दविह्वल होकर गा उठता है—

सखि ? केहि विधि आनन्द उलेखौं। माधव मम मन्दिर नित देखौं॥
पाप-चन्द्र मोहिं जो दीन्हें दुख। पिय-मुख-दरस बढ़े उतने सुख॥
आँचल भरि जु महानिधि पावौं। तऊ न पिय परदेस पठावौं॥
शीत कामरी, ग्रीष्म सुबाता। बरषा छत्र नदी पिय नाता॥

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त क्षणभरका भी प्रियतमका विरह नहीं सह सकता। उसका हृदय नित्य नूतन हर्षसे अधीर और उन्मत्त रहता है। वह भगवान्‌को सब कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। किसी बातके लिये उसका चित्त चञ्चल नहीं होता। जगत्‌के धन-जन-मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते। तब वह अपने प्रेममयको पाकर उसके गले लगकर आँसू बहाता हुआ कहता है—

कहा कहौं प्रभु! कहन न जाना। तन-मन-धन तुम जीवन-प्रना॥
गर्वित, दीन्हि विलांजलि सबहीं। व्रत-कुल-लाज-गरब मम तुमहीं॥
तुम मम भूषण हिय-मनि-माला। तुम बिनु देह भार, बेहाला॥

चरन लागि मैं त्यागेहुँ सबही। सीतल चरन-सरन भइ जबही॥
प्रिय! तव हित छाँडे दूनौं कुल। निज धन जानि रखहु चरनन-तल॥

गोपियोंकी यही दशा थी यथार्थ भक्त उन्मत्तकी तरह होता है। वह हमलोगोंकी भाँति सभी मात्राओंको ठीक रखकर नहीं चल सकता। भावुक भक्तके इस प्रगाढ़-भाव इस अगाध अनुरागको ही 'प्रेम' कहते हैं। अवश्य ही पहले-पहल यह भाव सबको नहीं प्राप्त होता। गोपियोंको भी नहीं हुआ था। दीर्घकालतक उपासना करते-करते मनमें शुद्ध सत्त्वगुणका संचार होनेपर कामात्मक रजोगुण अपने-आप ही चला जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे हृद्रोग नष्ट होनेपर अकारण अहैतुकी भगवत्-प्रीतिका उदय होता है,—जीवनमें प्रेमकी बाढ़ आती है। नवयौवनके उद्दामसे युवतीके मनमें जैसे कान्तानुरागका संचार होता है, वैसे ही एक अनिर्वचनीय विशुद्ध आकांक्षके प्रबल आवेगसे अतीन्द्रिय अव्यक्त परमात्माके प्रति जीवका प्रबल आकर्षण होता है। इस प्रेमके तटध्वंसी भीषण स्रोतमें धन-जन-मान-प्रतिष्ठाका सारा गर्व गलकर बह जाता है—देहज्ञान नष्ट हो जाता है। इसी समय वह सब कुछ छोड़कर प्रियतमके मिलन-मार्गकी 'अभिसारिणी' बनता है। तब वह लोक-परलोककी कोई चिन्ता नहीं करता—प्रेमानन्दमें प्रमत्त होकर जगत्में निर्भय विचरण करता है। फिर जगतके सुख-दुःख, लाभालाभ उसके मनमें कुछ भी नहीं रह जाते। उसका जन्म-जीवन सार्थक हो जाता है।

अरूपेर रूप

नयन कोने हासिर रेखा, नयन मन जुडाईये,
क्षणिक हेसे हृदयाकाशे, कोथाय गेले मिलाईये ?
उपाधिहीन अरु माझे, नाहि जाय से रूप देखा,
चन्द्रमार लेखा येन, मेघ आवरणे ढाका।
सर्व्वव्यापि सर्व्वरूप, कातरे कृपा वितरि गो,
मदन मन मोहित करि, विनोद रूप धरये गो।
यो रूप हेरे मदन शत, मुरछि जाय चरणोपरे,
वाजावो सखा विनोद बाँशी, भकत-प्राण आकुल करे।
येरूप हेरे सत्य लोके, ब्रह्मादि महिमा गाय,
आँधार मुछि झलके ज्योति, निखिल लोक प्रकाश पाय।

दहराकाशे मुरलि ध्वनि, शुनिया योगी मूरछि पड़े
व्याकुल आँखि हइते कत, अमिय माखा सलिल झरे।
पागल हर मगन ध्याने, आहार लागि कैलासे,
प्रथम गण से भाव हेरि, नृत्य करे उल्लासे
कत ये ऋषि योगे ते बसि, करिछे तनु मन क्षीन,
पलक हीन नयने तारा, याचिछे ताँरे अनुदिन।
मधुर सूरे नारद ऋषि, गाहिछे तॉर महिमा गान,
नयने तॉर झरिछे वारि, प्रेमेते येन पागल प्राण।
तपन शत चन्द्र तारा, घुरिछे नील अम्बरे,
सकल भुलि तोमाके चाहि, रोदन नाहि सम्बरे।
निखिलजनहृदय धन, अपरुप किशोर श्याम,
ये रूपे मोहि व्रज गोपीरा, त्यजिल निज कूल मान।
साधुरा ताँके स्मरण करे, गहन वने पशिया,
गभीर ध्याने मगन हये, निखिल जाय भुलिया।
सेरूप हेरे सकल भुले, मुरछि गेनु पद तले,
हासिया तुमि झटिते एसे, लइले मोरे कोले तुले।
आदरे तनु परशि मोर, बलिले "सखा कि चाह आर?"
नयने मोर झरिल वारि, उथलि प्रेम पारावार।
बलिनु आमि किवा ये मोर, आछे गो प्रभु चाहिबार,
जानिना आमि, पेलाम तबु, सर्व्वस्व या पाईवार

मांकी बात

थोड़ा नमक नदी या समुद्रमें डाल दिया जाय तो वह फिर देख तो न पड़ेगा, पर नष्ट नहीं होगा, कहीं खो भी न जायगा, बल्कि समुद्रके एक-एक बिन्दुमें मिल जायगा। ठीक उसी तरह उन्हें दिया हुआ हमारा मन हजार झंझटोंके बीचमें पड़कर भी नष्ट नहीं होता, संसारमें खो भी नहीं जाता। इसीलिये तो मन उनके अंदर रख देनेका अभ्यास करना होता है। आँधी-तूफान न उठेगा, यह बात नहीं; समय-समयपर आँधी-तूफानके उठने पर भी ध्यानमें अभ्यस्त चित्त आँधी-तूफानके झकोरोंके साथ झूमता हुआ भी उन्हींकी ओर अपना लक्ष्य स्थिर रखता है। समुद्रमें जैसे झड़-तूफान उठते हैं, हमारे गृह-प्रपञ्चमें भी कितने

मड़, कितने तूफान उठा करते हैं! अनन्त समुद्रमें हर तरंगके साथ कितने शत-सहस्र जलकण (जो सब हैं समुद्रके ही अंग) उछल-उछल कर उठते और फिर तत्क्षण ही समुद्रमें मिल जाते हैं, ऊपर उठ कर भी बाहर नहीं जा सकते।

अनन्त समुद्रके समान माता हमारी अनन्त ब्रह्माण्ड-व्यापिनी हैं, अनन्त चिन्ता-तरंग-रंगिणी हैं! और हमलोग? समुद्रके वक्षस्थलपर उच्छ्वसित होनेवाले तरंगोंके अनन्त जलकण! हम सब ये असंख्य जीव-शिशु मातृवक्षपर असंख्य जलकणवत् उछलते-कूदते हैं। हम सब उन्हींके आनन्द हैं! हम लोग उछलकर भी अन्यत्र कहाँ जायेंगे? जहाँ कहीं भी कूदें-फाँदें, माँकी गोदमें ही क्रीड़ा करते रहेंगे। हमलोगोंको इसका पता नहीं रहता, इसीसे जीव इतना दुखी है। जिसे इसकी खबर है, आँधी-तूफान उसे डुबा नहीं सकता, न बाहरी ही निकाल फेंक सकता है। माँकी गोदमें निर्भय रहता हुआ वह जगत्में विचरता है। उसके कर्माकर्म, धर्माधर्मके कोई संस्कार भी नहीं रह जाते। आकाशमें भी कभी कोई दाग लगता है? कभी-कभी जो दाग लगा देख पड़ता है, वह केवल मनकी कल्पना है। मन जबतक रहता है, कल्पना भी तबतक रहती ही है। अतः क्या करना होगा, जानते हो? इस मनको उनके चटकीले लाल चरणयुगलमें मिला देना होगा। अन्ततः माँके चरणोंमें जैसे चन्दनका लेप करते हो वैसे ही, चन्दनके समान मन माँके चरणोंमें लगा रहे, ऐसा होनेसेही कोई गड़बड़ न

होगा। मनकी समस्त रंजिनी शक्ति लगा कर माँके रक्तिम चरणों को और भी आरक्त बना सकते हो। हमलोगोंकी समस्त वासना मातृचरणोंका आलता बन कर उन चरण युगलकी लालीको और भी चमका दे। ऐसा होनेसे वासनाकी ज्वालासे जलनेका फिर कुछ काम न रहेगा। वासना क्यों जलाती है, जानते हो? माँको भूल जाते हो इसीसे वह ज्वाला-सदृश होकर आत्म-प्रकाश करती है। अरे भैया, मनको कुछ हमलोगोंने थोड़े ही बनाया है? यह उनकी चीज है, उन्हींकी बनी है। यह बात भूलकर जब हमलोग उसे अपनी कहकर अभिमान करते हैं, तभी गड़बड़ी मचती है। "मेरा मन संकल्प करता है, मेरा मन विकल्प करता है, उसको ऐसा नहीं करने दिया जायगा, उसे सभ्य बनाना होगा।" यही सब पागलपन करनेके पीछे हम लोग दुःखको घर बुला लाते हैं। चीटियोंकी पंक्ति चली जा रही है और उसपर तुम अपना पाँव बढ़ा दो तो चीटियाँ तुम्हें काटेंगी ही; ऐसा करना ठीक नहीं। मनमें तरंग उठा करे, तुम भी उस तरंगके साथ झूम सकते हो, और एक बार आँखें मिलाकर देखो, वह तरंग भी क्या है? और किसकी गोदमें बैठे तुम झूम रहे हो? यह दृष्टि परिस्फुट होनी चाहिये। संसार है माँका, हमलोग भी उन्हींके हैं, यह बात यदि न भूले तो कोई गड़बड़ी नहीं मच सकती।

यदि इस प्रकार सोच-समझ सको तो तुम्हारी सब चिन्ताओं और कार्यों द्वारा माँकी-ही पूजा होगी। अलग कोई पूजा करने की आवश्यकता न होगी।

माँ हमारी नित्यानन्दमयी, नित्यनवनवरंगिणी हैं। इसीसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धमें उनका परम मनोहर हास्य कितना सुन्दर स्फुट होता है! वह आनन्द ही उनकी मूर्त्ति है, आनन्दसे ही वह मूर्त्ति गढ़ी गयी हैं। इसीसे माँके रूपमें—

'छाय छाय देउ भुवन सिन्धु-सारे'
हासिर प्रकाशे रविचन्द्र हासे
आकाशे दामिनी विकाशे रे।

इन माँको क्या कोई वैसा प्यार कर सकता है, या उनकी वैसी पूजा कर सकता है? प्यार कहाँ मिलेगा? सभी तो पड़े हैं माँके 'नाचद्वारपर'। वे ही जगत्-जीवको प्यार करती हैं, उन्हींका प्यार हमलोगोंके हृदयमें प्रतिविम्वित मात्र होता है। आओ, उन्हें प्रणाम करें—

सर्वतः पाणिपादान्ते सर्वतोऽक्षि शिरो मुखे।
सर्वतः श्रवणघ्राणे नारायणि नमोऽस्तुते॥

पाकर वह अभिमान कर बैठे—फिर तो भगवान् वहाँसे नौ दो ग्यारह ही समझो—बात याद आते भी भय लगता है। तब क्या करना होगा, जानते हो ? फिर कुछ देर खूब रोओ, पड़े-पड़े चिल्लाओ, अभिमान कर कितनी बड़ी मूर्खता की, यही बैठे-बैठे सोचो और आंसू बहाओ, और अपने हाथों अपने गालों पर चपत जमाओ। तब उन्हें यदि दया आयेगी तो फिर वे उदय होंगे, तब उनका स्मितमुखपद्म देखकर फिर मृत देहमें प्राण-संचार अनुभव करोगे।

अभिमानका अर्थ ही है अहङ्कारका तनकर खड़ा होना। वहाँ तुम हो, अतः वहाँ वे नहीं हैं। वे तो सर्वव्यापी हैं। वहाँ से हटकर वे अन्यत्र कहाँ जाते हैं ? जाते कहीं नहीं, वहीं रहते हैं; पर हमारा अभिमानरूप काला मेघ बीचमें आकर उनका प्रकाश ढाँक देता है। खड़े होनेका स्थान तो एक ही है। यदि तुम (याने तुम्हारा अभिमान) सामने आकर खड़े होते हो, तब उनके लिये वहाँ ठौर कहाँ ? तुम यदि न रहो तो उनका रहना सम्भव हो सकता है।

रस जबतक निवृत्त नहीं होता तबतक उन्हें कोई नहीं चाहता। इसीलिये परमतत्त्वका साक्षात्कार होना आवश्यक होता है। तुम कहोगे, भगवान् दया करें तो सब कुछ हो सकता है। विषयके साथ उनका सम्बन्ध ही नहीं है। अतः वे दया करके सामने आ जायँ तो विषयकी ओर खिंचाव ही टूट जायगा। आत्मा तो असंग है, *विषयका खिंचाव उसे स्पर्श तक*

पाकर वह अभिमान कर बैठे—फिर तो भगवान् वहाँसे नौ दो ग्यारह ही समझो—बात याद आते भी भय लगता है। तब क्या करना होगा, जानते हो? फिर कुछ देर खूब रोओ, पड़े-पड़े चिल्लाओ, अभिमान कर कितनी बड़ी मूर्खता की, यही बैठे-बैठे सोचो और आंसू बहाओ, और अपने हाथों अपने गालों पर चपत जमाओ। तब उन्हें यदि दया आयेगी तो फिर वे उदय होंगे, तब उनका स्मितमुखपद्म देखकर फिर मृत देहमें प्राण-संचार अनुभव करोगे।

अभिमानका अर्थ ही है अहङ्कारका तनकर खड़ा होना। वहाँ तुम हो, अत वहाँ वे नहीं हैं। वे तो सर्वव्यापी हैं। वहाँ से हटकर वे अन्यत्र कहाँ जाते हैं? जाते कहीं नहीं, वहीं रहते हैं, पर हमारा अभिमानरूप काला मेघ बीचमें आकर उनका प्रकाश ढॉक देता है। खड़े होनेका स्थान तो एक ही है। यदि तुम (याने तुम्हारा अभिमान) सामने आकर खड़े होते हो, तब उनके लिये वहाँ ठौर कहाँ? तुम यदि न रहो तो उनका रहना सम्भव हो सकता है।

रस जबतक निवृत्त नहीं होता तबतक उन्हें कोई नहीं चाहता। इसीलिये परमतत्त्वका साक्षात्कार होना आवश्यक होता है। तुम कहोगे, भगवान् दया करें तो सब कुछ हो सकता है। विषयके साथ उनका सम्बन्ध ही नहीं है। अत वे दया करके सामने आ जायँ तो विषयकी ओर खिंचाव ही टूट जायगा। आत्मा तो असंग है, विषयका खिंचाव उसे स्पर्श तक

नहीं कर सकता, परन्तु जबतक रस निवृत्त नहीं होता अर्थात् विषयस्पृहा नष्ट नहीं होती। तबतक आत्मा किसी चीजको स्पर्श नहीं करता, आत्मा सर्वथा असंग है यह बात भी तबतक समझमें नहीं आती। रसनिवृत्तिके बिना आत्माकी असंगताको समझना दुरूह है।

परमार्थ अथवा सत्यकी अवरोक्ष अनुभूति हुए बिना संसार-बीज या वासना नष्ट नहीं हो सकती।

वासनाका बीज ही विषयको आकर्षण करता है। परंतु परमात्माका दर्शन होनेपर चित्तके विषय-बीजका संस्कार जब लुप्त हो जाता है तब चित्तको विषय अपनी ओर नहीं खींच सकता। अत वासना-बीज या रसकी निवृत्ति हुए बिना चित्त शुद्धि नहीं होती अर्थात् उसे आत्मदर्शन नहीं होता।

अत जो लोग उन्हें चाहते हैं, उन्हें प्यार करते हैं वे अपने आपको भूल जाते हैं। श्रीचैतन्य देव कहते थे, "मुझे अपना नाम याद नहीं आता।" जिनके कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है, उन्हीं अकिञ्चन भक्तोंके ही तो वे 'सार-सर्वस्व हैं, इसीसे वे उन्हें अति संनिध लाभ करते हैं। यदि अपने आपको भूल नहीं सकते, तब तो उनका मिलना ही असंभव है। भूलना भी ऐसा-वैसा नहीं, एकवारगी सब कुछ भूलना होगा, शरीरको भूलना होगा, शरीरके संगसे जिन जिनके साथ सम्बन्ध है उन सबको भूलना होगा, अपनी मान-प्रतिष्ठा, अपना विषय-वैभव, अपना सुख-दुःख, अपनी स्पृहा आदि इस जगत्का जो कुछ भी है,

सब भूल जाना होगा। उस अखण्ड शून्यताकी निर्मलतामें ही उन परम सुन्दर, सर्वेश्वर, सर्वगतका पता मिलता है। सब समय, सब अवस्थाओं और सब विषयोंमें वे अपने *त्रिभंग भंगिम* धाममें वंसी बजाते हुए भक्तको अपने पाद-पद्मकी ओर खींच लाते हैं। और कोई नहीं, कुछ नहीं—'मैं' भी नहीं। केवल 'एकं अद्वितीयं शान्तं शिवं सुन्दरम्'—और कुछ नहीं।

उन्हें चाहना होगा, समस्त जीवन भर कर उन्हें चाहना होगा—पाओगे भी उन्हींको, पर जब पाओगे तब सावधान, यदि जरा-सा भी अभिमान करोगे, यहीं क्यों, उनकी प्राप्तिका गौरव भी यदि मनमें उदय होगा, तब उस जगह उन्हें फिर नहीं देख पाओगे। 'मेरे' कहकर भी अभिमान करनेकी जिसने भूलकी, उसने उसी क्षण उन्हें हार दिया। रासके पूर्व गोपियोंकी क्या अवस्था हुई थी, जानते हो न? लोग उन्हें चाह सकते हैं, कुछ कुछ जान भी सकते हैं, पर वशमें कोई कभी नहीं कर सका, कर भी नहीं सकेगा। वैसी चेष्टा करना भी वृथा है।

भक्त, यदि तुम उनके होना चाहते हो तो पहले अभिमानको बलि चढ़ाना होगा। वे भक्तका अभिमान बढ़ने देना पसंद नहीं करते, अभिमान देखनेके साथ ही उसे चूर करके तब छोड़ते हैं। इसीलिये उन्हें दयासिन्धु कहते हैं। वे यदि दया न करें तो अपने बलपर क्या कोई उनके दास-दासी बन सकते हैं? इसीलिये जबतक अभिमानका नाम-निशान या गन्ध बाकी है तबतक उनका पता नहीं लगता। रोते-रोते विरह-तापसे जब

समस्त शुभाशुभ कर्म निर्मूल हो जाते हैं, नेत्रोंकी अजस्र धारासे अभिमान जब धुलकर साफ हो जाता है, तब उनके चरणपद्म-युगल हृदय-सरोवरमें फूट निकलते हैं। क्या कहना है, कितना प्राणाकर्षक, कितना नयनमनोहर है उनके चरण-पद्मोंका रक्तिम राग! जो देखता है वही उसमें डूब जाता है, अपना कहकर जो कुछ उसका है सब सदाके लिये उनके पादपद्मोंपर न्योछावर कर निश्चिन्त हो जाता है, परन्तु शिथिलभावापन्न भक्त होना काम न देगा, प्राणोंमें सदा रुदनका रेला उठेगा, पर कोई उसे जान नहीं सकेगा, और विरहसे जलकर मैं मरा जाता हूँ इसलिये संसारके सब काम किसी कोनेमें फेंककर रख देनेसे भी काम नहीं चलेगा, भक्तको संसारके सब कर्तव्योंका रत्ती-रत्ती पालन करना होगा, यह कहनेसे काम नहीं चलेगा कि यह काम हमसे नहीं हुआ, उनके भजनमें अपना ख्याल तो रखना ही न होगा। कारण वे तो केवल मन्मथ नहीं है, मदनमोहन हैं, साक्षात् मन्मथमन्मथः।

यह तो भक्तकी बात हुई, अब हमारे तुम्हारे मनकी बात न भी कहें तो कोई हरज नहीं। यह मन हमारा कहाँ-कहाँ पड़ा रहता है, भला उन्हें चाहता ही कौन है? न जाने क्या क्या पाने की वासना-कामना रात-दिन मनमें कोलाहल मचाये रहती है, ऐसे चित्तके लिये उन्हें नहीं पा सके, इसका अभिमान मत करो।

कहाँ वे निरभिमान, निर्मल, शान्त, शिव, सुन्दर और कहाँ मैं अभिमानी, अशान्त, अशुद्ध, मनहूस! अच्छा, मैं तो

ऐसा ही रहा, पर उन्हें पाऊँगा कैसे? पहले-पहले उनकी बात साधुओंसे, भक्तोंसे सुनो, सुनते-सुनते जब वह अच्छी लगेगी तब उनकी विरहाग्नि धक्-धक् कर जल उठेगी। एक बार हृदयसे उन्हें चाहो, एक बार मन उनके लिये पुकारकर रो उठे, यन्त्रके प्रत्येक तारमें उनके विरहका स्वर बज उठे। विरहका बाजन चित्तमें जब बज उठेगा तब मनमें अन्य कोई कामना न रहेगी, तब सारा अभिमान गल जायगा, छातीका पञ्जर सब धँस जायगा। जब सब आश्रय छूट जायगा, सब आशा बुझ जायगी, तब उस महाशून्य-हृदयमें उनकी वंशीध्वनि सुन पाओगे, परम मनोहर श्यामसुन्दरके चरण-स्पर्शसे तुम्हारा-हृदयपद्म फूट निकलेगा, तुम्हारा हृदय-श्मशान तब वृन्दारण्य में परिणत होगा।

भगवान् को कर्मफल समर्पण

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥" (गीता ५। १०)

कर्म न करनेसे काम नहीं चलता, और कर्म करनेसे बन्धन अनिवार्य होता है—अब जो ज्ञानारूढ नहीं हैं उनकी दशा बहुत कठिन है, न वे आगे बढ़ सकते हैं, न पीछे हट सकते हैं। जीव की ऐसी सङ्कटमय अवस्थासे परित्राण दिलानेके लिये दयासिन्धु भगवान्ने एक उपाय बतलाया। अशुद्ध चित्तका संन्यास नहीं होता, और कर्म करते हैं तो उससे कोई स्वाभिमान होना ही ठहरा, ऐसी अवस्थामें भगवान्ने एक मध्यम मार्गका उपदेश दिया। कर्म करना होगा पर फलासक्ति छोड़कर, ऐसा करनेसे कर्म ब्रह्ममें समर्पित होता है। इस प्रकारके कर्मकर्ता कर्मबन्धन

में नहीं बँधते, जैसे पद्मपत्रपर जल प्रक्षेप करनेपर भी वह जलसे लिप्त नहीं होता। बात बहुत अच्छी है। बिड़ालके गले में घंटी बांध दी जाय तो बिड़ालका आना जानकर चूहे साव-धान हो सकते हैं, पर बिड़ालके गलेमें घंटी बांधेगा कौन? भगवान्को कर्म समर्पण करनेसे कर्म-बन्धन नहीं होगा, यह तो ठीक है; पर भगवान्को कर्म समर्पण किया कैसे जायगा? ऐसा तो है नहीं कि कर्म इधर उधर बिखरे पड़े हों, उन्हें बटोर कर एक पोटली बांधकर भगवान्की गोदमें डाल दिया जाय। 'भगवान्को कर्मफल समर्पण किया' कह देने से ही तो वह उन्हें समर्पित नहीं हो जाता। पर शास्त्र बतलाते हैं कि कर्म भगवान्को समर्पित किया जाता है। प्रत्येक कर्म करनेकी विधि होती है। उस विधिसे कर्म करनेसे उसका फल अपने आपही भगवान्को समर्पित होता है। वेदादि शास्त्र-मुखसे भगवान्ने यह विधि प्रकट की है। उस विधिका अवलम्बन कर जो कोई कार्य करेगा; उसका वह कर्म भगवान्को समर्पित हो जायगा। यह भगवानका ही निर्देश है। कर्मफल-त्याग भी एक महायज्ञ है, उस महायज्ञका साधन भी शास्त्र-विधिके अनुरूप करना होगा। वह विधि भगवान्ने गीतामें बतलायी है—

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(१७। २३-२४)

"ॐ तत् सत्" ये तीनों ब्रह्मके नाम हैं, इस त्रिविध नामसे निकृष्टको भी उत्कृष्ट कर सकते हैं। विधाताने इस तीन ब्रह्म निर्देशक नामों द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञकी सृष्टिकी है। अतः कर्मारंभमें और कर्मके अंतमें ॐ शब्दका उच्चारण करनेसे ब्रह्मवादियोंके कर्म शास्त्रोक्त यज्ञ कहे जाते हैं और तपः कर्म प्रवर्तित होते हैं अर्थात् ब्रह्ममें समर्पित होते हैं। इसके द्वारा कर्मकी अंगहानि भी नष्ट हो जाती है।

इसीलिये भगवदुद्देश्यसे जो कर्म किया जायगा वह भी यही महावाक्य उच्चारण करके करना होगा।

वहुतेरे ऐसा सोच सकते हैं कि इसमें क्या कठिन है, यह तो सभी कर सकते हैं। पर नहीं, ऐसा नहीं है, इसे जितन सुगम समझते हो उतना सुगम यह नहीं है। केवल ये तीन शब्द उच्चारण करनेसे ही यदि भगवान्में कर्म समर्पित होता, तब तो कोई बात नहीं थी। पर इस वाक्यका उच्चारण इसका अर्थ समझकर करना होगा। इसका शब्दार्थ समझना चाहे कठिन न हो, पर उसका भीतरी अर्थ योगीश्वर ही समझ सकते हैं। उसका अर्थ हृदयंगम करके उच्चारण करना सीखनेके लिये ही जीवनव्यापी साधनाकी आवश्यकता होती है। जीवके हृदयमें जैसे एक 'धुक् धुक्' शब्द सदा हुआ करता है, जिसकी गतिको लक्ष्यकर अभिज्ञ चिकित्सक रोगीके स्वास्थ्यका :पता लगाते हैं वैसे ही विश्वहृदय भगवान्के भी हृदयमें ऐसा ही एक शब्द सदा अविराम धारासे उत्थित होता रहता है, वही अनाहत ध्वनि या

प्रणवध्वनि है। इस शब्दकी अविराम गतिसे ही ब्रह्माण्डकी स्थिति है और उसके लयसे ही ब्रह्माण्डका लय सूचित होता है। 'ध्वेनरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मन'—वही मन जहाँ विलीन होता है, अर्थात् ध्वनि जब अव्यक्तमें लीन होती है—वही तद्विष्णुका परमपद है। जो साधक विश्वात्माके साथ निज आत्माको मिला दे सकते हैं वे ही अपने हृदयमें यह संगीत सुन पाते हैं। जो नित्य इस संगीतको सुनते हैं वे ही चैतन्य वस्तु या आत्मा क्या है यह समझ सकते हैं। यह चैतन्य वस्तु ही इस प्रणव ध्वनिका वाच्य है। वही एकमात्र 'सत' हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, सब असत् है। यह जिन्होंने समझा है, वेही 'तत् सत्' शब्दका अर्थ समझनेमें समर्थ हैं। इस महावाक्य का इस प्रकार अर्थ जिन्होंने समझा, वे ही इसके उचारणके अधिकारी हैं, अन्य नहीं। ऐसी अधिकारी पुरुषही भगवदुद्देश्यसे किये जानेवाले त्याग रूप कर्मके कर्ता हो सकते हैं। इस विश्व-प्राण ॐकारका अर्थ समझ लेनेपर तब सर्वभूतस्थित जो भगवान् हैं वे समझमें आते हैं, और तब स्वयं भी सर्वभूतस्थ होनेका अनुभव होता है। प्रणवके इस अर्थबोधका नाम ही मन्त्र चैतन्य है। ऐसा मन्त्रचैतन्य जिन्हें होता है वे ही यथार्थ ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणकी चरण-धूलि मस्तकपर धारण करनेसे भवव्याधिकी शान्ति होती है। प्राण ही सूत्रात्मा है, इस सूत्रात्माके द्वारा ही भूतात्मा प्रकट होकर अस्तित्वसपन्न होता है। जिस प्रकार स्रोतमें तृण प्रवाहित होता है उसी प्रकार

सूत्रात्मामें जीवात्माका गमनागमन हुआ करता है। जलके चाञ्चल्यसे जैसे चंद्रिकामें चाञ्चल्य उत्पन्न होता है, वैसे ही सूत्रात्मा (प्राण) के चांचल्यसे ही जीवात्मा चंचल प्रतीत होता है। जो प्राणकी साधना द्वारा प्राणकी चंचलताका निरोधकर सकते हैं वे आत्माका चिरस्थिर शान्त भाव अवलोकनकर यह समझ सकते हैं कि 'तत्' वस्तु ही 'सत्' वस्तु है और अपने जीवनको भी कृतकृत्य कर सकते हैं। ॐ तत्सत्।

सुखतत्त्व

सुख मोरे दाउ नाइ ताहे मोर नाहि दुख।
अनेके आछे तो सुखे सेई तो परम सुख॥
कोन अंगे सुखस्पर्श कारो यदि हय सखा।
शुधु सेई अंगखानि सुखी हय ना त एका॥
सब अंगे एकई काले हय सुख अनुभव,
नहे भिन्न सब मिले एक पूर्ण अवयव॥
आमार पृथक सुख से तो कभू सुख नय,
से ये खण्ड अपूर्णता सुख तारे नाहि कय॥
एका आमि नाहि किछू जले जलविम्ब सम,
समस्त चेतने भासे अखण्ड चेतन मम॥
आमि अकिंचन बटि तबू आछि सुखे बेश।
सब लये पूर्ण तुमि नाहि खण्डतार लेश॥
तोमाके हेरिले नाथ तव पूर्ण महिमाय।
मोर अपूर्णता याहा सकलि डूबिया जाय॥

विषय सम्पद नाइ ? नाइ बा थाकिल मोर।
काहारो तो आछे हेथा तातेई ह'ल ये मोर॥
आमि ये सुन्दर नई नाई बा होलाम ताइ।
कत सुन्दर तुमि गड़ियाछ कत ठाँइ॥
विश्व माझे कि अपूर्व नर-नारी कत ठाँइ,
तारा तो आमारई भग्नी तारा तो आमारई भाइ॥
मोर विद्या ज्ञान नाइ ताहाते कि जाय आसे।
कत जे विद्वान ज्ञानी रयेछे तो कत देशे॥
सुरूप सुकंठ नहि ताहाते नाहिक क्षोभ।
तुमि याहा दाउ नाइ ताहाते करिना लोभ॥
जा दियेछ; ताइ वेश, ताहातेई सुखी आमि।
तुमि जे आमार सब तुमि जे आमार आमि॥
नाहि अन्न गृहे मोर से कि कष्ट ह'ल बड़?
कत गृहे कत अन्न रेखेछ करिया जड़।
मोर मुखे अन्न नाइ? अनेके खेते तो पाय,
तादेर खाउया तो ह'ल आमार कि खाउया नय?
आमार दारिद्रय नहे तोमार रिक्तता कभु,
तोमाते जे सब किछु रखेछे पूर्णता प्रभु!
जल-विन्दु समष्टिते सिन्धु यथा भरपूर।
सिन्धु साथे सिन्धुर उ हय अपूर्णता दूर॥
ताहातेई धन्य आमि, मोर दुःख दैन्य याहा,
सागरेर माझे क्षुद्र जल बुद्बुद् ताहा॥

ताहाके गनिना किछु, आमि देखि आछे भरे,
सुख, शान्ति, श्री, सौन्दर्य सारा विश्व चराचरे
सबई पूर्ण, नाहि क्षुद्र छिद्रटिरउ रेखापात,
निखिल पूर्णता हेरि तव पूर्णताते नाथ।
नाहि दैन्य नाहि मृत्यु नाहि व्याधि क्लेश कोन।
निर्मल नवीन तुमि स्निग्ध शांत मनोरम॥
हाराय ना किछु सेथा जायनाको किछु कोथा।
जा किछु ता सबई युक्त तोमाते रयेछे पिता।
आमार जीवन साथे निखिल जीवन प्रभु।
आछे एक डोरे गांथा नहे भिन्न भेद कभू॥
परिपूर्ण ज्ञानमय तुमि चिदानन्द मोर।
तव ध्याने तव ज्ञाने आछे ये जीवन मोर॥
स्थिर यौवन, चिर सुकुमार चिर लावण्य भरा।
किछुई हय ना कभू पुरातन, एमनि तोमार गड़ा॥
आमि देखि बसे, मोहेर आवेशे सब हये जाय जीर्ण।
मोह भेंगे गेले देखि जे सकाले एकि नवीनता पूर्ण॥
सरस बसन्ते भरे गेछे दिक फोटे चौदिके फूल,
गन्धे शोभाय पूर्ण आकाश दिगन्त आलोकाकुल॥
एकि विस्मय! सबई अक्षय, मृत्यु कोथाउ नाइ।
सबई आछे यदि केन तबे कांदि आर कि आमार चाइ'

——:※:——

संशयमोचन

—>⊛<—

बेल पका तो कौए को क्या ?

प्रथम—क्या कहते हो पण्डितजी, यह आदमी ठीक नहीं बोलता ? शास्त्रज्ञान अच्छा है।

द्वितीय—एक बार फिरसे कहो। अगाध पांडित्य है ! ऐसा नहीं, एक ओरसे वेद वेदान्त न्याय सबको लेकर मानो तूफान मचा दिया ! एक साथमें षड्दर्शन शास्त्रके श्लोक कहने लगा। क्या मुखस्थ कर लिया है भाई !

१ म—यह बोला कैसा, परमात्माको सहज्ञान कितनी आसानीसे हो सकता है ! हमारे पूर्वज मूर्ख और कपटी बावले लोगोंने सबकी आँखोंमें धूल झोंककर ऐसे अद्भुत सुन्दर मत-

ज्ञानको बिल्कुल अज्ञातरूपसे सबको धोका देकर अबतक अपने अधिकारमें कर रक्खा था।

२ य—बात तो ठीक ही है, ऐसे सहज व्यापारको कैसा दुर्बोध बना रक्खा है ! इसके अतिरिक्त, तेलिया कीड़ेकी टाँगके समान संस्कृतके अक्षर कैसे भयङ्कर हैं, पढ़ते ही झपकी आने लगती है। यह सब भारी अन्याय है। फिर भी क्या समझते हो भाई, पूर्व पुरुषोंको इस तरह बुरा-भला कहना—परन्तु कैसा लगता है !

१ म—वाह ! बुरा-भला न कहूँ ? चचा लोगोंकी चालाकी तो देखो ! कहते जो हैं कि शूद्रको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है। जो हो, उस आदमीका भाषण सुनकर हमारे विद्यावारिधि महाशय भी दंग रह गये ! बड़े-बड़े पण्डित उपस्थित थे, परन्तु किसीके मुँहसे आवाज तक न निकली। अच्छा चटर्जी, मोटा-मोटी वक्ता महाशयने क्या कहा बताओ तो ? जो कुछ समझाया, वह तो ठीक ही था। परन्तु बात क्या बतलाई, जरा सुनाओ तो ?

२ य—अरे उसकी बात क्या तुमने समझा नहीं ? बात तो उसने बड़ी बेढब सुनायी !

१ म—हाँ जी, मैं भी तो यही कहता हूँ। उसने कही तो बड़ी बेढब बात। परन्तु वह जो अन्त तक होता रहा—उसका नाम क्या है, मुझे ठीक याद नहीं आ रहा है।

२ य—अहा, कुछ नहीं, जरा याद करके देखो तो। वह आदमी उतनी देर तक बोलता रहा, और बोला भी खूब! साफ-साफ समझा दिया! जरा बोलो तो वह संस्कृत श्लोक क्या बोला ?

१ म—तुम भी तो समझते हो भाई, तुम्हीं बतलाओ वह क्या बोला ?

२ य—हाँ, जो कुछ बोला, उसका भाव तो समझमें आया है। पर आजकल हमारी उम्रके आदमियोंके लिए क्या सब बात याद रह सकती है ? तथापि वह क्या बोला, जानते हो ? तुम, हम, रमाकान्त सबके सब ब्रह्म हैं!

१ म—तो क्या हम सभी ब्रह्म हैं ?

२ य—वाह ! रमाकान्त तक ब्रह्म है और मैं ब्रह्म नहीं ? यह क्या कभी हो सकता है ? हम सब ब्रह्म ही ब्रह्म हैं! एक बारगी ब्रह्मदत्त कहना ठीक होगा!

पासही रहते हैं गदाधर चक्रवर्ती। आदमी बड़े ही क्रोधी हैं। परन्तु कुछ सोच-समझ रखते हैं। लोग कहते हैं कि वह प्रतिदिन गीता-भागवतका पाठ करते हैं। पूजा-अर्चा करते हैं। वह कहने लगे—यह देखो मेरे चाचा हैं, कहते हैं कि ब्रह्म उनके कपड़ेके खूँटेमें है। और साथ ही पूर्ववत् लोगोंका सर्वस्व हरण, मिथ्या भाषण, परनिन्दा, और परापकार करते फिरते हैं। किसीकी बुराई किये बिना वह पानी पीते हों, यह अपवाद उनको कोई नहीं दे सकता। एक दिन हमारे नौकर सदा

वागदीने उनके मुँहपर कहा कि "बाबू, आप तो मुँहसे ब्रह्म-ब्रह्म करते हैं, शूद्रको भी ब्रह्म बनाते हैं, फिर दूसरोंकी बुराईमें दिन रात क्यों घूमते हैं ? दूसरोंकी वस्तु ले लेनेकी आदत क्यों नहीं छोड़ते ?" यह सुनकर गम्भीरभावसे चाचा बोले—"सदा, ब्रह्मज्ञान होनेपर ऐसा ही होता है, तब भी क्या अपना और परायेका भेद रह सकता है ?" सुनकर सदा बोला—"अच्छी युक्ति है बाबू ! तब तो यह बैल और घोड़ा जो तीन सौ रुपये देकर खरीद लाये हो—मैं यहाँसे खोलकर ले जाऊँ तो हमारी मिल्कियत मान लोगे ? तुम्हारे लिए तो अपना-पराया भेदभाव मिट गया है ?" चाचाने यह बात सुनी तो एकटक ताकने लगे। बोले—"सदा, ऐसा काम मत करना। ब्रह्मस्व पर दृष्टि डालनेसे तेरा भला न होगा।" तब सदाने चाचाके सामने साफ-साफ कह दिया—"बाबू अब जान पड़ता है यह ज्ञान तुम्हारी सुविधाके लिये है। हे प्रभु ! अब समझा आपका ब्रह्मज्ञान ! यह ब्रह्मज्ञान आपके ही दिमागमें रहे। इससे तो कहीं अज्ञान अच्छा है !" ये मिथ्याचारी नकली ब्रह्मवादी इतनी अधिक संख्यामें बढ़ गये हैं कि उनसे आशंका पैदा हो गयी है। जैसी तुम्हारी बुद्धि है वैसी ही इन अकालपक्व वक्ता ब्रह्मवादीकी भी बुद्धि है ! क्या विडम्बना है कि दो घण्टा व्याख्यान देकर हमको ब्रह्मज्ञानी बनाना चाहते हैं ! वाह रे मेरा भाग्य ! जिस वस्तुको ऋषि-मुनि हजारों वर्षोंके चिन्तनसे प्राप्त नहीं कर सके, तपस्या करते-करते अस्थि-पिञ्जरमात्र अवशिष्ट रह गया, शरीरके वल्मीकका वास

हो गया, शरीरसे माँस झुलझुल हो गया, ठठरी रह गयी, फिर भी वह कहते थे कि ब्रह्मज्ञान बहुत ही गुप्त वस्तु है, और हम हैं कि दो श्लोक मुँहसे निकाला और ब्रह्मज्ञान प्राप्त ! ब्रह्मज्ञान इतना सहज है इसकी भावना न थी, नहीं तो निमै डोम सिर पर इमली लेकर बाजार बेचने क्यों जाता, वह भी एक पाठशाला खोलकर बैठ जाता, और अकाल कुष्माण्डमें लगे पत्तेके समान तुम्हारे जैसे लोग उस पाठशालेमें भर्ती हो जाते ! ब्राह्मन लोगोंको जो गाली देते हो, उनके समान शक्ति, तपस्या, त्याग, विषय-निःस्पृहा—क्या आज एक भी ब्रह्मज्ञानीमें बतला सकते हो ? केवल आँखमें चश्मा लगाकर बगुलेके समान बैठेनेसे काम न चलेगा अथवा ज्ञान-गोष्ठीका सभ्य बननेसे काम नहीं बनेगा। उनके पास विद्या-बुद्धि और ज्ञानका अभाव न था, फिर क्यों सब कुछ त्यागकर उन्होंने भिक्षाका आश्रय लिया ? राज्य और राजमहलको छोड़कर बनमें कुटी बनाकर रहते थे, उनको क्या कोई कमी थी ? जब राजा प्रजाके ऊपर अत्याचार करता, पृथ्वीपर भयङ्कर अमंगलका संभावना होती, तभी वह शहरमें आते थे और राजा, प्र ा, मन्त्री, सबको सदुपदेश देकर मंगल कार्यमें लगा देते थे। उनकी ज.ा ी भौं ट्ढ़ी होती, तो राजा-महाराजाओंके सिंहासन डोल जाते थे, ऐसी बातें क्या उपन्यासों में तुमने नहीं सुनी ? उनके समान निःस्वार्थ, प रोपकारी, सब जीवोंकी कल्याण-कामना करनेवाले, कुशाग्र बुद्धि, स्थिरचित्त, प्रतिभासम्पन्न पुरुष क्या कभी किसी देशमें किसी युगमें पैदा

हुए हैं ? फिर भी उनको तुम धूर्त्त और दम्भी बतलाते हो और अपने परम साधु बनते हो ? तुम्हारी दुर्बुद्धिकी बलिहारी है! शालक पहचानते हैं गोपाल देव! खूब लोगोंको ज्ञानी बना रहे हैं! तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ सुनो! यह सब बकबक छोड़ो, बकबक करनेके स्थानमें थोड़ी देर मनु संहिताके कुछ पन्ने उलटकर देखो! दो घड़ी 'राम राम' करो तो और भी अधिक लाभ हो। अन्तमें सिरसे भूत उतर जायगा! रोगियोंकी सेवा-शुश्रूपा करनेकी तो बात ही क्या, अपने बगीचेमें माटी खोदकर भी जगत्का बहुत सा काम किया जा सकता है। परन्तु यह सब काम आजकलके ब्रह्मवादीके सामने बड़ा नहीं जान पड़ता। अब देखो, जो कुछ तुमने सुना है उसका एक अंश भी तुम्हारी समझमें नहीं आया। तुम तो मूर्ख हो, पर जो पण्डित हैं वह भी खाक समझते हैं! केवल पुस्तकी विद्या जितनी रक्खें, उससे मतलब नहीं! ज्ञान उनके पास भी नहीं है। मेरे कहनेका यह आशय नहीं कि पुस्तकका ज्ञान चाहिए ही नहीं, वह तो प्राप्त होना ही चाहिए। परन्तु तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये बहुतसा खर-पतवार जलाना पड़ेगा। उसके लिए बड़ी तपस्याकी जरूरत है। कड़ी तपस्याकी साधनाके फलस्वरूप, तथा पूर्वसञ्चित पुण्यराशिके होनेपर अपने आप मनुष्यके हृदयमें सब ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे कोई घुँटा नहीं सकता। एक सीधी-सादी बात कहता हूँ। जो ब्रह्मज्ञानी हैं, दूसरेकी वस्तु लेनेमें जैसे उनको संकोच नहीं होता, वैसे ही कोई आदमी यदि उनका

सर्वस्व उनकी आँखोंके सामनेसे उठा ले जाय तो भी वह मना नहीं करेंगे। इसके सिवा उनको अपनी सुध नहीं होती, शरीर-का अभिमान नहीं होता। मारनेपर भी कुछ नहीं बोलते, गाली देनेपर भी हँसते हैं और प्रशंसा करने पर भी हँसते हैं। उनका स्वभाव दुनियाँसे अलग ही होता है, इसी कारण लोग उनको पागल समझते हैं।

१ म—क्या कहते हो चक्रवर्ती महाशय, ब्रह्मज्ञान ऐसा ही होता है। मैं कहता हूँ, यह सब बात ठीक है। हमारा रामकाली भी केवल ब्रह्म-ब्रह्म करते हुए रास्ता-घाट व्याख्यान देते घूमता है। तभी तो उसमें यह सब गड़बड़ी देखता हूँ। कुशल है कि उसका संसार-ज्ञान अभी बचा है। नहीं तो मेरी जान खतरेमें पड़ जाती!

चक्रवर्ती—हाँ, हाँ बोस दादा! मैं भी वही बात कह रहा था। बेफायदा यह सब बकवाद करनेसे क्या? पर भाई, क्या कहते हो, बात तो खूब मजेदार है!· असीम, अनन्त, अव्यक्त, ब्रह्मानन्द, विश्वप्रेम, सब समान हैं, बाम्हन-चाण्डालमें भेद नहीं है, बाघ, कुकुर और सियार सब एक हैं. जाति-पाति तोड़कर ब्याह और स्त्री-स्वाधीनता—इसी प्रकारकी कुछ बँधी बातें वे बकते फिरते हैं। इतने लोगोंको खूब भुलावा देते हैं। एक चारगी टप करके एक ही, उलाँचमें सात स्वर्गके ऊपर उठाना चाहते हैं। परन्तु भाई, इस कूद-फाँदसे क्या मतलब? बाँध टूट जानेपर इस मर्त्यलोकको बचाना मुश्किल होगा। अपने तो, पशु हैं,

मनके वेगको रोकनेकी शक्ति नहीं है, और स्त्री-स्वातन्त्र्यके लिए इतना कूदफाँद मचाते हैं। यदि सचमुच ही ब्रह्मज्ञानके लिए तुम्हारा चित्त इतना व्याकुल है, तो बहुत अच्छी बात है, आनन्दकी बात है। तत्सम्बन्धी विद्या प्राप्तिकी चेष्टा करो, चित्तको श्रद्धालु बनाओ, शरीर और मनके विचारोंको थोड़ा रोको। भावोंको कुछ सात्विक बनानेकी चेष्टा करो। खाने-पीने पहनने-ओढ़नेमें जिससे कम राजसिक हो सको, ऐसा उपाय करो। चारो ओर संयमकी साधना करनेका अभ्यास करो। पाँच जने साधु सन्त मिले तो उनके सामने अपने घोर अभिमान और दर्पको कम करो। दिनमें दो बार सन्ध्या-पूजा करनेका अभ्यास डालो। चित्तको विचारवान् बनाओ। तभी तो क्रमश साधनचतुष्टयसे सम्पन्न बन सकोगे। उसके बाद कहीं, भाव विशुद्ध होनेपर वैराग्य जागृत होगा! तब मैत्री, करुण, मुदिता, उपेक्षा—अपने आप ही तुम्हारे स्वभावमें डेरा जमावेंगे। तब ब्रह्म क्या है, ब्रह्मज्ञान क्या है, इत्यादि महान् विषयोंकी जिज्ञासा का अधिकार प्राप्त होगा। तब उत्तर देनेकी सुविधा होगी, समझ सकना भी सहज हो जायागा। अभी बकबक करके मुँह भोथा करनेसे किसीको समझा न सकोगे। और उसको समझनेके लिए सिर खपाकर सिर फोड़कर मरने पर भी—ब्रह्मज्ञानका तिलभर भी अंकन तुम्हारे मस्तिष्कमें न होगा। यह बिल्कुल ही निश्चित बात है। केवल बकवाद करके मुँह तीता करनेसे क्या लाभ? स्वप्नमें चाहे तुम कितनी ही धनराशि क्यों न प्राप्त

करो, जगने पर जैसे उसका कोई उपयोग नहीं, इसी प्रकार मौखिक ब्रह्मज्ञानसे कोई सत्य ज्ञान नहीं प्रस्फुटित होता। बल्कि अहंकार बढ़ता है, स्पर्द्धा बढ़ती है, भविष्यका मार्ग और भी तमसाच्छन्न हो जाता है, अवरुद्ध हो जाता है! अरे भाई! हमारे मस्तिष्कमें एक बालकके विषयमें भी विचार नहीं होता, फिर ब्रह्म साकार है या निराकार, जीव और ब्रह्ममें भेद है या अभेद—कैसे समझ सकोगे?

२ य—अच्छा महाशय, क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है कि जिससे भविष्य भी न बिगड़े और भगवानकी ओर प्रगति भी हो?

चक्रवर्ती—यह तो है ही। इसी कारण तो इन निःसार बातोंमें समय नष्ट करनेसे मैंने मना किया था। अपने घरकी ओर देखो, ऊँटके समान आकाशकी ओर मुँह करके देखनेसे क्या होगा? गुरु-सेवा, गुरु-शुश्रूषा करो। माँ-बापकी भक्ति करो। अपने घर शालिग्राम हो तो श्रद्धा सहित पूजा करो। लोगोंको दुःखमें देखकर दुःखी बनो। व्यर्थ ही, झूठ न बोलो, किसीको मत ठगो। कुत्ते और सियारके समान जो पाओ उसे खाओ मत। पितरोंको तर्पण और पिण्डदान देना बन्द न करो, बाह्येन्द्रियोंको सँभालकर चलो। इस तरह आचरण बनाओ, उसके बाद जैसी नारायणकी इच्छा होगी वैसा होगा।

२ य—तो क्या आजसे ही सन्ध्या आरम्भ कर दूँ चक्रवर्ती महाशय? शिखा रखना, एकादशी करना—क्या यह सब भी ठीक है?

१ म—वाह ! तुम क्या सोचते हो, जप-तप तो करते ही हो, फिर इन सब कुसंस्कारोंको क्यों लपेटना चाहते हो ?

चक्रवर्ती—क्या कहा, ये सब कुसंस्कार ? तब सुसंस्कार क्या है, बताओ तो ? केवल ब्रह्म-ब्रह्म करके भटकनेसे कुछ न होगा। ये सब भी ब्रह्मज्ञानके साधन हैं। सब धीरे-धीरे होगा। सत्कर्मोंके द्वारा शुभ वासना होगी, सात्विकता बढ़ेगी। तब पाप-कामना नष्ट हो जायगी। उसके बाद बोध होनेपर वे बातें होंगी। अभी तो ब्रह्मज्ञानके विषयमें कुछ कहना, निःसार बातें करना है, कोई फल नहीं मिलनेका।

१ म—क्या कहते हैं महाशय, इस अत्यन्त गम्भीर सत्य सनातन ब्रह्मज्ञानकी आलोचनाको आप निःसार करनेका साहस करते हैं ?

चक्रवर्ती—क्या यह साहस है ? बाबू, बेल पका तो कौएको क्या ? ब्रह्मज्ञान चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, पवित्र क्यों न हो, उससे तुमको-मुझको क्या ?

——:❀:——

ज्ञानाग्नि

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

(गीता ४ । ३७)

सभी जानते हैं कि अग्नि क्या करती है। फिर भी कुछ बता देता हूँ। काठ पाती है तो उसे जलाकर खाक कर डालती है, लोहा या किसी दूसरी धातुमें लगती है तो उसे गलाकर जलवत् कर देती है, सोना-चाँदी आदि कीमती धातुओंमें कोई खाद मिली होती है तो अग्नि उसे निकालकर धातुको निर्मल और उज्ज्वल बना देती है; उसकी चमक बढ़ा देती है। कहीं घर-द्वारमें लग जाय तब तो कहना ही क्या है? भलीभाँति जलाकर

उसके चारों ओर मनुष्यके शरीर और मनद्वारा रचित व्यवधानोंको नष्ट कर डालती है। ठीक नजर रक्खी जाय तो खाद्य-वस्तुओंको पकाकर भोजनके उपयोगी बना देती है। जलका लोटा आगपर चढ़ा दो, वह उसको पकाकर उसके अन्दर रहनेवाले बुरे कीटाणुओंका नाश कर उसे स्वास्थ्यके अनुकूल बना देती है। तुम्हारी देहपर यदि एक लालअंगारा डाल दिया जाय तो तुम कैसे ही सहिष्णु क्यों न हो, तुरन्त उठकर नाचना शुरू कर दोगे। प्राचीन कालमें यही अग्निदेव एक दक्ष जजकी भाँति धर्माधर्म और सत्यासत्यका निर्णय करते थे। पता नहीं, हमारे सौभाग्य या दुर्भाग्यसे आजकल उन्होंने इस कामसे पेन्शन ले रक्खी है। जो कुछ भी हो, जिस अग्निमें इतने गुण हैं, वह देवता नहीं तो क्या है? जो जडबुद्धि हैं, वे ही अग्निकी गणना जड पदार्थोंमें करते हैं।

बड़े जोरसे चिल्लाहट मचती है 'अरे आग लग गयी! सब कुछ खाक हो गया!! मुहल्ला, गाँव, देश सब भस्म हो गया, हाय मरे!' अग्निकी इस भीषण विकराल मूर्तिको देखकर लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगते हैं, किन्तु भाई! यह आग लोगोंका सर्वस्व नाश करनेके समय भी उनका जितना उपकार करती है, उपकार करनेके लिये कमर कसकर आनेवाले मनुष्य उतना उपकार नहीं कर सकते। वायुके अन्दर रहनेवाले जो रोगके कीटाणु विविध भोग्य-पदार्थोंमें स्थान पानेके लिये चौबीसों घंटे घूमा करते हैं, घर जलानेके बहाने यह अग्नि उन सब डाकुओंको

देश-निकाला दे देती है। मनुष्यका ऐसा मित्र और कौन होगा? इसीलिये तो आर्य-ऋषियोंने अग्निदेवको अपने यज्ञ-कर्ममें पुरोहितका पद दिया था।

इस अग्निके अनेक रूप हैं और वे सभी सर्वत्र ही जलानेके काममें लगे हुए हैं। पेटके अन्दर यही जठराग्नि है। यह प्रतिदिन खाये हुए चर्व, चोष्य, लेह्य, पेय चतुर्विध आहारको पकाती है और उसका पकाया हुआ आहार ही मनुष्यके अन्दर कान्ति, शक्ति और बुद्धिके रूपमें परिणत होता है। यही मनुष्यजातिमें पुष्टि, निरोगता और शान्ति फैलाकर मनुष्यको एक अपूर्व श्री प्रदान करती है। प्राणमें तनिक-सी अग्नि मन्द होते ही मनुष्यको वैद्योंके दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं और जलवायु बदलनेके लिये देश-विदेश-यात्राकी धूम मच जाती है। मनके अन्दर भी इसी अग्निका एकछत्र साम्राज्य है। उसमें कभी कामाग्नि, कभी चिन्ताग्नि और कभी क्रोधाग्नि रूपमें इसका उदय होता है। उस समय यह सारा विश्व भ्रमसे एक कुम्हारके चक्रके समान जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें शरीर और शरीरकी धातुएँ ही काठका काम देती हैं। वही जलकर खाक होती हैं।

इसी अग्निकी एक और मूर्ति है एवं उसके समान पवित्र और हितकारी संसारमें और कुछ भी नहीं है। उसका नाम है 'ज्ञानाग्नि'।

देहाभिमान, उसके कर्म और समस्त प्रवृत्तियाँ इस ज्ञानाग्निमें ईंधन बन जाती हैं। जैसे अग्निमें जितना ही ईंधन पड़ता

हैं, वह उतनी ही जोरसे धधकती है और अन्तमें जैसे एक अपूर्व ज्योति बनकर सब दिशाओंको प्रकाशित कर देती है वैसे ही तप और पुण्यके प्रभावसे जब यह ज्ञानाग्नि जल उठती है, तब समस्त कर्मराशि एकबारगी ही भस्म हो जाती है और चित्तपर अपूर्व ज्योतिका अधिकार हो जाता है। इसी ज्योतिकी सहायतासे हम शुक्ल या देवयान-मार्गको पहचान सकते हैं।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गीता ८ । २४)

अग्नि जबतक काठके अन्दर रहती है, तबतक उसे कोई देख नहीं सकता, वह अव्यक्त रहती है इसलिये केवल काठ ही दीखता है। परन्तु उसके प्रकट हो जानेपर फिर वह काठ—काठ नहीं रह जाता; वह भी अग्नि ही बन जाता है। इसी प्रकार यह ज्ञानाग्नि हमारे अन्दर गुप्तरूपसे निवास करती है, जब संत या गुरुकी कृपासे यह प्रकट हो जाती है, तब इस देहतकको ज्योतिर्मय बना देती है। शरीर भी फिर केवल ज्योतिरूप ही प्रतीत होता है फिर जड कुछ रह ही नहीं जाता। जैसे अग्निमें जलकर जब काष्ठ भस्मावशेषरूपमें परिणत हो जाता है, तब केवल अग्नि-ज्योतिका एक 'अरूप' तेज ही सर्वत्र छाया देखा जाता है, वैसे ही जब मनुष्यके अगणित कर्मकाष्ठ इस ज्ञानाग्नि-में जलकर खाक हो जाते हैं, तब केवल ज्ञानाग्नि ही जलती रहती है। मनुष्यकी दुष्ट चिन्ताएँ संकल्प-विकल्प और अहंकार आदि समस्त काम-शरीर इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निकी लपटोंमें

विलीन हो जाते हैं। यह अग्नि हमारे-तुम्हारे सबके अन्दर है। इसी ज्योतिका विकास करनेके लिये गुरुरूपी चकमककी आवश्यकता है। इसीके लिये मनुष्यकी जीवनव्यापिनी साधना है। इस अग्निके प्रकट होते ही, सूर्योदयसे अन्धकारके विलीन हो जानेकी भाँति, समस्त अज्ञान, सभी जडता और कर्मके कुल बन्धन कहाँ समा जाते हैं, कुछ पता ही नहीं लगता। तब रह जाती है केवल अग्नि--सर्वमयी अग्नि। केवल प्रकाश, केवल ज्योति, केवल आलोक। तब केवल आनन्दसे समस्त दिशाएँ सर्वथा भर जाती हैं। आनन्द और आलोक-प्रकाशसे समस्त दृश्योंमें एक अपूर्व सौन्दर्यका विकास हो जाता है। उस समय यह प्रतीत होता है कि बस, एक ही अखण्ड चेतन त्रिभुवनमें छाया हुआ है।

जडता शरीरको भारी कर देती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि आलसी मनुष्य उठना ही नहीं चाहता। ऐसे लोगोंको सभी काम भारी मालूम होते हैं! अग्निके समीप रहनेसे जडता-का नाश होता है। जाड़ेके दिनोंमें जब सरदीके मारे सारा शरीर ठिठुरकर जडवत् हो जाता है, तब अग्निकी कृपासे ही हम जडत्वके कठिन बन्धनसे छूटा करते हैं। अग्नि शोकका हरण करती है। मोहरूपी कारणका कार्य ही तो शोक है। अग्नि प्रकाश-स्वरूप है, इसीलिये अग्निकी प्रकाशमयी सत्त्व-शक्तिके सामने मोहकी तामसिक शक्ति नहीं ठहर सकती। अग्निकी शोकनाशकताका पता शव-दाहके समय खूब लगता

जला करता है, तो भी उस अग्निको सिरसे नीचे उतारना नहीं चाहता, वह इसी अग्निके प्रवाहमें तैरा करता है। इसके बाद गुरु-कृपासे जब वह स्थितिको समझकर यथायोग्य व्यवस्था करता है, तब अग्नि प्रदीप्त होनेके पहले धूएँकी भाँति साधनके पहले भागमें चारो ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस यात्रामें कुछ भी नहीं होगा। किन्तु यदि साधक धीरज नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह रसास्वाद पाने लगता है! तदनन्तर वह आप ही मजबूत हो जाता है। फिर उसके मनमें किसी भी कारणसे विषाद नहीं होता। इसके बाद वह इस विद्युत्-ज्वालामय प्रकाशके अन्दर कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश और उसके अन्दर 'चन्द्रकोटिसुशीतलम्' को देखकर शान्त हो जाता है। उसका मनुष्य-जीवन धन्य होता है। जिसको इस परमज्योतिका पता नहीं लगता, उसे केवल अग्नि-की जलती हुई लपटोंका ही अनुभव होता है। वह इसकी प्रकाश-शक्तिको, इसकी दिव्य-शक्तिको नहीं समझ पाता। आइये! हम सब इस प्रकाशमान शुभ्र ज्योतिर्मय पुरुषकी चरण-वन्दना करें।

है। अग्निमें इतने गुण होनेके कारण ही प्राचीन कालमें ब्राह्मणों-ने अग्निको जीवनका चिरसंगी बनाया था। वे अपने भीतर-बाहर सदा-सर्वदा ही इस अग्निकी धूनी जगाये रखते थे। बाहरकी अग्नि तो हमारे सामने ही है, भीतरकी अग्नि है ज्ञान। वह भी लौकिक और अलौकिकके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे इन्द्रियसाध्य वस्तुएँ जानी जाती हैं, वह लौकिक ज्ञान है और जिससे अतीन्द्रिय-वस्तुका ज्ञान होता है, वह अलौकिक है। इस अग्निकी उपासना करते-करते 'यो देव अग्नौ' अग्निदेव प्रकट हो जाते हैं। वह अग्निदेव ही हैं हमारे 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' आत्माकी खोज करनेवाले इसीका पता पाकर निश्चिन्त हो जाते हैं। इस परम तत्त्वको पाकर इसके सामने वे अन्याय लाभोंको कोई लाभ ही नहीं मानते। आत्मतत्त्वकी खोज करनेवाले साधक इसी परमज्ञानके लिये जीवनभर ब्रह्मचर्यमें अचलप्रतिष्ठ होकर रहते हैं। इस ज्योति-का प्रत्यक्ष दर्शन करके अर्जुन भयभीत होकर विह्वल स्वरोंमें पुकार उठे थे—

> लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
> ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
> तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
> भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
>
> (गीता ११ । ३०)

पहले-पहल मनुष्य रोग, शोक अभाव और दुःखकी अग्निमें

जला करता है, तो भी उस अग्निको सिरसे नीचे उतारना नहीं चाहता, वह इसी अग्निके प्रवाहमें तैरा करता है। इसके बाद गुरु-कृपासे जब वह स्थितिको समझकर यथायोग्य व्यवस्था करता है, तब अग्नि प्रदीप्त होनेके पहले धूएँकी भाँति साधनके पहले भागमें चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस यात्रामें कुछ भी नहीं होगा। किन्तु यदि साधक धीरज नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह रसास्वाद पाने लगता है! तदनन्तर वह आप ही मजबूत हो जाता है। फिर उसके मनमें किसी भी कारणसे विषाद नहीं होता। इसके बाद वह इस विद्युत्-ज्वालामय प्रकाशके अन्दर कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश और उसके अन्दर 'चन्द्रकोटिसुशीतलम्' को देखकर शान्त हो जाता है। उसका मनुष्य-जीवन धन्य होता है। जिसको इस परमज्योतिका पता नहीं लगता, उसे केवल अग्निकी जलती हुई लपटोंका ही अनुभव होता है। वह इसकी प्रकाश-शक्तिको, इसकी दिव्य-शक्तिको नहीं समझ पाता। आइये! हम सब इस प्रकाशमान शुभ्र ज्योतिर्मय पुरुषकी चरण-वन्दना करें।

कर्त्ता कौन ?

बाबू, तुम जो उसको शिक्षा देनेके लिए कहते हो सो तुम शिक्षा देनेवाले कौन हो ? और गोविन्द जो हरपालको मारनेकी धमकी दे रहा है, वही उसको मारनेवाला कौन है ? जलके तो सब बुदबुद हैं, फिर इतनी छटपटाहट क्यों ? इतनी कूदफाँद क्यों ? यह अस्तित्व ही कितने समयके लिए है, इसकी कुछ खबर रखते हो ? देख लिया महाज्ञानी हो। बड़ी-बड़ी पाण्डित्य-पूर्ण बातें करके लोगोंको विस्मित कर देते हो, तत्पश्चात् जैसे ही एक ज्वरका कम्प हुआ वैसा ही हि-हि हि-हि बापरे, मैयारे, मर गया, चल दिया,' कहकर सारे मुल्कको सिरपर उठा लेते हो! यही ज्ञान है, यही शक्ति है न! अधिक क्यों, काफी हो

गया, व्यर्थका खटपट मत करो। अभी पक्षाघात हो जाय तो सुई तक उठा न सकोगे—बोलनेकी इच्छा होते हुए भी बोल न सकोगे—यही तुम्हारी शक्तिकी सीमा है। इस प्रकारके कर्त्तृत्व-की प्रशंसा करनेसे क्या लाभ?

एक दिन एक कैन मुखमें आग लेकर बोलने लगी,—"मैं समस्त संसारको जला डालूँगा।" पण्डितने उससे कहा—"थोड़ी देर आगको पकड़े रहो देखूँ, जलाना पीछे।" उसके बाद आग बुझ गयी, और वह राख हो गयी। तब पण्डितने कहा—"कैन भाई! अब तो घर जलाओ ज़रा देखूँ? अरी माँ, यह क्या? तुम तो स्वयं राख हो गयी हो! किसके जोरसे जलानेकी इच्छा कर रही थी, दूसरेके धनसे पोद्दारी करके इतना अहंकार क्यों कर रहे हो बाबू!"

हमारा कर्त्तत्व भी ठीक इसी प्रकारका है। अतएव कौन क्या कर सकता है, इसके बारेमें जरा सोच समझकर बोलना चाहिए। मैं तो देखता हूँ कि किसीमें तृण उठानेकी भी शक्ति नहीं है! जिसमें जो शक्ति दीख पड़ती है वह उसकी निजस्व नहीं है—वह तो सर्वशक्तिमान्‌की शक्तिका ही एक अंश है। उनको न जाननेके कारण यह भ्रम होता है कि यह हमारी शक्ति है। और मनमें अहंकार उत्पन्न होता है। परन्तु जानते ही हो कि भगवान्‌के सामने अग्नि, वरुण, पवन तथा शचीपति इन्द्रकी क्या दुर्दशा हुई थी, एक तृणका भी वह कुछ न कर सके! इसीलिए कहता हूँ कि किसको क्या शिक्षा दूँ? उनकी इच्छाके

बिना कुछ भी नहीं होता। यह जो हममें इतनी पशुता है, इतनी जघन्य विषय-वासना है, 'इन सबको तो हम देखते हैं, पहचानते हैं, फिर भी उनके बारेमें हम क्या कुछ कर सकते हैं? समय आनेपर वर्षाके स्रोतमें तृणके समान सारी बुद्धि-विद्या और ज्ञान-गरिमा कहाँ बह जाती है। यदि कोई इन पर विजय प्राप्त कर सकता है तो उनकी इच्छासे ही कर सकता है, अपने बलसे नहीं कर सकता। "ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति"—ब्रह्मकी ही शक्तिसे तुम इस प्रकार महिमान्वित हुए हो। तुम कहोगे कि, फिर हमको कर्त्तृत्वका व्यर्थ अभिमान देकर इतना कष्ट क्यों दिया जाता है? मैं कहूँगा कि यह नालिश यदि करना है तो उनके पास जाकर करो, सटीक जबाब पा जाओगे। कौन कष्ट पाता है और कौन कष्ट देता है, इसको एक बार विचार करके देखो—ये दो हैं या एक? तुम्हारा अस्तित्व कहाँ है। उसीके अस्तित्वमें तो है? स्वर्ण है, तभी स्वर्णका कंकण भी है। नाम रूप सभी स्वर्णके हैं, शून्यके नहीं। इसी प्रकार तुम और हम, सब नाम-रूप उसीके हैं, अन्य किसीके नहीं। वह यदि वहीं रहें तो हम-तुम कहाँ रहेंगे! हम और तुम यदि उनसे अभिन्न हैं, अथवा उनके हैं, तो कष्ट किसको होता है? तब तो वह अपनेको आप कष्ट दे रहे हैं। दे रहे हैं तो दें, इससे हमको क्या?

> "तुम नहि दीख पड़ो तो तुमको कौन देखने पाये?
> तुम न पुकारो नाथ तो तुममें क्योंकर चित धाये?"

जिसके चित्तमें यह भाव वर्तमान है उसीका ज्ञान विकसित हो रहा है, यह समझना चाहिए। वही जानता है कि वास्तविक कर्त्ता कौन है ?

> न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
> इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्धयते ॥ (४ । १४)

इस प्रकार विराट् विश्वकी रचना करके भी 'कर्म' मुझको आवद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि मैं निरहंकार हूँ और कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, कारण मैं आप्तकाम हूँ। जो आत्माको इस प्रकार निर्लेप और निस्पृह जानता है वह कर्ममें नहीं बँधता। अर्थात् इतना बड़ा विराट् काण्ड करके भी जब ईश्वरको अहंकार नहीं है तो जो उनकी भक्ति या उपासना करेंगे उनका अहंकार अवश्य कम होगा। इस मिथ्या अहंकारके कारण ही तो इतना दुःख है। अतएव मुमुक्षु पुरुष, आत्माको 'अकर्त्ता' जानकर, तथा यह जानकर कि जीवका 'स्वभाव' अनादि अविद्या ही कर्तृत्वरूप धारण करती है, कर्माकर्ममें उदासीनवत् व्यवहार करते हैं। अर्थात् पुण्यकर्म करके सुख नहीं मानते, और अपुण्य कर्म करके क्लेश नहीं बोध करते। क्योंकि यह सब अविद्यामूलक है। अब प्रश्न यह होता है कि, सिरकी शपथ खाकर और आमन्त्रित कर इस पाप अहंकारको कौन अपने घर बुला लेता है ? इसका उत्तर पातञ्जल दर्शनमें दिया हुआ है—

"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।"

द्रष्टा पुरुष तथा दृश्य गुणोंका संयोग ही संसार बन्धनका हेतु है। व्यास जी इसका भाष्य करते हुए कहते हैं "तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः दुःखस्य कारणमित्यर्थः।" दृक शक्ति (पुरुष और दर्शन शक्ति (गुणात्मक जगत्)—इनका अनादि कालसे पारस्परिक प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला संयोग सम्बन्ध 'हेयहेतु' है। "तथा चोक्तं "तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःख प्रतीकारः"—उपर्युक्त विषयमें कहा गया है कि संयोगरूप दुःखहेतुको दूर करने पर आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है। "कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्" यह दुःख परिहार्य है, क्योंकि दुःखके दूर करनेका उपाय है, ऐसा दीख पड़ता है। वह उपाय क्या है? पातञ्जल दर्शनमें है।

"ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः"

पाँच प्रकारके क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ध्यानके द्वारा दूर होते हैं। ध्यानके द्वारा इन अविद्या आदि क्लेशोंके नष्ट होनेपर आत्माका स्वरूप प्रकाशित होता है, तब यह जगत्प्रपञ्च साधकके चित्तसे उसी प्रकार दूर हो जाता है जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार दूर होता है। यदि सारा प्रपञ्च मिट जाय, और कार्य ही न रहे, तो फिर कर्त्ताका प्रश्न कहाँसे उठेगा? बीचमें जब तक प्रपञ्च दीखता है तभी तक क्लेश है, और प्रपञ्चमें रहकर क्लेशको दूर करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। परन्तु जो अनन्यभावसे भगवान्के शरणापन्न होते हैं, उनके संसार बन्धनको भगवान कृपा करके छिन्नभिन्न कर देते भगवान्का उपदेश है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(गीता ५ । १७)

"तद्बुद्धयः" उनमें जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि है; "तदात्मानः" वह परमब्रह्म ही जिनके आत्मा हैं अर्थात् जिनमें भेद-बुद्धि नहीं रह गयी है। 'तन्निष्ठाः' समस्त कर्मों का त्यागकर जो भगवान्में अवस्थान करते हैं अर्थात् आत्मसमर्पण करते हैं; 'तत्परायणाः' वही जिनके परम अयन अर्थात् परागति हैं— स्वर्ग आदि फलकी इच्छा न करते हुए जो एक मात्र उनको ही चाहते हैं उनकी पुनरावृत्ति (आवागमन) नहीं होती। क्योंकि ज्ञानके द्वारा पुण्य-पापरूप जन्म-जन्मान्तरके मूलसूत्र नष्ट हो जाते हैं।

—:※:—

और उस समयके आदिम मानवकी बुद्धिके उतना परिष्कृत होनेकी संभावना भी तो नहीं थी, अतएव सूर्य, चन्द्र और अग्निकी दीप्ति देखकर, वे इनको अपना शुभाशुभ फल देनेवाला देवता समझते थे। इनकी गति और दीप्ति देखकर इनको देवता और गुरु भावसे प्रणाम करते थे, इनकी प्रसन्नताके लिए पूजा सामग्री इकट्ठा करते थे। इससे उनकी सरल चित्तजनित तथा जटिलतारहित एक अच्छी साधनाका पता लगता है। परन्तु आजकल पढ़ना-लिखना सीख करके भी जो हिन्दू इस पूजार्चना-में विश्वास करते हैं वह उनकी भारी भूल है। तथापि यह सब पुराने कुसंस्कार एकबारगी मिट जायँ, यह संभव नहीं है। जो हो, यह जो यज्ञ-टज्ञ करके आगमें लोग घी डालते हैं, सो नितान्त ही व्यर्थ अपव्यय है। बल्कि यज्ञके कुण्डमें घृताहुति न डालकर उसे जठराग्निमें देनेकी व्यवस्था की गयी होती, तो काम भी ठीक होता और पैसा खर्च करना भी सार्थक हो जाता।

२ य—तुम्हारे जैसे पेटू आदमी इससे अधिक क्या अनुमान कर सकते हैं? और न तुम्हारे इस अनुमानमें विशेष युक्ति ही है। परन्तु आनन्दकी बात यह है कि तुम अज्ञान होकर प्रति-दिन यज्ञ करते हो, यद्यपि तुम्हारा होम विधिपूर्वक नहीं होता। तुम्हारे जठरमें जो अग्नि है, जानते हो न कि वह तुम्हारी रक्षा करती है, अन्यथा अग्निके प्रति जिस प्रकारका तुम्हारा क्रोध है। उसके अनुसार यह जानने पर कि जठरमें अग्नि ही

आहार करती है तुम आहार करना भी बन्द कर देते। बस, आजसे भोजन करना बन्द कर दो। नहीं तो तुम जड़ोपासक बन जाओगे, समझे?

१ म—जडको जड न कहूँ, यही न भारी विपद् है! बड़े-बड़े विद्वानोंने विज्ञानसे परिमार्जित बुद्धिके द्वारा जान लिया है कि यह सूर्य, अग्नि आदि सब जडपिण्ड हैं, इनमें चेतनाका लेश भी नहीं है। तुम विज्ञान नहीं पढ़ते, इसी कारण इन बातों-को नहीं जानते। यह पुरुषके परम्परागत अन्ध विश्वासका दोष है जो सत्यको सत्य नहीं कहने देता।

२ य—जो लोग जड हैं वे इन सबमें चेतनको नहीं देख पाते, नहीं तो सूर्य और अग्निमें भी चैतन्यका अभाव नहीं है। बल्कि इतनी अधिक चेतना है कि तुम्हारे सारे विज्ञानविद् पण्डितोंकी चेतनाको इकट्ठा कर लेनेपर वह उस महा चैतन्यके एक कणके भी बराबर न होगा। आजकलके इन एम० ए० पास, पठितमूर्ख, जडवादियोंको मालूम नहीं है कि जड पर-माणुओंके समावेशसे चैतन्य शक्तिका उद्भव नहीं होता, चैतन्य-की चेतन इच्छासे ही ये जडादि दृश्य पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तुम तो ही कहते हो कि सूर्य जिस जलको आकर्षण करता है वही वर्षाकी धारके रूपमें फिर पृथिवी पर गिरता है। सूर्य तो एक ही है, और समुद्र भी वही रहता है, पर आकर्षण और त्यागकी इच्छा न रहनेपर प्रतिवर्ष एक ही प्रकारकी वृष्टि एक स्थान पर क्यों नहीं होती? कभी अधिक और कभी कम वृष्टि

होती है। ऐसा तारतम्य क्यों होता है? इससे समझना चाहिए कि इसका कोई चेतन अधिष्ठाता है, जिसकी इच्छा और इशारेसे इस प्रकार विभिन्न परिमाणमें जलप्रदान करनेकी व्यवस्था होती है। इसी शक्तिको हमारे शास्त्रोंमें देवता माना गया है। हमारे शास्त्रोंने तो अग्नि और सूर्यको निग्रहानुग्रहमें समर्थ देवताके रूपमें वर्णन किया है। छान्दोग्योपनिषद्के अ० २ खण्ड २४ में लिखा है—

"अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत। एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि अत्र यजमानः परस्तादायुष स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति।"

"तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनं संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद।"

इस मन्त्रके द्वारा आहुति दी जाती है। स्वर्गवासके लिए आदित्य और विश्वदेव नामक देवताओं ननस्कार। मैं तुम्हारी आराधना करता हूँ, मुझे स्वर्गलोक प्राप्त कराओ! यह मेरा लोक है। मैं उसी लोक में जाऊँगा। मैं यजमान मृत्युके बाद उसी लोकमें जाऊँगा। लोक द्वारकी अर्गला खोल दो। (इस मन्त्रका उच्चारण करके उठना चाहिए) जो इस प्रकार करते हैं, उनको आदित्य नामक देवता सायं सवन सम्बन्धी स्वर्गलोक प्रदान करते हैं : जो ऐसा जानते हैं, वे ही यज्ञोंका तत्त्व जानते हैं।

इनकी उपासनाके द्वारा स्वर्गादि काम्य फलोंको यजमान प्राप्त करता है। इनका आध्यात्मिक परमतत्त्व यदि अवगत हो सके तो वह मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है। उपनिषद्में इस परम तत्त्वको मधुविद्याके नामसे पुकारा है। यह सूर्य सम्बन्धी विद्या है। इसके एक अंश मात्रका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

अथ येऽस्योर्द्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्द्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपं तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत । २ ।—छान्दोग्य अ० ३

आदित्यकी जो ऊर्ध्व दिशामें स्थित रश्मियाँ हैं, वही उनकी ऊर्ध्वदिग्वर्द्धनी मधुनाडी है। गुह्य आदेश अर्थात् कर्मादि विषयक उपासनाएँ मधुकर हैं और प्रणवाख्य ब्रह्म पुष्प है। ये उपासनाएँ अमृतमय रसरूपमें परिणत होती हैं। १। ये उपासनाएँ ही प्रणवको अभितप्त करती हैं। जब प्रणव अभितप्त होता है तो उससे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नादि रस उत्पन्न होते हैं। २।

इस जगत्में जो कुछ तेज, बल या प्रकाश देखनेमें आता है, वह सब अग्नि ही है। अग्नि नाना रूपमें इस जगत्में अपनेको प्रकाशित कर रही है। वर्ण और रूप जिसको देखकर तुम इतना मुग्ध होते हो सब अग्निकी ही अभिव्यक्ति है। तुम जो विद्या और ज्ञानकी प्रशंसा करते हो, वह भी अग्नि ही है।

यह महा गुह्य रहस्य है, इस तत्वके समझनेवाले लोग आजकल नहीं हैं। और न समझाने वाले ही हैं। उपनिषद्में लिखा है—"इस स्वर्गलोकसे जो उत्कृष्ट ज्योति दीप्त हो रही है, विश्वके उत्तम-अनुत्तम सब लोकोंसे जो उत्कृष्ट ज्योति दीप्त हो रही है, वह ब्रह्म है।

१ म—भाई, निःशेष सब कुछ अग्नि है क्या? तो क्या हम आगमें ही डूबे हुए हैं?

२ य—आगमें तो हम डूबे ही हैं, इसके अतिरिक्त हम भी तो अग्निकी ही अभिव्यक्ति हैं। अग्नि ही हमारा सर्वस्व है। इस बातको तुम्हारा विज्ञान भी खण्डन नहीं कर सकता।

१ म—इससे तो देखता हूँ बात बेढब है। अपने पोथी-पत्रा को किनारे रखकर इन सब बातोंको प्रमाणित कर सकोगे?

२ य—पोथी-पत्राको किनारे रख देनेपर फिर क्या होगा? आगमें एक बूँद भी हवि न डालोगे, सब पेटमें ही भर लोगे। तो फिर प्रमाण सुननेसे क्या लाभ?

१ म—वाह! तुम तो बड़े ही मजेदार आदमी हो! कहते हो कि जठरमें भी अग्नि है, तब तो मैं उसी अग्निकुण्डमें 'चतुर्विध अन्न' होम करूँगा। इससे फिर क्या हानि होगी? तुम्हारे मतसे तो वह भी एक प्रकारका होम है? परन्तु यही होम मुझे अधिक पसन्द है।

२ य—अधिक बकबक मत करो बाबू, शास्त्र कोई तमाशा नहीं है।

१ म—क्या आप समझते हैं कि मैं तमाशा कर रहा हूँ? हमारा वह पहला प्रश्न 'गुरुरग्निर्द्विजातीनां'—उसका समाधान अबतक नहीं हुआ है। उसका समाधान कीजिए। उसके बाद समझकर देखूँगा कि घी यदि पेटमें देनेकी अपेक्षा अग्निमें डालना अधिक सुविधाजनक है तो अबसे वही करूँगा!

२ य—अहा! बड़ी कृपा है आपकी! अब तो अग्नि कृतार्थ हो जायगी!

१ म—नहीं, नहीं, भाई, इतना तो समझाना ही चाहिए कि अग्निमें घी डालनेसे क्या लाभ होता है।

२ य—क्या लाभ होता है, सुनो। मन्त्रपूत घृतादि द्रव्योंको अग्निमें होम करनेसे देवता संवर्द्धित होते हैं। वे यज्ञके द्वारा परिवर्द्धित होकर यजमानको अभीष्ट भोग प्रदान करते हैं। यह बात भगवान्ने अर्जुनसे कही थी, यह मेरी अपनी बात नहीं है।

१ म—अग्निमें ही डालनेका क्या अर्थ है, यदि मैं जलमें डाल दूँ तो क्या देवताओंको प्राप्त न होगा? अग्निमें डालनेसे क्या फल होता है?

२ य—अग्नि है देवताओंका मुख या पुरोहित। "ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।" मैं अग्निकी पूजा करता हूँ। उस अग्निकी जो पुरोहित अर्थात् आगे, सम्मुख स्थापित है, जो देवताओंके यज्ञमें होता नामक ऋत्विक् और जो यज्ञके श्रेष्ठ फलोंका दाता है।

अग्निमें घृत डालनेका फल इस श्रुतिमें लिखा है—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजा ॥

अग्निमें आहुति देनेपर वह आदित्यके पास पहुँचती है। आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है।

१ म—अच्छा, इन सब बातोंका प्रमाण क्या है ?

२ य—प्रमाण श्रुति, वेद है।

१ म—अहा! यह तो मैं नहीं कहता। वेदमें तो है ही। मैं कहता हूँ हाथमें कलम लेकर अग्निकी कुछ प्रत्यक्ष महिमा दिखला सकते हो ?

२ य—अनुष्ठान करने पर देख सकते हो। एक वेदज्ञ, मन्त्र-कुशल, सात्विक व्यक्तिके द्वारा यज्ञ कराकर देखो। यदि कोई फल न मिले तो विश्वास न करना।

१ म—तुम भी क्या कहते हो भाई! मन्त्र-तन्त्रके द्वारा क्या आजकल कुछ हो सकता है ?

२ य—होगा क्यों नहीं, निश्चय ही होगा! पर ठीक तौर पर कार्य होना चाहिए।

१ म—अच्छा मान लिया कि आगकी उपासनासे अनेक अभीष्ट लाभ होता है, पर ज्ञान-लाभ होगा या नहीं ? ज्ञानकी प्राप्ति ही तो असल वस्तु है। इन अभीष्ट द्रव्यादिकोंको पाया तो क्या और न पाया तो क्या ? ये तो अनर्थका मूल है। अमृत लाभ अग्नि-उपासनाके द्वारा होता है या नहीं ?

२ य—हो सकता है जी! यदि ऐसा न होगा तो अग्नि गुरु होगी किस प्रकार? हो सकता है तभी तो ब्रह्मचारी लोग गुरुगृहमें अग्निकी परिचर्या करते हैं। अग्निदेवने परितृप्त होकर कभी-कभी आचार्यके विद्यमान न रहने पर शिष्यको कृतार्थ किया है। सत्यकाम और उनके शिष्य उपकोशलको अग्निने ही उपदेश दिया था। सत्यकाम उस समय तपस्याके लिए अन्यत्र गये थे। जब वह घर आये तो शिष्यको देखकर बोले—

"ब्रह्मविदिव वै सौम्य भासि"। हे सौम्य तुम तो ब्रह्मवेत्ताके समान लगते हो। उपकोशलको गुरुकी आज्ञा पालन करनेमें और अग्नि-सेवामें संलग्न तथा ब्रह्मचर्यमें अटल-प्रतिष्ठ देखकर गार्हपत्य आदि समस्त यज्ञाग्नि परस्पर करने लगी, "यह ब्रह्मचारी अत्यन्त क्लेश उठाकर हमारी विधिपूर्वक सेवा करता है, इसलिए इसको उपदेश देना चाहिये।"

१ म—अग्नियोंने उपकोशलको क्या उपदेश दिया था, बतलाइये न!

२ य—गार्हपत्याग्निने कहा—पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य हमारे तन हैं, इन सब शरीरोंके बीच आदित्यके अभ्यन्तर जो पुरुष दिखलायी देता है, वह पुरुष मैं हूँ।

दक्षिणाग्निने कहा—जल, दिक्, नक्षत्र और चन्द्रमा, ये चारों हमारे तन हैं। इनमें चन्द्रके भीतर जो पुरुष दिखलायी देता है वह पुरुष मैं हूँ।

आहवनीय अग्निने कहा—प्राण, आकाश, स्वर्ग और विद्युत

ये चारों हमारे तन हैं, इनमें विद्युत्में जो पुरुष दिखलायी देता है, वह पुरुष मैं हूँ।

उसके बाद प्रत्येक अग्निने कहा—"जो इनको इस रूपमें जानकर उपासना करते हैं, हम उनका इहलोक और परलोकमें पालन करते हैं।" जो इनको इस रूपमें जानकर उपासना करते हैं वे पापोंका नाश करते हैं, लोकवान् बनते हैं, पूर्णायु प्राप्त करते हैं और प्रकाशवान् होकर जीवन धारण करते हैं, इत्यादि।

परन्तु यह सब सकाम उपासना है। इसका फल अनित्य और विनाशशील है। परन्तु इसके बिना भी काम नहीं चलता। निष्कामभावसे उपासना करना बहुत कठिन है। आदित्य, चन्द्र और विद्युत्की सीमाका भी उल्लङ्घन करना होगा।

"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः।" उस परम पुरुषका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। इसीलिए अग्नियोंने कहा—हमने जो कुछ तुमको उपदेश दिया है वह वास्तविक एक अंशमात्र है। पूर्ण उपदेश आचार्य आकर तुमको देंगे। आचार्यने आकर उपकोशलको देवयान मार्ग अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी साधनाका उपदेश दिया।

१ प्र—देवयान मार्गका अभिप्राय क्या है?

२ उ—बहुत क्लिष्ट विषय है। इस विषयको ठीक-ठीक जाननेके लिए केवल शास्त्रीय पण्डित नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्य और तपस्याका साधक होना भी आवश्यक है। गुरुकी कृपासे अदित्य पुरुषको जानना होगा। वही आत्मा अमृत और अभय

ब्रह्म है। उसके ही आश्रयसे सारे मङ्गल निवास करते हैं, अत उसको 'संयद्वाय' कहते हैं। वही प्राणियोको पुण्यफल प्रदान करता है। अत उसको 'वामनी' कहा जाता है। वही समस्त लोकोंमें समस्त वस्तुओंमें व्यक्त होकर उनको अभिव्यक्त करता है अत उसे 'भासनी' कहते हैं। अब अचिन्त्य पुरुषके तत्त्वको सुनो। यह अत्यन्त गुह्य बात है। इस विद्याको सीखनेके लिए प्रजापतिके पास जानेपर इन्द्रको एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करके रहना पड़ा था। उन्होंने पहले उपदेश दिया कि देह ही आत्मा है। उसके बाद बतलाया कि जो स्वप्नमें पूज्यमान होकर अवस्थान करता है वही आत्मा है। तदनन्तर कहा कि सुषुप्तावस्थामें पड़ा हुआ जीव ही आत्मा है। प्रजापतिने अन्तमें उपदेश दिया कि, मघवन्, यह शरीर मरणशील है, मृत्युग्रस्त है। आत्मा अमृत और अशरीर है। शरीर आत्माका अधिष्ठान है। आत्मा शरीर विशिष्ट होकर ही प्रिय या अप्रिय द्वारा आक्रान्त होता है। आत्मा जबतक शरीर विशिष्ट रहता है, तबतक प्रिय-अप्रियका विराम नहीं होता। शरीर-रहित आत्मा को क्या प्रिय और क्या अप्रिय, कुछ भी स्पर्श नहीं कर सकता। वायु अशरीर है, विद्युत् और गर्जनकारी मेघ भी अशरीर हैं। ये अवस्थान कालमें आकाशरूपसे अशरीर होकर भी आकाशसे पृथक् अभिव्यक्त होते हैं। अभिव्यक्तिकालमें इनको एक रूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार यह सुषुप्त सम्यक् प्रसन्न आत्मा भी इस शरीरसे पृथक् होकर अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति

कालमें इसे अपना एक रूप प्राप्त होता है। तब यह उत्तम पुरुष के सदश होकर उत्तम पुरुष बन जाता है। उत्तम पुरुषके साथ रहनेवाले मुक्तपुरुष उस उत्तम पुरुषके उत्तम लोकमें रहते हैं, और यह स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न मर्त्य शरीरका ख्याल न रखकर इच्छानुसार भ्रमण, भक्षण, क्रीड़ा और स्त्रियोंके साथ या जातिके साथ सवारियों पर चढ़कर विहार करता है। रथमें जुते हुए घोड़ोंके समान स्वयं मुख्य प्राण उपर्युक्त मुक्त शरीरका परिचालन करता है। यह चक्षु अर्थात् चक्षु आदिसे उपलक्षित दृश्य, देहरूप पुरुषोपाधि अथवा आधिभौतिक पुरुष अर्थात् जिनके अधीन रहकर या जिसके द्वारा प्रवर्तित होकर, रश्मिके द्वारा अभिव्याप्त होकर आज्ञानुसार अवस्थान करता है वही चाक्षुष आधिदैविक पुरुष अर्थात् चक्षु आदिके अधिष्ठाता सूर्यादि देवता हैं। जो चक्षु आदिका अभिमानी है, वह आध्यात्मिक पुरुष अर्थात् द्रष्टा जीव है। और जो इन आधिभौतिक आदि पुरुषत्रयको आलोचनात्मक ज्ञानके द्वारा साक्षीरूपसे देखते हैं वह परमात्मा हैं। देहाभिमानी आत्मा परमात्माका अंश होनेके कारण उससे अभिन्न है। अतएव इस देहमें जो द्रष्टा है, वही आत्मा है, चक्षु देखनेका साधन है; जो इस देहमें घ्राता है, वह आत्मा है, घ्राण गन्धग्रहण करनेका साधन है; जो इस देहमें श्रोता है, वह आत्मा है, श्रोत्र सुननेका साधन है; जो इस देहमें मननकर्त्ता है, वह आत्मा है, मन मननका साधन है। देवता लोग भी ब्रह्मलोकमें इस आत्माकी ही उपासना करते हैं।"

इस चाक्षुप पुरुपकी ज्ञानसम्पन्न मानवकी अन्त्येष्टि क्रिया हो या न हो उनको अर्चि आदि मार्ग प्राप्त होता है। इस अर्चि आदि मार्गका नाम ही देवयान मार्ग है। ब्रह्मज्ञ इस देवयान मार्गसे ही प्रयाण करता है। यही अपुनरावर्ती मार्ग है। जो इस मार्गसे जाते हैं उनको फिर लौटकर आना नहीं पड़ता।

१ प्र—ब्रह्मज्ञ कैसे देवयान मार्गसे प्रयाण करता है?

२ उ—ज्ञानीजन मृत्युके पश्चात क्रमशः दिवसाभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी, उत्तरायणाभिमानी, और संवत्सराभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् आदित्य देवतासे चन्द्र, चन्द्रसे विद्युत् देवताको प्राप्त होते हैं। अन्तमें ब्रह्मलोकसे एक अमानव पुरुष आकर उसे ब्रह्मलोकमें ले जाता है। जीवकी यह क्रम-मुक्ति अग्नि-परिचर्याके द्वारा होती है। उसकी साधन-प्रणाली और दो प्रकारकी होती है। गीतामें इस साधन प्रणालीका उल्लेख है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (८। १३)

इसका अर्थ और साधना गुरुके समीप जानी जा सकती है।

१ म—अच्छा, जो अर्चि आदि मार्गसे प्रयाण नहीं कर सकते उनकी गति किस लोकमें होती है?

२ य—उनको कृष्ण अर्थात् तमोमय धूम आदि गति प्राप्त होती है। कर्माधिकारियोंको यही गति मिलती है। इससे पुनरावृत्ति होती है।

१ म—यह कैसा मार्ग है, जानना चाहिए। क्योंकि हम लोगोंको तो इसी मार्गसे आनाजाना पड़ेगा। जीव किस प्रकार जाकर लौट आता है, यह जाने रहना अच्छा है।

२ य—'धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥'

(गीता ८। २६)

छान्दोग्य श्रुतिमें लिखा है, "ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद यान् षड् दक्षिणैते मासाँस्तान् नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश आकाशाच्चन्द्रयसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।"

कर्मयोगी मरनेपर पहले धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होता है। धूमदेवतासे रात्रिदेवता, रात्रिदेवतासे कृष्णपक्ष देवता, कृष्णपक्ष देवतासे दक्षिणायन देवता, दक्षिणायन देवतासे पितृलोक देवता, पितृलोक देवतासे आकाश देवता, आकाश देवतासे

चन्द्रमाको प्राप्त होता है। चन्द्रमण्डलमें जाकर वह देवताका अन्न अर्थात् भोग्य बनता है। स्वर्गभोगके पश्चात् जीवका जलमय देह विलीन होकर आकाशमें आता है, उस जलके साथ जीव भी आकाशमें आता है। आकाशमें जीव वायुको प्राप्त होता है। वायुके द्वारा भ्रम्यमाण होकर वह धूमको प्राप्त होता है, धूमसे अभ्र बनता है, अभ्रके बाद मेघभावसे युक्त होता है। मेघसे जलधाराके साथ जीव पृथिवीमें आता है। यहाँ आकर ओषधि, व्रीहि, यव, तिल, माष आदि नाना रूपोंमें परिणत होता है। व्रीहि-यवादि रूपी जीव रेतः सेक कारीके द्वारा भुक्त होकर रेत रूपसे स्त्रीके गर्भमें प्रविष्ट होता है तथा रेतः सेक करनेवालेका आकार धारण करता है।

१ म—तुम्हारी बातोंसे बहुत-सा रहस्य जाननेमें आया, पर अग्नि पर-देवता हैं यह तो समझमें आया नहीं! उनको केवल देवता कह सकते हैं।

२ य—एक हिसाबसे वह पर-देवता नहीं तो क्या? सब देवताओंको अग्निमुखसे ही हविः प्रेरणकी व्यवस्था है। क्योंकि हविः समस्त देवताओंमें अग्रणी है। देवताओंमें अग्नि अग्र-जन्मा या ब्राह्मण है। इसी कारण वह ब्राह्मणोंके लिए भी पूजनीय है। अन्य समस्त देवता अग्निके ही रूप या विभूति है। उपनिषद्में है—सूर्य और अग्नि पुंस्वरूप और चन्द्र स्त्रीस्वरूप है; प्रकृति-पुरुषका योग ही चन्द्रके साथ सूर्य और अग्निका उद्वाह है। समस्त पुरुष शक्तियाँ अग्नि हैं और स्त्री

शक्तियाँ चन्द्र हैं, तथा सारे भोग्य द्रव्य चन्द्र है और भोक्ता अग्नि है। इसी कारण देवताओंमें अग्निकी इतनी प्रतिष्ठा है। अग्निका नामान्तर ही सूर्य है।

१ म—अच्छा बाबू, वायु और जलकी प्रतिष्ठा तो इनसे अधिक होनी चाहिए?

२ य—अपने-अपने स्थानमें सबकी प्रतिष्ठा है। श्रुतिमें लिखा है—"नमस्ते वायो, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।" अप्के सम्बन्धमें भी इसी प्रकारके अनेक मन्त्र हैं। वेदसे इस बातका प्रमाण दिखलाया जा सकता है। परन्तु कोई देवता पृथक् नहीं हैं। पहले कह चुका हूँ कि, पृथिवी, अन्न, अग्नि और आदित्य आदि सब एक ही देवताके शरीर हैं। इससे समझा जा सकता है कि ये सब एक ही हैं। तथापि कार्यकी पृथकतासे नाम भी पृथक्-पृथक् हो गये हैं। जिस प्रकार शरीरके एक होनेपर भी उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यङ्गके पृथक् नाम और कार्य होते हैं। वस्तुतः वे सब मिलकर एक हैं। मनुष्यके सब अंगोंमें सिरकी अधिक प्रधानता है। क्योंकि यहाँ नव इन्द्रियाँ एक हो जाती हैं, इन इन्द्रियोंमें सर्वापेक्षा अधिक चक्षुकी प्रधानता है। इसी प्रकार असंख्य देवताओंमें (जो एकके ही अनेक भावरूप हैं) अग्नि शीर्षस्थानीय है, और शीर्षमें सूर्य चक्षुस्वरूप हैं। यही कारण है कि सबको छोड़कर इन दो देवताओंकी उपासनाका इतना फल है, और इसी कारण हमारे शास्त्रोंमें सूर्य और अग्निकी इतनी प्रधानता है। यद्यपि इनको समय-समय

पर परदेवतासे पृथक् करके दिखलाया गया है तथापि वह समझनेकी सुविधाके लिए है। अखण्ड अनिर्वचनीय प्रकाश और अप्रकाशके परे ब्रह्म भावको सुस्पष्ट करनेके लिए है। परन्तु इस परम 'एक' को समझनेके बाद उसके प्रकाश या व्यक्त भावको जाननेके लिए चन्द्र, सूर्य और अग्निके बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है।

अग्निके अनेक रूप हैं। जो कुछ दीप्तिमय, प्रकाशमय, तमो-विनाशक है वह अग्नि ही है। अज्ञान भी तो तमः है, वह भी ज्ञान-अग्निके द्वारा नष्ट होता है। असल अग्निको हम नहीं देख पाते, क्योंकि वह आँखसे देखनेमें ही नहीं आता। हम अग्निको देखते हैं काष्ठादिके आश्रयसे, जो अग्निको प्रकाशित करता है। उस प्रकाशको ही हम देख पाते हैं। परन्तु अग्नि काष्ठादिसे स्वतन्त्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारणभूत तन्मात्र है! उसे किसी इन्द्रियकी सहायतासे जानना संभव नहीं है। जिस प्रकार वर्ण गुण है वस्तु नहीं; और वस्तुके बिना वर्णको पृथक् रूपसे उपलब्ध नहीं करते। तथा जिस प्रकार विशेष्यके बिना विशेषण असंभव है, उसी प्रकार इस समस्त प्रकाश या दीप्ति रूप विशेषण-के आश्रयरूप विशेष्यको अनुभव न करनेपर भी हम अनुमान से स्वीकार कर लेते हैं। वह अनुमेय, वर्णविहीन, सीमाहीन सद्वस्तु ही यथार्थ अग्नि या परमात्मा है। प्रकाशके तारतम्यके अनुसार जैसे एक आदमीको दूसरेसे श्रेष्ठ कहा जाता है, अथवा एक वस्तुको दूसरी वस्तुसे श्रेष्ठ माना जाता है, उसी

प्रकार जिन वस्तुओंमें प्रकाश पाया जाता है उनमें अग्नि श्रेष्ठ है इसी कारण ज्ञानीजन अग्निको गुरु कहते हैं। सूर्य, चन्द्र और अग्निके एकत्र मिलनेसे ही यह विश्व बनता है। इनके एकत्र मिलनेसे जो एक अनिर्वचनीय स्वर उत्पन्न होता है, उसका आश्रय लेकर साधनपथमें अग्रसर होनेपर हम उस परम कारण रूपी अक्षर ब्रह्मका अनुसन्धान करते हैं। वही प्रकृति पुरुषात्मक तथा 'हंस' मन्त्रका वाच्य और लक्ष्य है। इस 'हंस' मन्त्रको उलट कर देखनेसे सोऽहं हो जाता है तब समस्त चराचर जगत् वासुदेवस्वरूप दीख पड़ता है। यह 'हंस' मन्त्र ही परमात्माका मन्त्र है। इसमें व्यञ्जन वर्णोंको हटाकर देखनेसे वही ॐ हो जाता है। और इस ॐ कारसे चार व्याहृतियाँ उत्पन्न होती हैं, व्याहृतियोंसे वेद, और वेदसे तीनों लोक उत्पन्न होते हैं।

इस अग्निके बाहर और भीतर अनेक रूप हैं, अतएव अनेक नाम हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र विद्युदादि सब अग्निके ही प्रकाश हैं। सब प्रकाशोंका मूल है अग्नि। प्राण, मन और बुद्धि भी सूर्य, चन्द्र, और अग्निकी ज्योतिसे उत्पन्न हुए हैं। वासनाका मूल है रजोगुण या क्रियाशक्ति। क्रियाशक्ति गतिस्वरूप है। वह गतिस्वरूप प्राण, इडा नाडी सूर्यसे उत्पन्न है; इसी प्रकार जडता या तामसिक भावकी गति, स्थान मृत्युरूपी पिंगला नाडी चन्द्रसे उत्पन्न है; और इन दोनोंके सन्धिस्थलमें स्थिर बुद्धिरूपिणी, अमृतरूपिणी सुषुम्ना नाडी अग्निज्योतिके नामसे

प्रसिद्ध है। प्राण सूर्यस्वरूप है, चन्द्रमा मन-स्वरूप है, तथा इन दोनों ज्योतियोंके अन्तर्गत जो बोधरूपिणी ज्योति है वह अग्निज्योति है। ये तीनों ज्योतियाँ मिलकर उस एकका प्रकाश बनती हैं।

जिस प्रकार गुरु शिष्यके अज्ञानको ध्वंस कर देता है, उसी प्रकार जिसके भीतर जगत्का समस्त रहस्य वर्त्तमान है उस ज्योति-केन्द्र सूर्य (अथवा प्राण) की उपासनासे यदि उन सब रहस्योंका उद्घाटन हो तो इसमें विचित्रता ही क्या है? इसी कारण आर्य जाति सूर्यकी स्तुति करते हुए कहती है—

यन्मण्डलं देवगणैः सुपूजितं विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम्।
तं देवदेवं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्॥
यन्मण्डलं ज्ञानघनं त्वगम्यं त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम्।
समस्ततेजोमयदिव्यरूपं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्॥
यन्मण्डलं सर्वगतस्य विष्णोः आत्मा परंधाम विशुद्धतत्त्वम्।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्॥

१ म—आपने जो कहा कि अग्निके भीतर और बाहर अनेक रूप हैं, नाम हैं, उसकी एक बार व्याख्या तो कीजिए।

२ य—भीतर-बाहर हमारे तुम्हारे समझनेके लिए है, वस्तुतः भीतर-बाहर कुछ नहीं है। सब कुछ उस एक प्रकाशमान ज्योतिः स्वरूप परमात्माके द्वारा आच्छादित है, तथापि इसका कुछ भेद तुमको बताऊँगा। वेदमें एक स्थानमें लिखा है—"प्राण अग्नि है, अग्नि परमात्मा है, परमात्मा वायु है, हे प्राण! तुम

विश्वमय हो, तुम वैश्वानर हो, तुम विश्वरूप हो और तुम्हीं इस जायमान विश्वको धारण कर रहे हो। ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त यह जगत् तुम्हारी आहुतिस्वरूप है, परन्तु तुम किसीकी आहुति स्वरूप नहीं हो। इस विश्वमें तुम्हीं एक नित्य हो।" और भी वेदमें लिखा है—"पृथ्वीका सार अग्नि है, अन्तारक्षका सार वायु है, और स्वर्गका सार आदित्य है।" अग्निका सार ऋक्, वायुका सार यजुः, और आदित्यका सार साम है; ऋक्का सार भूर्लोक, यजुका सार भुवर्लोक, और सामका सार स्वर्लोक है। इसी कारण यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग अग्नि, वायु और सूर्यमय हैं। सूर्य और अग्निके सम्बन्धमें और भी अनेक बातें श्रुतिमें हैं, तुमको सुनाता हूँ। ब्रह्मोपलब्धि-का स्थान हृत्पद्म आदित्य स्थानीय है, उससे निकली हुई समस्त नाडियाँ रश्मि स्थानीया हैं। इनमेंसे कुछ नाडियाँ पिङ्गल वर्णके सूक्ष्म रसोंसे पूर्ण हैं और कुछ शुक्ल, नील, पीत और लोहित वर्णके सूक्ष्म रसोंसे पूर्ण हैं। आदित्यके सम्पर्कसे ही इन नाडियोंका शुक्ल, पीत और लोहित वर्ण दीख पड़ता है। जिस प्रकार एक विस्तीर्ण राजपथके द्वारा निकट और दूरके गाँवोंकी ओर प्रयाण किया जाता है, उसी प्रकार आदित्यकी रश्मियों द्वारा इहलोक और परलोक गमन किया जाता है। आदित्य (हृत्पद्म) से जो नाडियाँ निकलती हैं, वह आदित्य-मण्डलमें प्रवेश करती हैं। जीव जब इस देहसे उत्क्रमण करता है, तब वह उपर्युक्त नाड़ी—रश्मि जालकी सहायतासे ऊर्द्ध्व गमन करता है। जितने

समयमें मन एक विषयसे दूसरे विषयमें जाता है, उतने ही समयमें वह आदित्य लोकको प्राप्त हो जाता है। यह आदित्य-मण्डल ब्रह्मलोकका द्वार है। इस द्वारसे होकर ज्ञानी लोग ब्रह्म-लोक को जाते हैं। अज्ञ जीवोंके लिए यह द्वार बन्द रहता है। वह इस द्वारको प्राप्त नहीं कर सकते।

अब समझमें आ गया होगा कि क्यो इस सूर्यको ऋषि लोग कहते हैं--

यन्मण्डलं ज्ञानघन त्वगम्यं त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ॥

इसके बाद आशा है कि तुम पाश्चात्य विद्वानोंकी तरह सूर्य अथवा अग्निको जड़रूपमें तुच्छ न मानोगे।

१ म--निश्चय ही न मानूँगा, उनकी महिमा न जाननेके कारण ही अवज्ञा करता था।

२ य--क्यों बाबू, महिमा नहीं जानते! एक दिन सूर्य नहीं दिखलायी देता है तो प्राण छटपटाने लग जाते हैं। यदि पाँच सात दिन सूर्य न उगे तो यह पृथ्वी रसातल चली जाय, इस पर तनिक विचार करने पर समझमें आ जायगा! इस प्रकारके जगत् प्रसविता यदि देवता नहीं होंगे तो क्या हम, तुम देवता होंगे?

अग्निका जो कार्यभेदसे नामभेद है उसे मैं तुमको न बत-लाऊँगा, क्योंकि उसे बतलाने पर जान पड़ता है कुछ वक्तव्य शेष न रहेगा। अग्निके जो तीन प्रधान नाम हैं, वह हैं--

आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य। उपनिषद्में पञ्चाग्निका नाम भी है।

(१) सूर्य नामक अग्नि—सूर्यमण्डलके आकारमें सहस्र रश्मियोंका घेरा, जो मूर्द्धामें विद्यमान है, जिससे सूर्य सहस्रदल-अधिष्ठितके नामसे वेदमें वर्णित है। उसके अधः प्रदेशमें (२) दर्शन नामक अग्नि विद्यमान है। यह आयताकारमें आहवनीय नाम धारण करती है, और मुखमें स्थित है। (३) शरीराग्नि या जठराग्नि—यह वैश्वानर है। "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥" यह अग्नि जीवोंकी जरावस्थाको नष्ट करती है और भुक्तद्रव्यका शोधन करके उसका बल ग्रहण कर लेती है। प्राणिगण जो चूसते हैं, चाटते हैं, पान अथवा भक्षण करते हैं, काष्ठाग्नि उसको पूर्णतः पान कर जाती है, यह अग्नि गार्हपत्य नामसे नाभिमें अवस्थान करती है।

(४) दक्षिणाग्नि—अर्द्धचन्द्रके आकारमें हृदयमें अवस्थान करती है।

(५) प्रायश्चित्तीय अग्नि अधोदेशमें विद्यमान है। मेढ्रके अधोभागमें वह्निका त्रिकोणपुर अवस्थित है। इस अग्निके स्त्री रूप तीन नाडियाँ हैं। देहमें असंख्य नाडियोंके होते हुए भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। यह अग्नि इस नाडीत्रयके द्वारा ललाटस्थ चन्द्रमंडलसे परिच्युत शुक्रके रूपमें प्रजाको ग्रहण करके सन्तानोत्पादन करता है। अग्नि-

कुण्डके मध्य पुल्लिंगका मूल है, उसके द्वारा अग्निकुण्डमें शुक्र पतित होता है। अनन्तर प्राणद्वारा आकर्षण करके उसे गर्भाशयमें प्रवेश करने पर सन्तानोत्पत्ति होती है। इसी कारण इस शरीरको अग्निसोमात्मक कहते हैं।

अब इस सूर्याग्निका ध्यान और साधना बतला रहा हूँ। ध्यान देकर सुनो। मनको संयत करके अर्थात् विषयोंसे खींचकर प्रणवचिन्तन करो। अथवा इडा, पिंगला और सुषुम्ना रूपी त्रिगुणसे युक्त, पञ्च इन्द्रियोंमें अधिष्ठित देवताओंसे युक्त, पञ्च-प्राणोंसे आश्रित और नवद्वार युक्त शरीरमें परमात्माका ध्यान करो। हृदयमें किरण-जालसे मण्डित दिव्य आदित्यमण्डल है, और उसके बीचमें दीपकी वत्तीके समान अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। यह अग्नि ही ध्येय वस्तु है।

हृदयस्थका ध्यान याज्ञवल्क्यने जैसा कहा है उसे कहता हूँ—"प्रकृतिमय कर्णिकासे विशिष्ट, अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यरूप, अष्टदल समन्वित विकारमय केशरयुक्त, ज्ञानरूप नालसे समन्वित, वृहत्कन्द संयुक्त तथा प्राणायाम द्वारा प्रकाशित हृत्पद्ममें सर्व-तेजोमय, जाज्वल्यमान सर्वाभिमुख जगत्कारण वैश्वानर नामक महावह्निका ध्यान करो। यही वह्नि आपादमस्तक हमारे शरीरको परितापित करता है। यहीं निर्वात प्रदीपके समान स्थिर हव्यवाहन अर्थात् अग्निदेव अवस्थित हैं। उनकी शिखामें अव्यय परमात्माका दर्शन करके नीले बादलमें विद्युल्लेखाके समान विराजमान नीवार कणके समान सूक्ष्म, पीतवर्ण सर्व-कारण वैश्वानर देवताको सोऽहंज्ञानके साथ ध्यान करो।"

योगवेत्ता विद्वान् लोग सगुण उत्तमाधिकारियोंके लिए इस प्रकारके ध्यानका विधान करते हैं। इस प्रकार वैश्वानरको जान लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है। योगीजन इस प्रकारके ध्यानके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणसे योगाभ्यास करते हुए सुषुम्नाके पश्चिम मार्गसे षट् चक्रको भेद करके ऊर्ध्वगतिका अभ्यास करें, और सहस्रदलमें सूर्य को भेद करें।

सूर्य और अग्नि आत्माके प्रकाशमान स्वरूप हैं। 'आत्मा वै गुरुरेकः'। अतएव अग्नि ही द्विजातियोंका परम गुरु है।
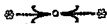
संसार और भगवान्

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥ भा० १-२-६

भगवान् जो इन्द्रियोंके लिए अगोचर हैं, उनके प्रति फलकी इच्छासे रहित जो प्रबला भक्ति है, जिसकी गति कदापि अवरुद्ध नहीं हो सकती वही जीवनका परम धर्म है और उस भक्तिके द्वारा ही चित्त परमानन्दको प्राप्त होता है।

चरखीमें बैठकर दन-दन घुमो, और सिरमें घुमरी न आवे, यह कभी हो नहीं सकता। बैलगाड़ी पर बैठकर यदि ऊँचीनीची भूमिमें होकर बराबर आना जाना पड़े तो शरीरमें दर्द न होनेकी आशा करना विडम्बना है। इसी प्रकार संसारमें रहने पर

(न रहेंगे तो जाँयगे कहाँ) दुःख-कष्ट भोगना बिल्कुल अनिवार्य है। अतएव जो अवश्य भावनीय है उसके बारेमें अधिक सोचने से लाभ नहीं है। इसीलिए अर्जुनसे भगवान्ने कहा था कि, "वे क्या हैं, जानते हो ? वे, मात्रा-स्पर्श, हैं अर्थात् विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध; और इसी कारण शीतोष्ण सुख-दुःख प्रदान करते हैं। और वे 'आगमापायी' हैं अर्थात् नित्य ठहरने वाले नहीं हैं, बीच-बीचमें आवेंगे और चले जाँयगे। अतएव बाबू इनको सहन करना होगा!" बहुत ही स्पष्ट बात है। इसके बारेमें और कोई आशंका नहीं उठ सकती। और यदि कोई कहे कि "मैं तुम्हारे सब दुःखोंको दूर कर दूँगा, बिल्कुल सातवें स्वर्गमें पहुँचा दूँगा—वहाँ कोई दुःख नहीं है, कष्ट नहीं है, बड़ा मजा है"—तो ऐसे गुरु महाशयसे जरा सावधानीसे बर्ताव करो। क्योंकि यह कलिकाल है। और देशमें धूर्तलोग यत्र-तत्र हैं, इसी कारण डर लगता है। यह संसार—जहाँ तुम निवास करते हो, क्या है ? एकबार विचार कर देखो तो! यह संसार एक बड़ा भ्रमजाल है। इस भ्रमजालको यदि तुम तोड़ना चाहते हो, तो तुम्हें इस संसार—नाटकके नटराजके विषयमें थोड़ा विचार करके देखना पड़ेगा। इससे वह पर्दा फट जायगा। जो सोचता है कि "संसारमें हमारा इतना जन-धन-वैभव है, इतने हमारे बन्धु-बान्धव और इतनी मान-प्रतिष्ठा है, किसी वस्तुकी कमी नहीं—अब मौजसे कुछ दिन सुखभोग किये जाओ"—यह जिस प्रकार भ्रान्तचित्तकी बात है उसी प्रकार

"यह संसार भयानक स्थान है, चारों ओर झंझावात, चारों ओर दुःख, दैन्य, असामञ्जस्य! कहाँ ईश्वर और कहाँ सुविचार—कहीं कुछ नहीं है। बेकार चिल्ला-चिल्लाकर मरना है ऐसा कुस्थान है, अरे बाप मैं तो मर गया।" यह सोचना भी भ्रान्ति है। साधारणत निश्चयपूर्वक जगत् में ये दोनो प्रकारके भाव पाये जाते हैं, परन्तु वस्तुत इनमें कोई भी ठीक नहीं हैं।

जानते हो संसारका रूप क्या है? कभी मनमें होगा, संसार कैसा सुन्दर, कैसा आनन्दका स्थान है! इतना प्यार, इतनी प्रीति, इतना स्नेह और कहाँ है? माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, स्वजन- बान्धव सभी मानो एक-एक सुखके स्रोत हैं, सभी मानों सुखके हाट बाजार हैं। धन-मान-ख्यातिका भी चाकचिक्य तो कम नहीं है। सोचो, जब जो चाहते हो, वही हो जाता है। जब जो माँगते हो, वही मिल जाता है। शरीरमें बल, आरोग्य, प्रखर भूख, और भूखके उपशमके लिए नाना-प्रकारके उपभोग हैं, किसी वस्तुकी कमी नहीं है, विद्या-बुद्धि-ज्ञान मानो सभी हमारे हाथमें रक्खे पड़े हैं! किन्तु, ठहरो, संसारकी एक और मूर्ति है। वह भयानकसे भी भयानक है! याद होते ही थरथर शरीर काँपने लगता है। एक ओर मूर्खता और अज्ञता है, अन्न-वस्त्रका अभाव है, रोग यन्त्रणा-मृत्यु—उसके ऊपर दुर्भिक्ष, महामारी; सब मानो हुँकार करते हुए निगलनेके लिए चले आ रहे हैं! देखते-देखते भूकम्पसे घर द्वार

नष्ट हो गये, आग लगी और जो कुछ था जलकर भस्म हो गया! महामारीके प्रबल आक्रमणसे एकके वाद एक, इस प्रकार कितने ही पुत्र-कन्या, भाई-बहिन, पति-पत्नी कलेजेकी हड्डी तोड़ चूर-चूर करके चले गये! दारिद्र्य ऐसा कि रोग होनेपर दवा-दारूके लिए पैसा नहीं जुटता, और घरमें हाँड़ी नहीं चढ़ती। सभी घृणा करते हैं अविश्वास करते हैं। जितने प्रकारके रोग हैं, सब मानो स्थायी बन्दोवस्त करके शरीरमें डेरा डाल रहे हैं। घरके छप्पर पर खर नहीं है, वर्षासे दीवाल गिरी जा रही है कन्याओंकी संख्या वढ़ रही है, उनकी व्याहकी अवस्था बीतती जा रही है, सत्पात्रको दान देनेकी सामर्थ्य नहीं है। एक-एक करके विधवाओंसे घर भरा जाता है। लड़कोंको पढ़ाने का खर्च नहीं जुटता, मूर्ख होकर घरमें बैठे-बैठे वे गवाँर वने घूम रहे हैं। रह-रह कर मृत्युकी भीषण छाया चित्तको व्याकुल कर देती है। यह भी एक रूप है। आलोक और अन्धकारका यह संसार है। क्या सवके भाग्यमें ये दोनों जुटेंगे,—इसका कोई मानी नहीं। किसीका जीवन-प्रात ही दुःखमय है। परन्तु भाई निरवच्छिन्न सुख कहीं भी नहीं है। जान पड़ता है कि निरवच्छिन्न सुख होता तो उससे सुखकी मर्यादा नष्ट हो जाती।

एक बात याद रक्खो। इस संसारमें जब देखो कि चारों ओर अन्धकार है, किसी ओर कुल-किनारा नहीं दीख पड़ता। असीम अन्धकारके वीच विपद्की उन्मत्त झंझावायु तरलता-पूर्वक हा-हा कर उठती है, दिग्दिगन्त सूझ नहीं पड़ते, मनमें

आता है कि यह क्या ? मैं कहाँ आ पड़ा ? साथी नहीं, बन्धु नहीं, दया नहीं, प्रकाश नहीं, कोमलता नहीं, व्यथामें सहानुभूति देनेवाला नहीं ! यह कैसा नरक है ! तब थोड़ा धैर्य अवलम्बन करो। कोई डर नहीं, जरा हाथसे हाथ मलकर चुपचाप अपेक्षा करो। देखोगे कि कुछ दिनके बाद सब अन्धकार दूर हो जायगा और सारी गड़बड़ी मिट जायगी। क्योंकि इस जगत्में कुछ भी नित्य नहीं है।

श्रावणकी घनी वर्षामें घोर अन्धकारमय मेघाच्छन्न रात्रि बारंबार प्राणोंमें आतङ्कका सञ्चार करती है। अविरत मूसलाधार वृष्टि और रह-रह कर विद्युत्पात जब प्रलयका अभिनय कर प्राणको आकुल कर देता है, तब आश्रयहीन होकर खुले मैदानमें दिलको कंपित करनेवाले शीतमें खड़ा-खड़ा पथिक सोचता है—"जान पड़ता है कि इस रातका अन्त न होगा, इस विपद्से परित्राण न मिलेगा।" उस समय क्या उसके मनमें एक बार भी उदय होता है कि फिर सूर्य उगेगा, दिशायें साफ हो जाँयगी, सिरके ऊपर पक्षियोंका आनन्दगान होगा, और पुरुषों और स्त्रियोंके हास्यमंडित मुखमण्डल देखनेमें आवेंगे ? परन्तु वह विपद् भी कट जाती है, उस घोर प्रलय रात्रिका अन्त होता है, धीरे-धीरे मेघ फट जाता है, समय आते ही वह अविरत जल वर्षा शान्त हो जाती है। और शरत्कालकी चन्द्रिका केतकीके कुसुमके समान निखर उठती है। मेघसे

निर्मुक्त सूर्यके आलोककी अमल किरणें मानो सबकी सब सुन्दर और आशाप्रद जान पड़ती हैं।

यही संसार है। यही यहाँके नियम हैं। परन्तु इससे हमको एक बड़ी शिक्षा मिलती है। निरन्तर विपद्से व्याकुल और निराश्रित चित्त मानो और भी दृढ़तापूर्वक भगवान्का आश्रय ग्रहण करनेकी शिक्षा देता है जितनी ही अधिक विपत्तियाँ आकर इकट्ठी हो जाती हैं, उतना ही अधिक उनके साथ संयोग का माधुर्य घनीभूत हो उठता है। विपद्के बीचमें यह परम सम्पद् प्राप्त होती है, इसी कारण आदर्श-रमणी भारतेश्वरी कुन्तीने विपद्के लिए ही प्रभुसे प्रार्थनाकी थी। विपद् सदा हमें विपन्न करके ही दम लेती हो, ऐसी बात नहीं है, बल्कि वह साथ-ही-साथ एक महान् सुयोगकी सम्भावना उपस्थित करके शान्त होती है। यदि कोई आदमी दुर्भाग्यवश हानिके साथ इस लाभको ग्रहण न कर सके को अवश्य ही उसकी हानिकी पूर्ति नहीं हो सकती। विचारशील सत्पुरुष लोग कहा करते हैं कि, "हे प्रभु, मैं खूब जानता हूँ कि आपका सुख जैसे मिथ्या है वैसे ही दुःख भी मिथ्या है।" और दुःखका संयोग ही संसार कहलाता है। जिनकी यह संसार-रचना तथा माया-माधुर्य इतना विचित्र है, यहाँ रहते हुए जो इसके परे प्रभुके चरण कमलोंमें प्रपन्न होकर शरण ग्रहण करता है वही वास्तविक बुद्धिमान् है उसीका चातुर्य असल चातुर्य है। एक बार उनको मन प्राणसे पुकार करके देखो, सारा अन्धकार विदलित हो

जायगा और उनकी दिव्यज्योति प्रस्फुटित हो उठेगी। वह तो स्वयं कहते हैं, "अरे मैं तेरा सखा, मैं तेरा बन्धु हूँ, मुझको "सुहृदं सर्वभूतानां" जानकर शान्ति प्राप्त कर।" परन्तु हम तो ऐसा करते नहीं, हम केवल उनकी प्रतिबिम्बित मुखाकृतिको देखकर कांप उठते हैं। वह हमें अविरत पुकार रहे हैं, पर हम उनकी बात क्यों नहीं सुनना चाहते? यह तो हमारा ही दोष है। संसार रूपी क्रीड़ा-गृहको सजाकर भगवान् खेल करते हैं, इसमें तो सोचने विचारनेकी कोई बात नहीं है। तुम भी इस खेलमें योग दो, देखो क्या मजा मिलता है? यह न करके यदि हम स्वयं अपने घरमें चोर बनकर बैठते हैं तो राजमुकुट पहन कर दण्डधारणकी हुई उनकी मूर्तिको देखकर तो भय होगा ही। यदि मिथ्याको सत्य मानकर निश्चिन्त होकर बैठ रहे हो तो अन्तमें रोना ही पड़ेगा। परन्तु जो भक्त और प्रेमी हैं वे इस खेलसे डरते नहीं, वे इस खेलमें खेलाड़ी बन कर विशेष आनन्द उठाते हैं। परन्तु यह उनका माया नाट्य ही तो है। बुद्धिमान् मनुष्यकी बुद्धि भी बहुधा भड़क उठती है। भक्त भी समय-समय पर विह्वल हो जाते हैं, उस समय जान पड़ता है कि संसार भी एक अद्भुत व्यापार है। ससारमें भगवान्को न देखने पर त्रितापसे तपनेके सिवा छुटकारा नहीं है, हाहाकार करके रोना अनिवार्य है। तब इस मायिक खेलको बिगाड़कर भागनेकी इच्छा होगी। परन्तु बाबू, जाओगे कहाँ? उसको पृथक करके तो दूसरा कोई ससार नहीं बचता। अवश्य ही

वह ऐसा आनन्दका खेल खेलते हैं कि मनुष्यका धैर्य टूट जाता है, उस समय भगवानको जितना ही पुकारा जाय कि हमें बचाओ, वह गंभीर होकर चुपचाप बैठ जाँयगे, मानो किसीके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिक उत्पात करने पर कहते हैं—बाबू, "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"

रसिक शेखर तब हँसते हुए बोलते हैं—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न . कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥"

(गीता ५ । १४–१५)

यह सब तुम्हारा दुःख-सुख मैं नहीं जानता बाबू! तुम्हारा ज्ञान अज्ञानसे आच्छन्न है इसीसे तुम्हें विभीषिका दिखलायी दे रही है। मैं तुममें किसीको कर्म करनेके लिए कहता नहीं, और न पाप-पुण्य देता हूँ। मैं सर्वत्र समबुद्धि रखता हूँ, तुम भी इसी प्रकार बुद्धिको सर्वत्र सम बनाओ, फिर कोई जटिलता न रहेगी।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता ५ । २५)

जिनका पापक्षय हो गया है, संशय मिट गया है, जो संयत-

चित्त हैं और सब भूतोंका हित करते हैं, वे ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण-रूप मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

भक्त कहता है—मरने पर तो ब्रह्मनिर्वाण लाभ होगा, पर इस समय कौन उपाय है ?

भगवान् कहते हैं—'भय क्या है ?

"कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥"

(गीता ५ । २६)

अधिक कुछ नहीं, काम-क्रोधसे विमुक्त होकर संगत चित्तसे घर—द्वार छोड़कर *संन्यासी* होनेपर *'विदितात्मा'* हो जाओगे। तब इस कालमें क्या और परलोकमें क्या सदा ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जायेगा। इतना कहकर अन्तर्धान हो जाते हैं! भक्त मनमें सोचता है—वाहरे, आया था खेल खेलने, अब देखता हूँ ब्रह्मज्ञानका रास्ता दिखलाकर वह किनारा कस रहे हैं। तब भक्त रोकर कहता है—*"यह क्या भगवन्! यह क्या? यह* बात तो तुम्हारे संग हुई न थी?" भगवान् मुँह विचका कर हँसते हैं। भक्त तब भगवान्के भावको देखकर चारों ओर अन्धकारका अनुभव करता है, रसिक-चूडामणि उस समय गंभीर होकर बैठ जाते हैं, मानो सचमुच पाप-पुण्यके लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है, उस समय उनका भाव देखकर ऐसा ही जान पड़ता है। भक्त तब भवसागरके मँझधारमें पड़ा उच्च स्वरसे रो उठता है। वह कहता है—"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं

नृशंसम्"--प्रभु ! ऐसा नृशंस वाक्य तुम्हें कहना उचित नहीं।" मैं समझता हूँ तुम्हीं सब कुछ हो, तुम्हीं सर्वमय कर्त्ता हो। त्रिलोकेश, तुम हमारे प्रियतम हो, प्राणसखा हो। फिर भी यह क्या सुनाया कि, "तुम कोई नहीं हो!" आज यह क्या तुम्हारा अद्भुत भाव और मूर्ति दीख पड़ रही है।'फिर,

"याम कथं व्रजमयो करवाय किं वा।"

भक्तकी दारुण मनोकथा और रुदनको देखकर, भगवान यही सान्त्वना देते हैं कि आगे जो कहता हूँ उसे सत्य समझो। परन्तु समझते क्या हो, वह नियम तुम्हारे लिए नहीं है। और रोते क्यों हो? मुझे देखकर? मेरी प्रतिविम्बित मुखाकृतिका नाम ही तो माया है! माया'तो तुम्हारी दासी है, तुम मायाको देख कर विह्वल क्यों हो रहे हो? आओ, आओ मेरे पास बैठो, तुम मेरे अन्तरङ्ग हो, प्राणोंके प्राण हो, तुमको दूर करके कहीं भी जाकर क्या मैं निश्चिन्त हो सकता हूँ, या तुम्हारी विपद् देख कर स्थिर रह सकता हूँ? डरो मत, डरो मत। "अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।" तुम मेरे शरणागत हो, तुम्हे फिर भय कैसा? पाप-ताप, क्षार-भस्म सबसे तुमको मुक्त कर दूँगा, अब तुम वर माँगो! तब भक्त आश्वासन पाकर कहता है--"प्रभो, वर अभी रहने दो, इस समय तो जगत्को आलोकित करने वाले तुम्हारे मुँहको तो देखूँ! बाप रे बाप! क्या भय दिखलाया प्रभु! अब ऐसा भय न दिखाना। तुम्हारी माया ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी समझमें नहीं आती, हम तो

केवल मिट्टी है ! प्रभो ! दया करके हमको पाद सेवनका अधिकार दो, और वर मैं क्या माँगू ?" भक्त इतना कहकर प्रेमाश्रुद्वारा भगवानके योगीजन-वाञ्छित, कमलासेवित दोनों पादपद्मोंको अभिषिक्तकर देता है। तब भगवान् प्रेमार्द्र हृदयसे भक्तको आलिंगन करके उसके कानोंमें कहते हैं—

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"

(गीता १८।६४-६५)

यह संसार है और यह मोक्ष है। दोनों ही हमारे मानो निज जन हैं—यह जानकर तुम निःसंशय हो सकते हो। उनके शरणमें जाओ, तन्मना, तच्चित्त बनो, उनको भजते रहो, उनको नमस्कार करो। फिर किसी बातकी चिन्ता न रहेगी।

बांसुरी

मुरली कौन बजाता है ? कहाँ बजती है और क्यों बजती है, कह सकते हो ? मालूम होता है यह सब केवल मनका भ्रम है। रेल, गाड़ी और मोटरोंकी आवाज, रुपयोंकी खनखनाहट और सुन्दरियोंके कोमल चरणोंकी मधुर नूपुर-ध्वनि, यही तो असली मुरली है। हाँ, मीनारकी तरह खड़ी हुई विशाल अट्टालिकाएँ भी मुरलीकी ध्वनिका ही काम करती हैं। चाहे उनमें शब्द न हो परन्तु चुपचाप एक सुर तो उनमें बजा ही करता है। सँपेरा जैसे बंशी बजाकर साँपको खेलाता है, हमारे मन-रूपी भुजंगको भी ये बाहरके विषय ठीक, उसी तरह खेला रहे हैं। इनको बंशी न कहें तो और क्या कहें ? तुम सोच लो

श्रीकृष्णकी मुरलीकी बात कहते हो वह हमारी समझमें नहीं आती ! न उसमें शब्द हैं और न रस है, वह केवल लोगोंको भुलावेमें डालनेवाली तुम्हारी बातें हैं, परन्तु क्या सचमुच यही बात है ?

नहीं ! मालूम होता है एक और भी जगलुभावना सुर है, मनको मत्त करनेवाला संगीत है ! अवश्य ही सभी कोई उसको नहीं सुन पाते । परन्तु जो कभी सुन लेता है वह फिर आँखोंसे कुछ देख नहीं सकता, कानोंसे सुन नहीं सकता, हाथोंसे किसीका स्पर्श नहीं कर सकता। उस समय उसकी क्या दशा होती है जानते हो ?

नहिं आता अपना नाम याद है मेरे।
हैं नयनबाणसे प्राण हरे अब मेरे॥
कैसा वह मारा नयनबाण अन्तरमें।
है मरा हुआ विष उसका अभ्यन्तरमें॥
रात दिवसका है नहीं, कुछ भी मुझको भान।
श्यामरूप नित देखता, जागत सपन समान॥

बस, उस मुरलीको सुनते ही यह अवस्था होती है। एक दिन नवद्वीपमें श्रीगौरांगने उस मुरलीकी धुनि सुनी थी जिससे उनका घरमें रहना असम्भव हो गया। गहरी रातके समय स्नेहमयी जननी, प्रेममयी पत्नी, मनभाये घर-द्वार और धन-ऐश्वर्यको छोड़-छाड़कर बड़े जोरसे उन्हें रातों-रात दौड़ना पड़ा ! रोते-रोते सीधे कटवा जाकर ठहरे। उस दिनका वह रोना

जीवनभरमें कभी नहीं थमा। आजीवन उनकी समझमें और कुछ भी नहीं आया। सचमुच ही 'नयनबाणोंसे प्राण हरे गये।'

वह मुरली कहाँ बजती है, क्यों बजती है और उसे कौन सुनता है?

'भाग्यवान् जन कोई है सुन पाता'

उसी मुरलीने सदा भागीरथीकी पवित्र और शुभ्र अविश्रान्त धाराकी तरह, चन्द्रमाकी सुन्दर चाँदनीके प्रवाहकी तरह और प्रातःकालीन सूर्यके किरणविस्तारकी तरह सम्पूर्ण विश्वको, सम्पूर्ण नर-नारियोंके हृदयक्षेत्रको आर्द्र और अपनी मधुरतासे सिक्त कर रक्खा है।

हमारे हृदयके अन्तरतम क्षेत्रसे और इस विश्वके हृदय-केन्द्रसे जो एक मधुर शब्द सर्वदा ध्वनित हो रहा है उसके उस अपूर्व छन्दसे पृथ्वीपर यह बाहर भटकनेवाला चञ्चल चित्त मौन और स्तब्ध हो जाता है। जब हम उस संगीतसुधाके सरोवरमें आपादमस्तक निमग्न होंगे तभी हमें शीतलता प्राप्त होगी। उस समय वासनाका सारा क्षोभ मिट जायगा। अभावके आघातोंसे हम घायल नहीं होंगे। हमारे देखने, सुनने और स्पर्श करनेमें जो कुछ भी आवेगा सो सभी अमृतके समान प्रतीत होगा। डूबना चाहिये। एक बार आँख-कान मूँदकर, शरीरकी ममता भुलाकर, प्राणोंका मोह छोड़कर उस अतल जलमें डूब जाना चाहिये—एक बार अपनेको खो देना चाहिये। जो ऊपर-ऊपर तैरकर केवल अपनेको बचाना चाहते हैं, वे

धोखा खाते हैं। बचते नहीं बच सकते नहीं, उन्हें इस वासना-समुद्रका किनारा भी कभी देखनेको नहीं मिलता! कविने कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठि॥

डूबनेमें डरनेसे काम नहीं चलेगा। जलकी गहराईमें उतरना पड़ेगा। यदि डरोगे तो चिरकाल इसी जलके किनारेपर बैठ रहना पड़ेगा। न प्यास बुझेगी और न शरीर ही शीतल होगा। बार-बार रो-रोकर अपनी मर्म-वेदना प्रकट करते हुए यही कहना पड़ेगा—

'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् मृडा सुक्षत्र मृडय।'

जलके भीतर बसकर, मरता हूँ नित प्यास।
दया करो, सुख दो प्रभो, कर तृष्णाका नाश॥

डूबनेमें सबसे बड़ा विघ्न है सुखकी वह एक मिथ्या और भ्रान्त धारणा जो हमारे हृदयमें घुसी हुई है, उसे निकाल देना होगा, धो-पोंछकर हृदयको साफ करना होगा, डरना नहीं। यह कोई बड़ी कठिन या असम्भव बात नहीं है। देर है तो बस, एक बार डूब जानेकी।

सुखसम्बन्धी भ्रान्त धारणाका ही यह कुफल है कि हम आजीवन उस मिथ्या सुखके पीछे-पीछे दौड़ते हैं तब भी मरु-

भूमिमें मायामरीचिकाकी तरह यह कभी हमें प्राप्त नहीं होता। दौड़-धूपमें सारा जीवन बीत जाता है। एक मनुष्य स्वप्नमें रेल पर सवार होकर समझता है कि मैं कई देशोंको लाँघकर बहुत दूर चला आया, मनमें प्रसन्न होता है। परन्तु जब जागता है तब देखता है कि मैं जहाँ सोया था वहीं हूँ, एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा। हमारी इस जाग्रदवस्थाकी भी ठीक यही दशा है। दिन-रात काम करते हैं, बड़ी धूम-धाम और खूब दौड़-धूपकर मनमें समझते हैं कि बड़ा काम हो गया परन्तु वास्तवमें कुछ नहीं होता। यह सब केवल मोह है। हमारा सारा ही परिश्रम व्यर्थ होता है, व्यर्थ चेष्टाके श्रमसे मन और प्राण थक जाते हैं। जानते हो असली सुख क्या है? धन-सम्पत्ति, जमीन-मकान, गाड़ी-मोटर, मान-प्रतिष्ठा और विद्या-प्रतिभा आदि सुख नहीं है। इन सबके रहनेपर मनुष्य यदि बिगड़ न जाय तो इन्हींकी सहायतासे उस असली सुखकी खोज कर सकता है। पर जिसके ये सब नहीं हैं वह यदि असली सुख चाहता है तो क्या उसे नहीं मिल सकता? अवश्य मिल सकता है। तुम्हारे धन-ऐश्वर्य और मान-प्रतिष्ठामें तो कोई सुख घुसकर बैठा ही नहीं है।

असली सुख है आकाशके समान। आकाशकी ओर देखो, कहीं सीमा नहीं है, कहीं शेष नहीं है। यद्यपि हम उसको अभी पूरा नहीं देख सकते परन्तु जो कुछ देख पाते हैं उसीसे मन भर जाता है। प्राण उस असीमको पहचान लेते हैं और उसमें

अपनेको विसर्जन कर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह जो भूमामें आत्मविसर्जन है यही है परमानन्द। कारण, 'नाल्पे सुखमस्ति'—अल्पमें, सीमामें कभी सुख नहीं। इसीलिये जगत्के ब्रीहि, गौ, धन, स्त्री आदि कोई भी पदार्थ मनुष्यको सुखी नहीं कर सकते। वह व्याकुल होकर सर्वदा दौड़ता है उस अनन्त और असीम सुखके लिये! यह व्याकुलता उस असीमको पानेके लिये ही होती है। जो उसे पा लेता है, वह फिर वह नहीं रहता। वह भी आकाश ही हो जाता है। परन्तु पहले-पहल वह आकाश होकर भी बराबर आकाश होकर नहीं रहता। किसी समय चटसे बाहर निकल आता है। जैसे जलमें डुबकी लगाकर मनुष्य ऊपर आता है इसी प्रकार वह भी करता है। परन्तु बार-बार यों करते-करते उसे यथार्थ सुखके स्वादका अनुभव हो जाता है। वह बड़ा ही मधुर, बड़ा ही स्निग्ध और बड़ा ही शीतल है। प्राणोंको सदाके लिये शीतल कर देता है। फिर उसके लिये जानना या समझना बाकी नहीं रहता। ऐसी अवस्था होते ही मनुष्य उस मुरलीके सुरके साथ अपने हृदयके सुरको मिला देता है। तदनन्तर वह मुरली बजानेवालेको भी पकड़ लेता है। इसके बाद ? इसके बाद क्या ? फिर तो जीवन भर रोना, सिसकना और उन्मत्त होना ही चलता है।

नारायण • घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
विकल, मूर्छा, सिसकिबो ये मगके विश्राम ॥

न मृत्युका पता रहता है, न जन्मका ; न परायेका, न अपनेका; न सुखका, न दुःखका; न भोगका, न त्यागका न हेयका, न उपादेयका ! बस, सभी कुछ उसके लिये एक अद्भुत प्रकारके हो जाते हैं। संसारके लोग उसको पागल समझते हैं ; क्योंकि उनका सुर फिर उसके साथ नहीं मिलता।

नारद की वीणा

नारद मुनिके नामसे तो प्रायः सभी परिचित हैं, उनके पास एक वीणा है। वह अखिल ब्रह्माण्डमें यत्र-तत्र सर्वत्र घूमते हैं, परन्तु साथ वीणा रहती है। लोगोंके घरमें व्याह है, खूब आमोद-प्रमोद होता है, नारद मुनि वीणा हाथमें लिए वहाँ उपस्थित हैं। और कहीं कोई मर गया है, घरमें रोना-पीटना मचा है, नारदजी पिड़ि पिड़ि वीणा वजाते वहाँ आकर उपस्थित हो जाते हैं। यह कैसा उनका बेढब स्वभाव है, वतलाओ तो? उनकी आँखमें न लाज है और न सभ्यताकी कोई परवा है। श्रीकृष्ण सोलह सौ पटरानियोंके प्रति कैसा व्यवहार रखते हैं, यह जाननेके लिए उनको इतना सिरदर्द क्यों होने लगा? आज-

कलका समय होता तो पता लगते ही अर्द्धचन्द्र लग जाता, और दीर्घकाल तक सरकारकी जेलमें हवा खानी पड़ती। इसके बाद उनकी समझ तो देखो! लोगोंके सुख-सम्पत्में वीणा बजाओ, गान करो अथवा नाच दिखाओ—यह एक प्रकारसे सहा जाता है। परन्तु जहाँ मर्मान्तक दुःखकी धारा दोनों किनारोंको बहाये लिए जा रही हो, वहाँ भी उनकी वीणा नहीं रुकती! यह क्या बाबा? ऐसी हालतमें कोई वीणा बजाता तो मैं एक डण्डेसे उसकी वीणा टूक-टूक कर देता, परन्तु? मैं तो मर रहा हूँ दुःखकी ज्वालामें, और तुमने वीणा बजा-बजाकर मेरे आँगनमें नाच जमा दिया! यह क्या सदा अच्छा लगता है, यह सह्य होता है? भाग्यसे नारद बाबा हमारी ओर कभी नहीं दीख पड़ते, नहीं तो उनको भली-भाँति वीणाकी एक गत सिखला दी जाती, जिसके सीखनेका सुयोग बाबाको और किसी युगमें नहीं मिलता।

अरे मूर्ख! नारद क्या तुम्हारे यात्रा दलके बेला बजानेवाले-के समान एक वीणा कन्धे पर रखकर समय-असमय कों-कों करते बजाते हुए घूमा करते हैं? जैसी तुम्हारी विद्या, वैसी ही तुम्हारी टनमन धारणा शक्ति! अरे वह वीणा काठकी वीणा नहीं है, और तार भी लोहा या पीतलके नहीं हैं। वह जो वीणाके तानमें दिन-रात एक किये रहते हैं, वह अजब वीणा है। भक्त कवि कहते हैं—"बिनु हाथे निश दिन फिरे, ब्रह्मध्यान सहँ होय।" इस वीणाका सुर क्या है जानते हो? समस्त विश्व-

का आनन्द ही वीणाके सुरमें बजता है। ब्रह्मानन्दकी' बात जा कानोंसे सुनते हो, यह उसीकी अभिव्यक्ति है!

इस वीणाका काठ वह काठ नहीं है। यह साढ़े तीन हाथका शरीर ही उसका काठ है। सत्व, रज और तमके तीन गुणोंके तारसे यह यन्त्र बँधा है। हम सभी इस वीणाको बजाते हैं। परन्तु ठीक बजा नहीं पाते हैं, इसीसे सुर जमने नहीं पाता, बेसुरी आवाजमें कान झनझना उठता है मनमें आता है कि बन्द कर दें तो ठीक! परन्तु जो बजाना जानते हैं, वह खूब मीठे स्वरसे बजाते हैं, सुनते ही मन-प्राण द्रवित होने लगते हैं, वह स्वर जहाँसे उठते हैं और जहाँ मिल जाते हैं या लय होते हैं, मन और प्राण भी ठीक उसी प्रकार ताल-तालपर उस अव्यक्तमें मिल जाना चाहते हैं। समस्त तारोंके एक साथ झंकृत होनेपर एक अपूर्व रागकी, एक असीम माधुर्यकी धारा बहने लगती है। भक्त कविने कैसी अपूर्व भाषामें इस स्वरका वर्णन किया है—

"राग कौन आहत बाजे, निखिल जीवन धारे।
ताल कौन लयन लेत, अभय मरन पारे॥"

जो उस्ताद हैं वे सत्व-रज-तम त्रिगुणके तारोंको इस प्रकार एकतानमें मिला देते हैं कि उसमें तीन तारोंकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती, सब तारोंका सुर एक सुरमें लय हो जाता है। ज्ञानी लोग इसको ज्ञानातीत या द्वन्द्वातीत अवस्थाके नामसे वर्णन करते हैं। योगी लोग इसे इड़ा, पिंगला और सुषुम्नाकी अतीतावस्था कहते हैं। अब समझमें आया कि नारद कौनसी वीणा

बजाते हैं ? तब फिर वह दिन-रात क्यों न बजावें ? और हमारे तुम्हारे कन्नी काटनेसे उनके उस तारका सुर बेसुरा हो जानेका कोई कारण देखनेमें नहीं आता! इसीसे तो भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

"यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।"

परन्तु इस वीणाको जो बजाते हैं वह केवल वीणा बजाकर ही समय नहीं काटते। उनके अनेकों काम हैं। परन्तु सभी काम उस वीणाके सुरमें मिलकर होते हैं। वे काम हमारे कामके समान नहीं हैं। हमारे प्रायः सभी कामोंका उद्देश्य 'अहं अभिमान' को केन्द्रित करके फूट उठता है। और उन लोगोंके काम विश्वकेन्द्रको घेर कर जाग उठते हैं, और यह विश्ववीणा बजती है उनके पादपद्मोंमें लीन होकर। इसीलिए हमारे काम क्रमशः भार होते जाते हैं, और उनके काम नित्य आनन्द-स्रोतकी कल-कल ध्वनिके साथ प्रवाहित होते रहते हैं। इसका कारण जानते हो ? और कोई कारण नहीं है, उनके काम श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे त्याग-यज्ञमें परिणत हो जाते हैं और हमारे कर्म केवल भूतका बोझा ढोकर मरनेके समान निरर्थक, व्यर्थ चेष्टामें परिणत हो जाते हैं। हमारे कामका परिणाम शोक और कष्ट होता है, और उनके काममें प्रारम्भमें दुःख नहीं होता, परिणाममें ताप नहीं होता। श्री विष्णु प्रीत्यर्थ कर्म इसको ही कहते हैं। इसका आदि, अन्त और मध्य सब आनन्दमय, शिवमय होता है।

देखो न, बेचारे दक्षको चींटीके समान पंख निकल पड़े। वह घोर आत्माभिमानमें मग्न हो गये। अब उनको दण्ड देना होगा, नहीं तो विश्ववीणाका तार कट जायगा। इसीलिए नारद बाबा दक्षको परम मित्रके समान शिवरहित यज्ञ करनेके लिए उत्साहित करके वीणा बजाते हुए वहाँसे चले और शिवजीके पास आकर उपस्थित हो गये। शिवजीके कहा—"जो होना होगा सो होगा, इससे मुझे दुःख नहीं परन्तु सतीके कानमें यह सब बात न जाय।" नारदजीने कहा—"यह कैसे होगा, सतीके सुने बिना दक्षका कल्याण भी तो नहीं हो सकता है?" इस प्रकार वीणा बजाते हुए सतीके पास जाकर नारदने सारी बातें कह डालीं। सती दक्षके गृह गयीं, देह-त्याग किया, शिवको क्रोध हुआ, और दक्षयज्ञ * विध्वंस हुआ। दक्षका दर्प चूर्ण हुआ, उनका पूर्वज्ञान लौट आया।

---

* जो सब काममें दक्ष या निपुण है, वही दक्ष है। परन्तु वह दक्ष जब शिवरहित होते हैं तो उनकी दक्षता अहंकारमें परिणत हो जाती है। अतएव सत् को धारण करनेवाली विशुद्ध सत्वमयी बुद्धि अर्थात् सतीका नाश हो जाता है। उस प्रकाशात्मिका 'धी' के ध्वंस होनेपर 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' शिव अशिव रूप धारण करके यजमानको विनष्ट कर देते हैं। परन्तु उस विनाशका उद्देश्य देह-ध्वंस नहीं, बल्कि कुमति का ध्वंस ही उसका असल उद्देश्य होता है, इसी कारण दक्ष एक बार मरकर शिवकी कृपासे पुनः जीवित हो उठते हैं।

ऐसी स्थितिमें उसे दुःख कहाँ हुआ? इसका परिणाम तो अमृततुल्य हुआ। अतएव सोचो तो कि नारदकी वीणा दिन-रात क्यों न बजे? इसीलिए वह दिनरात वीणा बजाते रहते हैं—अक्षय आनन्द है या नहीं? और देखो, कुम्भकर्ण बनमें खा-पीकर विश्राम कर रहा था, नारद आकाशमार्गसे वीणा बजाते चले जा रहे थे, कुम्भकर्णने उनको पुकारा, सत्कार किया और पूछा—"कहाँ जाना हो रहा है?" नारदने हँसकर कहा—"देवसभामें उपस्थित था, वहाँ तुम्हारे वधका परामर्श हो रहा था।" कुम्भकर्णके सामने इस प्रकार स्पष्ट, सरल और निर्भीकभावसे उसीके विनाशकी बात हँसकर सुनाना यह कोई साधारण शक्ति नहीं है। विराट् आनन्दमें निमग्न हुए बिना, क्या यह किसीके लिए सम्भव है? वीणावादनके बल पर ही नारदका यह 'परम अभय' भाव है, समझा?

परन्तु इस बार जो दक्षता प्राप्त हुई वह सांसारिक वासनाको चरितार्थ करनेके लिए नहीं, क्योंकि वह परमार्थावलोकिनी बुद्धि थी और उसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है। कुकर्म और कुवासनाके द्वारा जब सत्वगुण आच्छादित हो जाता है तब अज्ञानतममें ज्ञानरश्मि आच्छादित सी प्रतीत होती है। परन्तु मेघ मेघरूपमें चिरकाल तक सूर्यको ढँके नहीं रह सकता। वह अपनी शक्तिसे ही अपनेको जलधाराके रूपमें परिणत कर डालता है, घने मेघका आच्छादन दूर हो जाता है। तब फिर दिशाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, आकाश खुल जाता है। यह प्राकृतिक नियम है। इसी कारण हिरण्यकश्यप, रावण, जगाई, मधाई सबका ही उद्धार हुआ।

बहुतोंको परामर्श देते हैं; जहाँ जिस वस्तुका अभाव होता है, वहाँ उसकी पूर्तिके लिए वह हाथ बढ़ाये ही आते हैं। बहुतसे लोक उनके परामर्शके अनुसार कार्य करते हैं, और बहुतसे नहीं करते। इससे क्या उनको कष्ट होता है? दुर्योधनने क्या उनकी बात मानी? परन्तु इससे उनको क्षोभ नहीं हुआ; हँसते-हँसते आये थे, और हँसते-हँसते दुर्योधनके पाससे चले गये। यह सब कुछ उनके वीणा बजानेकी शक्तिसे है। गाया जाता है—"नारद मुनि करते जाते हैं वीणासे मृदु गान।" इस पदकी संगतिमें ही हम यह कह रहे हैं, नहीं तो नारदको हममेंसे किसीने देखा नहीं, और न यही हम ठीक-ठीक जानते हैं कि वह दिनरात गान करते हैं या सोते हैं, परन्तु इस कथामें एक सत्य है, यह हम समझते हैं। वह यह है कि, यदि वीणामें किसी गतका बजाना सीखते हों तो दिन-रात बजे बिना वह नहीं रह सकता। यह प्रदीप एक बार जलने पर फिर कभी-बुझनेवाला नहीं है।

एक सुन्दर वीणा हमको भी तो प्राप्त है, श्री गुरुके चरणोंका आश्रय लेकर बजाना सीखने पर न जाने कितनी राग-रागिणी परदे-परदे पर बज उठती, उदारा मुदारामें ग्राम-ग्राममें जीवन-वीणामें कितने ही राग झंकृत हो उठते—कभी भैरवी, कभी विहाग, कभी मलार, कभी भैरव विचित्रताललयसे इस चित्ताकाशको भरपूर कर देते। परन्तु हाय, यह हुआ कहाँ? "बाँसरी बजाना चाहूँ, बाँसरी बजती है कहाँ?" यह तो ठीक

है। पर इस प्रकार क्या बाँसरी बजेगी? उठ बैठो, दौड़धूप करो, एंड़ी और चोटीका पसीना एक करो, तब न होगा! आलसी बनकर सोये-सोये कड़ी गिननेसे नहीं काम चलेगा। रामप्रसाद कहते हैं—

मन तुम कृषिकर्म जानो ना।

मानव भूमि पड़ी है परती, चास करो लो सोना॥

जो जलबिन्दु सुख

सो जलबिन्दु सुख

वधू-बालिका अपने शुभ्र हृदयको जिसे समर्पण करके निश्चिन्त होती है, यौवनके प्रारम्भमें ही यदि उसका वह आश्रय-तरु सहसा मृत्युके निष्ठुर झटकेसे टूट जाय तो उसकी मनकी स्थितिका चिन्तन करते समय आँसुओंको रोकना कठिन हो जाता है। और यदि उस असहाया, आश्रयहीना विधवाके घोर अन्धकारमय जीवनमें दीपवत्तीके समान एक शिशु उसके निरन्तर दुःखदग्ध हृदयको सान्त्वना देनेके लिए विद्यमान हो, और वह अनेकों कष्ट आशङ्का और विपत्तिजालके बीचमें अनेक

असहनीय व्यथाको सहन करते हुए उस शिशुको पाल-पोसकर आदमी बना सके। और वह लड़का एक दिन दस आदमीमें एक आदमीबनकर माताके अनाश्वास मेघपूर्ण हृदयाकाशमें एक उज्ज्वल नक्षत्रके समान चमक उठे और उसको आशा और आनन्द-के आलोकसे आलोकित कर अन्तमें अल्पायुमें ही परमधामको सिधार जाय तो उस समय उस माताके हृदयके पुत्रशोकसे उत्पन्न अव्यक्त आर्तनादको प्रशमित करनेका कोई उपाय खोजनेसे भी न मिलेगा। इसका कारण क्या है, जानते हो? अज्ञताकी वेदना, अज्ञताके क्लेशको दूर करना बहुत ही कठिन होता है। जो किसी प्रकार समझ नहीं सकता, उसे कैसे समझाया जाय? जिसने शोकके उत्ताल तरंगके वेगमें अपने शरीरको बहा दिया हो, उसे तृणका आश्रय देनेसे क्या होगा? समय शोकका नाशक है, समय ही उसकी रक्षा करेगा। उस समय किसी प्रकारके उपदेशकी बात उसके कानमें न घुसेगी। परन्तु इस घटनासे हमारे चित्तमें जो एक प्रश्न उठता है उसका समाधान होना चाहिए। यदि कहो कि विधवाके एकमात्र पुत्रको हरण करके मृत्युने उसको जो एक अत्यन्त संकटापन्न अवस्थामें डाल दिया है, इसका उत्तरदायी कौन है? हो सकता है कि पूर्वकर्मोंका फल हो, परन्तु यह सुन करके तो शोक कम नहीं होता। हम दुर्बल, शोक-मोहसे ग्रस्त हैं, इसे तो वह जानते ही हैं। फिर भी इतना कष्ट पर कष्ट, इतनी परीक्षा! यह क्या भगवान्का अविचार नहीं है? इसे केवल अविचार ही नहीं, बल्कि घोर अन्याय

कहेंगे। मनुष्य क्षमा करता है, और भगवान् क्षमा करना नहीं जानते, यह कैसी बात है? हम कैसे विश्वास करें कि वह मंगलमय हैं? इतना अमंगल, इतना क्लेश, इतनी दुर्घटनाके होते हुए हम कैसे कहेंगे कि वह मंगलमय हैं, सुविचार और सर्वशक्तिमान हैं! किस उद्देश्यसे उन्होंने हमको इतनी दूर संकटावस्थामें डाल दिया है, इसमें उनका क्या मंगल अभिप्राय है, कोई बतला सकता है?

इसका उत्तर न देकर इतना तो हम जोर देकर कहेंगे कि वह मंगलमय हैं, और हैं शाश्वत अमृत वस्तु! उनमें अमंगल कहाँ? जिसमें जिस वस्तुका बिल्कुल अभाव है, उसमें उसका आरोप कैसे करेंगे? कभी उनमें अमंगलका लेश नहीं रहा, और न है, न होगा। वह सर्वदा ही शिव और सुन्दर हैं। हम उनका अभिप्राय नहीं समझ सकते; हमारी बुद्धि मलिन है, इसीसे उनका अभिप्राय हमें उलटा ही दीख पड़ता है। तैरना सीखनेमें जैसे बीचमें कभी-कभी डूबना पड़ता है, पानी पीना पड़ता है, कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु इसके कारण हम कभी तैरनेको अन्याय कहकर उसे त्याग देनेका उपदेश नहीं देते, क्योंकि वही एक दिन प्राण-रक्षाका साधन बनता है। इसी प्रकार कष्ट आने पर, चोट पड़ने पर हम कष्ट और चोटसे बचनेका मार्ग खोज सकते हैं। मृत्युके न रहने पर क्या अमृतको हम समझ सकते थे? अभावसे पीड़ित हुए बिना हम कैसे अभावग्रस्त पुरुषकी वेदनाको समझ पाते? वियोग न होनेपर क्या कभी हम संयोग-

की अभिलाषा करते ? मृत्युके डरसे डरकर शोकके तापसे सन्तप्त होकर ही तो हम सर्व शोकनिवारण मरणभयदमन प्रभुके अभय चरणोंका शरण ग्रहण करते हैं। संसारमें जिस नेत्र-श्रोत्रको लेकर हम पड़े हुए हैं, उनमें भगवान्‌के जानने-समझनेकी नाम-मात्रकी शक्ति नहीं है, यदि यह अवस्था चिर काल तक बनी रहती, तो रक्षा कैसे होती ? हम सब पत्थर-काठके समान हो जाते। इसी कारण करुणामय करुणा करके मृत्युको हमारे द्वार पर अपना दूत बनाकर भेजते हैं। अभिप्राय यह है कि—मानव, एक बार आँखें खोलकर देख, तू कौन है ? एक बार मनमें उदय हो—

> केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
> केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
> केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
> चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

किसकी इच्छासे किसके द्वारा प्रेरित होकर मन अपने विषयोंमें जाता है ? प्राण किसके द्वारा नियुक्त होकर गमन करता है ? लोग किसकी इच्छासे बात बोलते हैं ? कौन देवता चक्षु और श्रोत्रको उनके विषयोंमें नियुक्त करता है ?

संसारमें यदि आयु, यश, पुत्र, धन, सौभाग्य—सब कुछ हमको अक्षय रूपसे प्राप्त होता और हम प्रभुको न चाहते तो यह संसार नरक बन जाता। प्रज्वलित आगके कड़ाहेमें हम जलते रहते, अनन्त कालतक हम बन्धनमें पड़े रहते। उस

नरकसे 'येनोद्धृतमिदं विश्वं' उस परात्पर आत्माराम गुरुको नमस्कार। इसीसे मैं कहता हूँ कि उनमें जैसे अकल्याणप्रद कुछ नहीं है, वैसे ही अमंगलकर भी कुछ नहीं हो सकता। तब यह जो इतना शोक, दुःख, पीड़ा, मृत्यु-अभाव-अभियोग है, सो सब क्या है? यदि वह शिवमय हैं तो इतने अमंगल कहाँसे आते हैं? यदि वह ठीक शिवमय हैं, तब इतनी जो विभीषिका देखता हूँ वह उनको न चाहनेके कारण है। उनको न चाहना ही जीवनको सबसे बढ़कर दुःखद अवस्था है। रुद्रको देखना नहीं जानते, इसी कारण उनके दक्षिण मुखको न देखकर बाम-मुखको हम देखते हैं, और इसीसे हम रह-रहकर चकित हो उठते हैं, मृत्युकी छाया देखकर काँप उठते हैं। देखना नहीं आता, इसी कारण रज्जु देखते समय सर्प देखते हैं, और डरसे हृदय काँप उठता है। जिसने उनको समझ लिया है वह सुख-दुःखके भ्रमजाल, जन्म-मृत्युकी पहेलीको पार करके उनकी अपूर्व कल्याणमयी सुन्दर मूर्तिको देखकर अपने जन्म-जीवनको सार्थक करता है। उनको न समझना ही ... ा अमङ्गलकर

थी। वह सदा ही एक फटे-पुराने कपड़ेके टुकड़ेमें बहुत सा कंकड़ पत्थर इकट्ठा कर सावधानीसे बाँध रखती थी; और जिससे उसे प्रेम था उससे चुपकेसे बोलती कि इसमें तुम्हारा बहुमूल्य धन है इसे मैं तुमको दे जाऊँगी। वह जिससे बोलती वह मन ही मन हँसता, पर बूढ़ीको दृढ़ विश्वास था कि उसमें बहुमूल्य रत्न है। उसका यह भ्रम किसी प्रकार भी नहीं दूर होता था। वह बहुत दिनों तक उस कंकड़-पत्थरकी यत्नपूर्वक रक्षा करती रही। परन्तु यदि दैववश उसका वह भ्रम किसी दिन छूट जाता तो क्या उस गठरीके प्रति उसको कोई आकर्षण रहता? निश्चय ही नहीं रहता। बूढ़ीकी चित्त-विकृतिके समान जान पड़ता है हमारे मस्तिष्कमें भी एक विकृति आ गयी है। इसी कारण कितनी ही अवस्तुओंमें वस्तुभ्रम उत्पन्न होकर हमारे चित्तको भ्रान्त कर रक्खा है। इसी कारण प्राणपनसे अवस्तुओंको इकट्ठा करके हम मर रहे हैं तथा उनकी रक्षा करनेकी चेष्टामें इतना व्याकुल होकर घूम रहे हैं।

तुम कहोगे कि इसी भ्रममें जगत् जुटता है। सो ठीक है, जगत्का जुटना ही तो भ्रम है, परन्तु फिर भी यह भ्रम ही है, इस बातको स्वीकार करना पड़ेगा। माता जब शिशुको रोग-शमनके लिए नियममें बाँधे रखना चाहती है, तब वह नियम शिशुके लिए उतना सुखद नहीं होता, यह ठीक है, परन्तु फिर उसके ही मंगलके लिए वह कठोर विधान होता है। इसे क्या हम अस्वीकार कर सकते हैं? परन्तु शिशु इस बातको समझता

नरकसे 'येनोद्धृतमिदं विश्वं' उस परात्पर आत्माराम गुरुको नमस्कार। इसीसे मैं कहता हूँ कि उनमें जैसे अकल्याणप्रद कुछ नहीं है, वैसे ही अमंगलकर भी कुछ नहीं हो सकता। तब यह जो इतना शोक, दुःख, पीड़ा, मृत्यु-अभाव-अभियोग है, सो सब क्या है? यदि वह शिवमय हैं तो इतने अमंगल कहाँसे आते हैं? यदि वह ठीक शिवमय हैं, तब इतनी जो विभीपिका देखता हूँ वह उनको न चाहनेके कारण है। उनको न चाहना ही जीवनकी सबसे बढ़कर दुःखद अवस्था है। रुद्रको देखना नहीं जानते, इसी कारण उनके दक्षिण मुखको न देखकर बाम-मुखको हम देखते हैं, और इसीसे हम रह-रहकर चकित हो उठते हैं, मृत्युकी छाया देखकर काँप उठते हैं। देखना नहीं आता, इसी कारण रज्जु देखते समय सर्प देखते हैं, और डरसे हृदय काँप उठता है। जिसने उनको समझ लिया है वह सुख-दुःखके भ्रमजाल, जन्म-मृत्युकी पहेलीको पार करके उनकी अपूर्व कल्याणमयी सुन्दर मूर्तिको देखकर अपने जन्म-जीवनको सार्थक करता है। उनको न समझना ही सर्वापेक्षा अमङ्गलकर है। उनको पहचाने बिना, समझे बिना, हम किस प्रकार विपत्ति-के भँवरकी रचना करते हैं, किस प्रकार अलीक, मिथ्या, भ्रान्त चिन्तामें विमुग्ध होकर शून्याकाशमें गन्धर्व नगरकी सृष्टि कर बैठते हैं, तथा व्यर्थ ही नाना प्रकारके कष्टोंमें पड़ते हैं, इसका एक दृष्टान्त यहाँ दे रहा हूँ। एक गाँवमें एक अत्यन्त बूढ़ी स्त्री थी। बूढ़ी होनेके कारण उसके मस्तिष्कमें कुछ विकृति आ गयी

थी। वह सदा ही एक फटे-पुराने कपड़ेके टुकड़ेमें बहुत सा कंकड़ पत्थर इकट्ठा कर सावधानीसे बाँध रखती थी; और जिससे उसे प्रेम था उससे चुपकेसे बोलती कि इसमें तुम्हारा बहुमूल्य धन है इसे मैं तुमको दे जाऊँगी। वह जिससे बोलती वह मन ही मन हँसता, पर बूढ़ीको दृढ़ विश्वास था कि उसमें बहुमूल्य रत्न है। उसका यह भ्रम किसी प्रकार भी नहीं दूर होता था। वह बहुत दिनों तक उस कंकड़-पत्थरकी यत्नपूर्वक रक्षा करती रही। परन्तु यदि दैववश उसका वह भ्रम किसी दिन छूट जाता तो क्या उस गठरीके प्रति उसको कोई आकर्षण रहता? निश्चय ही नहीं रहता। बूढ़ीकी चित्त-विकृतिके समान जान पड़ता है हमारे मस्तिष्कमें भी 'एक विकृति' आ गयी है। इसी कारण कितनी ही अवस्तुओंमें वस्तुभ्रम उत्पन्न होकर हमारे चित्तको भ्रान्त कर रक्खा है। इसी कारण प्राणपनसे अवस्तुओंको इकट्ठा करके हम मर रहे हैं तथा उनकी रक्षा करनेकी चेष्टामें इतना व्याकुल होकर घूम रहे हैं।

तुम कहोगे कि इसी भ्रममें जगत् जुटता है। सो ठीक है, जगत्का जुटना ही तो भ्रम है, परन्तु फिर भी यह भ्रम ही है, इस बातको स्वीकार करना पड़ेगा। माता जब शिशुको रोग-शमनके लिए नियममें बाँधे रखना चाहती है, तब वह नियम शिशुके लिए उतना सुखद नहीं होता, यह ठीक है, परन्तु फिर उसके ही मंगलके लिए वह कठोर विधान होता है। इसे क्या हम अस्वीकार कर सकते हैं? परन्तु शिशु इस बातको समझता

नहीं है, इसी कारण रोता है। यह भ्रम है। विपस्फोटक अस्त्र-चिकित्साके बिना अच्छा न होगा। तुम अस्त्र प्रयोग करने दोगे नहीं। तुम समझते हो चिकित्सक अत्याचार कर रहा है। क्या यह भ्रम नहीं है? इस भ्रमके छूटे बिना हमारा दुःख दूर न होगा। जो दुःख अवश्यम्भावी है, उसके लिए चिन्ता करके व्याकुल होनेसे तो कोई लाभ नहीं है। जगत्में बहुत दुःख है, यह ठीक है; परन्तु उसके प्रतिकारका उपाय भी तो है। अवश्य ही कुछ ऐसे दुःख हैं, जो अपरिहार्य हैं। उनके प्रतिकारकी चेष्टा न करके उनको सहन करनेकी चेष्टा करना ही उत्तम परामर्श है। परन्तु जो सत्य नहीं है उसे सत्य समझकर काल्पनिक दुःखमें पड़ें तो वह दुःख कौन दूर करेगा? जिसको रखनेका कोई उपाय नहीं है, जो जानेवाला ही है, उसको पकड़ रखनेकी चेष्टा करना ही मूर्खता है। पेड़की छाल गिर जाती है, वस्त्र पुराना होनेपर फट जाता है, बहुत दिनोंका पुराना घर धराशायी हो जाता है, इसी प्रकार शरीरको भी एक दिन छोड़कर चला जाना पड़ता है। इसके सहस्रों प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल चुके हैं। फिर भी यदि पागलके समान हम रोवें तो मेरे पास इसका उपाय नहीं है। परन्तु एक बात विचारणीय है, इस समस्त क्षणभंगुर नश्वर वस्तुके भीतर एक चिरन्तन अविनश्वर तत्त्व है, उसको समझनेकी चेष्टा करने पर इन सारी स्वप्नवत् वस्तुओंमें वैसा आकर्षण नहीं रह जाता। निश्चय ही देहके नष्ट होनेपर वह नष्ट नहीं होता, सत्य वस्तु वही है जिसका कभी विनाश न हुआ है

और न होगा। इसको यदि जाननेकी हम चेष्टा नहीं करते, और इस नश्वर शरीरको पकड़े रहना चाहते हैं तो यह मोह कैसे दूर होगा ? सुख-दुःखका द्वन्द्व भी बना रहेगा, और साथ ही जन्म-मरणके त्राससे निरन्तर व्याकुल रहना पड़ेगा। इसीलिए श्रुतिने उपदेश दिया है कि,

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' मनुष्य इस जीवनमें यदि उस आत्मस्वरूपको जान लेता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है, और इस लोकमें यदि ब्रह्मस्वरूपको नहीं जान पाता, तो उसका महाविनाश या महा अनिष्ट होता है। भक्त कहता है,

जानेवालेको जाने दो, पकड़े मत रहना।
घरसे बाहर खड़ा हुआ तो, उसको आने देना॥
रहना चाहे उसको तू सर्वस्व लगा आसन देना।
सुखके घरमें आग लगाना नाच नाच हँसना।
जीवन मरण प्राणरत्न धन दिलमें दे रखना॥

ऐसा न करके यदि कल्पनाके जालमें फँसकर हम दुःख भोगते हैं, तो उससे हमें कौन छुड़ावेगा ? निश्चय ही किसीको भी इस प्रकार व्यर्थ दुःख भोगते देखकर हमें दुःख होता है, परन्तु उस दुःखको हम दूर नहीं कर सकेंगे। हमारी वास्तविक कमी तो पूरी हो सकती है, और यदि कोई कमी नहीं है, और कमी समझकर रोते हैं तो उस रुदनको रोकना कठिन है। हम जो यह सोचते हैं कि हमारा सर्वस्व चला गया, परन्तु हमारा

जो सर्वस्व है वह क्या कभी जा सकता है ? हम नहीं जानते कि हमारा सर्वस्व क्या है, हम सबका सर्वस्व क्या है ?

"यदर्चिमद यदणुभ्योऽणु च
यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेध्यं सोम्य विद्धि ।
य सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमम्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥"

"मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥"

जो दीप्तिमान् अर्थात् प्रकाशक हैं, जो अणुसे भी अणु हैं अर्थात् सूक्ष्मतम हैं, जिससे भू: आदि सप्तलोक तथा उनके निवासी प्रतिष्ठित हैं, वही अक्षर ब्रह्म है । वह जीवका प्राणस्वरूप है, वही वाक् शक्ति और मन है, वही सत्यस्वरूप, अमृतस्वरूप परब्रह्म है । हे सौम्य, उसे विद्ध करना होगा अर्थात् उसमें मन समाहित करना होगा, इसे जान लो ।

वही मनोमय प्राण और शरीरके नेता हैं, वह अन्नमय देह और बुद्धिको स्थापित करके प्रतिष्ठित हो रहे हैं । वह आनन्द और अमृत रूपमें प्रकट हो रहे हैं । विवेकी जन विशिष्ट ज्ञान

द्वारा, क्रियाकी तरावस्था द्वारा उस आत्मस्वरूपका प्रत्यक्ष करते हैं।

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्द्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठम्। मुण्डक०।

यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही सामने है, पश्चात् है, दक्षिण है, उत्तर है, ऊर्ध्व और अधोदेशमें प्रसृत है, व्याप्त है, यह विस्तृत जगत् जडरूपमें दृष्ट होनेपर भी ब्रह्म ही है। यह अन्तरात्मा ही हमारा सर्वस्व तथा सर्वापेक्षा श्रेष्ठ धन है। क्यों उसे हमने पहचाना नहीं? जिसके न रहने पर कुछ रहता नहीं, जिसको पृथक् कर देनेपर मैं-तू, पुत्र-कन्या, अर्थ-ख्याति सब मिथ्या है, सब कल्पना है! उस आत्माको हमने प्राप्त नहीं किया, जाना नहीं, फिर भी हमारे हृदयमें इसके कारण कोई कसक क्यों नहीं होती।

आत्माके होनेके कारण ही इस चराचर विश्वके अस्तित्व का हम अनुभव करते हैं। वही सबका अपना आप है, वह आत्मा ही सबके अत्यन्त अन्तरतम हैं, तथा सबके सर्नेम्बभूत हैं। इसे क्या हमने विचार कर देखा है? वह क्या है, कहाँ है, उसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—इसे जाननेके लिए हमने क्या कोई चेष्टा की है? जो अन्धकारसे आकर अन्धकार ही में अदृश्य हो गया, कभी जिसे देखा नहीं, जिसके संग कोई परिचय नहीं हुआ, उसके लिए फिर शोक क्यों करें? जिसके साथ परिचय हुआ यह देह तो है ही। देह जब रह ही जाता

है तो हम रोते हैं किसके लिए? जिसके लिए रोते हैं वह तो अनचीन्हा—और अनजाना है परन्तु फिर भी हम रोते हैं, रोना वह सुनते हैं। उस अनजानेके रहे विना, इस ज्ञात वस्तुका एक कौड़ी भी मूल्य नहीं रहता, इस बातको हम भीतर ही भीतर समझते हैं। इसलिए उसको न जाननेपर भी उसके लिए रोते हैं। यहीं हम भारी भूल करते हैं। वस्तुतः जिसके लिए हम रोते हैं। उसका परिचय होनेपर हम जान जाते कि वहाँ रोनेका कोई कारण नहीं है जिसके अभावके लिए हम रोते हैं, उसका कभी न अभाव हुआ और न होगा। वह सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान है। इस सत्य बातको न जानकर यदि हम रोते हैं तो वह रोना मिथ्याके लिए है, और उसको रोकना किसीके वशकी बात नहीं है। यह जो मैं-तू जीव जात संकुल जगत् प्रपञ्च है, यह कहाँसे आता है और कहाँ जाता है, इसकी कुछ खबर रखते हो? समुद्रके वक्षःस्थल पर असंख्य बुदबुद उठते हैं मिटते हैं, इसी प्रकार असंख्य जीवोंके समूह उसीसे उठते हैं और उसीमें मिट जाते हैं। कोई बुदबुद उठकर जिस प्रकार समुद्रके अवयवको कुछ भी बढ़ा नहीं सकता, तथा मिटकर सागरकी गंभीरता और सीमाका ह्रास नहीं कर सकता, उसी प्रकार परमात्मा अपनी महिमामें आप पूर्ण है, असंख्य जीवोंके सतत जन्म-मरणसे उनकी कोई हानि नहीं हो सकती। वे उनके ही भीतर उठते हैं और उनमें ही मिट जाते हैं। जो लोग इस रहस्यको जानते हैं उनके सामने जन्म और मरणका

कोई विशेष मूल्य नहीं परन्तु हम जो एक मिथ्याको केन्द्र बनाकर अपनी कल्पनाओंके चक्रको घुमाते रहते हैं, वह स्वप्न हमारा जब फट्से टूट जाता है, तो उससे केवल हमारी तन्द्रा भंग हो जाती है, वास्तविक कोई हानि नहीं होती। परन्तु स्वप्नलब्ध वस्तुको जो यथार्थ समझकर उसके लिए रोना-पीटना करते हैं, वह केवल बालकका दुराग्रह मात्र है।

अच्छा, रोना न सही, हँसू कैसे? हँसी तो आ ही नहीं सकती। क्यों नहीं हँसोगे, दिल खोलकर हँसो। इस अद्भुत् रङ्गको देखकर किसे हँसी नहीं आयगी? अंधेरेमें मधू भाईको भूत समझकर छाती धुक्-धुक् करने लगी। और जब उन्होंने खँखारा, तो मैंने समझा कि भूत कहाँसे आयगा, यह तो हमारे मधूभाई हैं! तब भय दूर हो गया, प्राण निश्चिन्त हो गये, और मधूभाईको भूत मान कर डरनेपर हँसी आ गयी! कैसी भूल मैं कर रहा था, इसे सोचकर ही हँसी आयी। और भी एक बात हुई, वह हँसी नहीं, आनन्द था। यह सोचकर कि कोई वस्तु नहीं थी, भय दूर हो गया, अथवा आनन्दप्राप्तिका आनन्द, परिचयका आनन्द, जो वस्तु जैसी थी उसको वैसा जाननेका आनन्द—अर्थात् एक परमानन्द हुआ। लड़का भूल गया है, बहुत दिनसे रोते-रोते रास्ते-रास्ते भटक रहा हूँ। क्रमशः महीने बीते, साल बीता—पन्द्रह सोलह वर्ष बीत गये। उसके बाद तो वह खोया हुआ लड़का कितनी ही बार सामने आता है, कितनी ही बार उसको देखता हूँ, परन्तु पुत्ररूपमें उसको नहीं पहचानता, अतएव पुत्र

वियोगका शोक दूर नहीं होता। उसके बाद एक दिन परिचय हो गया, चिह्न मिलाकर देखा। इस प्रकार उसे पुत्र रूपमें प्राप्त किया। उसमें बहुत परिवर्तन हो गया था, परन्तु उसे पाकर प्राण शीतल हो गया। इसी प्रकार आँखोंके सामने वह रहते हैं, पास-पास घूमते हैं; परिचय नहीं है, इसी कारण रास्ते-रास्ते रोते हुए भटक रहा हूँ। जैसे ही परिचय होता है वैसे ही उनको उसीरूपमें जान लेता हूँ, और इस प्रकार मनमें होता है कि इस बार खोया हुआ धन मिल गया! परन्तु वह तो प्राप्त ही था, नयी कौनसी वस्तु मिली? यह प्राप्ति और कोई वस्तु नहीं है, परिचय होनेका नाम ही प्राप्ति है। वस्तुका परिचय होनेसे ही वस्तुज्ञान होता है, तब आँखें खुल जाती हैं, भ्रम दूर हो जाता है। इसके आगे एक और वस्तु है, वह है उनका आनन्द। यह विश्वकी अभिव्यक्ति तो उन्हींकी अभिव्यक्ति न है, या और कुछ है? यह अभिव्यक्ति ही उनका आनन्द है। इस आनन्दमें, अभिव्यक्तिमें चौदहों भुवन भरपूर हैं। (जो कुछ व्यक्त हो रहा है, वह उनकी ही अभिव्यक्ति है, उनके सिवा और किसीकी अभिव्यक्ति नहीं।)

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ (कठ)

जिस प्रकार एक ही अग्नि भुवनमें प्रविष्ट होकर काष्ठ आदि

प्रत्येक रूपके सदृशरूप धारण कर रही है। उसी प्रकार सर्व-भूतान्तरात्मा एक होकर भी देहादि भेदसे तत्तद् वस्तुके समान रूप धारण कर रहे हैं और उनसे बाहर भी पृथक् होकर निर्लिप्त भावसे विद्यमान हैं। इसको जान लेने पर आनन्दकी सीमा नहीं रहती। यही आनन्दकी क्रीडा है, यही आनन्दका महा-महोत्सव है। इस आनन्दमें कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। इस आनन्दके खेलमें स्वयं खेलाडो बनना होगा, तभी यह आनन्द समझमें आयगा। यदि हम बाधा डालेंगे तो उनके आनन्दमें विघ्न होगा नहीं, उलट हमारा सारा जीवन निरानन्दसे भर जायगा। उनके आनन्दमें ही हम लोगोंको आनन्द मिल सकता है, उससे पृथक् हमें सुख नहीं मिल सकता। यदि पृथक् रहनेके अभिमानको हमने त्याग दिया तो हमारा सारा काम पूर्ण हुआ समझो! नदी जब समझती है कि समुद्रके साथ मिलना ही उसका यथार्थ अस्तित्व है, अन्यथा वह सूख जायगी तब वह अपने लिए विशेष हैरान नहीं होती, बल्कि वह आत्मसमर्पणके विचारसे समुद्रसे मिलनेके लिए दौड़ पड़ती है। समुद्रमें आत्मसमर्पण करने पर नदीका नाम-रूप मिट जाता है, परन्तु समुद्रके साथ मिलनके आनन्दको याद करके वह अपनेको विच्छिन्न करके नाम-रूपमें अटका रखनेकी इच्छा नहीं करती। नदी-जीवनकी यही चरम सार्थकता है! दिन रातमें मिलता जा रहा है, और रातदिनमें मिलती जा रही है। जन्म मृत्युमें प्रवेश कर रहा है, और मृत्यु जन्मके प्रकट

भगवत्कृपा

'भगवत्कृपा' बहुत ही प्रबल और सुस्पष्ट है। उसकी सर्वत्र मधुरता हो, ऐसी बात नहीं। बीच-बीचमें माधुर्यका विस्तार है ठीक, परन्तु उसकी भीषणता और प्रचण्डताका विचार करने पर समय-समयपर हृदय काँप जाता है। आज हम आराम कुर्सी पर बैठकर चर्व-चूष्य-लेह्य और पेय पदार्थोंसे पेट भर कर दुर्भिक्ष पीड़ित बंगालके विषयमें यदि आलोचना करें, तो दुर्भिक्षका यथार्थ रूप हमारे सामने व्यक्त न हो सकेगा। दुर्भिक्ष में क्या क्लेश होता है, उसकी तीव्रताका अनुभव करना अनशन का क्लेश उठाये बिना संभव नहीं है। तथापि हम जो समाचार पत्रोंमें पढकर शोक प्रकाशन करते हैं, या दुर्भिक्ष फंडमें दान

दूरसे उसको देखो, बुढ़ियाको देखनेसे भयके हाथसे छुटकारा मिल जायगा। वह देखो बुढ़िया क्या बड़बड़ा रही है ? कैसी सुन्दर, कैसी मधुर, दिलको ठंडा करने वाली बात है !

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
"प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥"
"गतिर्भर्त्ता प्रभु· साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।"
"सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।".
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिहप्रवृत्तः ।
"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।"

अरी मेरी दादी, अरी त्रिलोकजननी तुम अपने चोरको एक बार छिपा लो ! तुम्हारा शुभ्रकेश, शुभ्रवेश, वराभय कर, मृदुल हास्य इस त्रस्त, भीत, व्याधिपीडित व्याकुल चित्तको एकवार अभय वर दो ! तुम वर्तमानमें हो, अतीतमें तुम्हीं हो और भविष्य में भी तुम रहोगे—इस त्रिपादमें तुमने विश्वको व्याप्त कर रक्खा है। यह त्रिपाद एकका ही पद है, इस बातको एकवार हमारे हृदयमें अपने पादपद्मको स्थापित करके समझा दो ! एकबार 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्' —यह कह कर हमारे विमूढ चित्तको सान्त्वना दो ! तुम्हारे पादस्पर्शसे जीवत्व छूट जाय, और शिवत्वकी प्राप्ति हो ! जय मां आनन्दमयी !!

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः ! ॐ शान्ति· !

भगवत्कृपा

'भगवत्कृपा' बहुत ही प्रबल और सुस्पष्ट है। उसकी सर्वत्र मधुरता हो, ऐसी बात नहीं। बीच-बीचमें माधुर्यका विस्तार है ठीक, परन्तु इसकी भीषणता और प्रचण्डताका विचार करने पर समय-समयपर हृदय काँप जाता है। आज हम आराम कुर्सी पर बैठकर चर्व्य-चूष्य-लेह्य और पेय पदार्थोंसे पेट भर कर दुर्भिक्ष पीडित बंगालके विषयमें यदि आलोचना करें, तो दुर्भिक्षका यथार्थ रूप हमारे सामने व्यक्त न हो सकेगा। दुर्भिक्ष में क्या क्लेश होता है, उसकी तीव्रताका अनुभव करना अनशन का क्लेश उठाये विना संभव नहीं है। तथापि हम जो समाचार पत्रोंमें पढकर शोक प्रकाशन करते हैं, या दुर्भिक्ष फंडमें दान

देते हैं, अथवा पड़ोसियोंसे कुछ संग्रह करके दुर्भिक्षपीड़ित देशमें भेजकर सहानुभूति प्रकट करते हैं, उसमें अधिकांश कल्पना और कवित्व होती है। मैं यह नहीं कहता कि वह सहानुभूति सोलहो आने मिथ्या होती है। हमें जब भूख लगती है तब हम घरमें जो कुछ रहता है उसीको लेकर अपनी सोलह आने भूख दूर करते हैं। अपनी भूख मिटाने के लिए किसी-के परामर्शकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सहायताकी जरूरत नहीं पड़ती। सोलहो आने हम स्वयं व्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार दूसरोंका दुःख दूर करनेकी तभी सोलहो आने इच्छा उत्पन्न होती है जब हम उसके दुःखको पूर्णरूपसे अनुभव करते हैं। पूर्ण अनुभव कर सकने पर ही पूर्ण अनुभूति होती है। तब हम दो चार पैसे देकर अपने कर्त्तव्यको पूरा नहीं करते, और न चन्दे की रसीदबही लेकर घर-घर घूमकर लोगोंको हैरान करते हैं। समर्थ हृदयवान् व्यक्ति पहले ही चन्दाकी रसीदबही लेकर घर-घर नहीं जाता। वह सबसे पहले अपना सर्वस्व लुटा देता है। तब प्रयोजन होने पर दूसरोंके द्वार पर हाथ पसारने जाता है। वस्तुतः जो अपना सर्वस्व नहीं दे सकता, वह दूसरोंको उस कार्यका भार उठानेके लिए अनुरोध नहीं कर सकता। कार्यको उठाना या सुविधा-असुविधा देखना असल वस्तु नहीं है। असल वस्तु तो है हृदयका निस्वार्थ निष्काम भाव। यदि उसका विकास नहीं हुआ तो उसे अकर्म ही कहेंगे।

संन्यास या त्यागमें जो अभ्यस्त हैं, वह भगवत्कृपाकी मर्यादाको नहीं समझ सकते। मैं विपदमें पड़ा और उन्होंने विपद से मेरा उद्धार कर दिया—इसमें ही जो भगवत्कृपाकी पराकाष्ठा देखता है वह नितान्त ही दीनात्मा है। क्योंकि ऐसा भी समय आता है, जब प्रार्थना करने पर भी विपद्के आघातसे उद्धार नहीं होता। विपदसे उद्धार या मनोकामना की पूर्ति ही यदि उनकी कृपाका लक्षण है, तो ऐसी स्थितिमें मनुष्यका मन विद्रोह नहीं करेगा, यह कोई नहीं कह सकता। सुख-दुखमें सदा ही जिनका चित्त स्थिर होता है, वे ही उनकी कृपाका अनुभव कर सकते हैं। भगवान्के लिए भक्तके चित्तमें ऐसा प्रबल आकर्षण उत्पन्न होता है कि उसको पानेके लिए वह किसी भी विपत्तिको विपत्ति नहीं समझता। जिसका हृदय भयङ्कर-क्षुधासे कातर हो रहा हो वह विना उसकी पूर्ति किए कैसे मान सकता है? भक्त भगवान् और संसारके साथ समझौता नहीं कर सकता। वह जब भगवानको चाहता है तो सोलहो आने प्राणपनसे उनको चाहता है, संसारको प्राप्त करनेके लिए लोलुप दृष्टिसे नहीं देखता। संसार रहे या जाय उसकी वह कुछ परवा नहीं करता। भगवान्के लिए भक्के मनमें कितनी व्यग्रता होती है? जैसे माताके लिए शिशुके हृदयमें होती है। शिशुको यदि माँ मारती है, तब भी वह माँ को ही अकड़कर पकड़ता है, उसे छोड़कर उसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती। भक्त भी भगवानसे ऐसा ही प्रेम करते हैं। "उनके हाथसे वेदना-

का दान' पाकर वह कभी विचलित नहीं होते ; अथवा उनके बिना रह नहीं सकते। इसका ही नाम अहैतुक प्रेम है। भगवान्‌की भक्ति करते ही एकबारगी विपद्-आपदसे त्राण मिल जायगा, ऐसी बात नहीं है। हो सकता है कि ऐसा आकस्मिक और लगातार विपद का बवंडर उठ खड़ा हो जाय कि वास्तविक भक्तके लिए उसको धैर्यपूर्वक सहन करना असंभव हो जाय। परन्तु वास्तविक भक्त दुःखमें अनुद्विग्न और सुखमें विगतस्पृह होता है। अतएव बारम्बार विपत्ति पड़नेपर भी उसका धैर्य नहीं छूटता। यदि समस्त जीवनमें यह विपदका बवंडर तनिक भी शमन नहीं हो तो भी भक्त उनकी कृपामें तनिक भी सन्देह नहीं करता है। इसीलिए हाफिज कहते हैं कि—"यदि बन्धुजन कृपा करके कहें कि इन प्रेमियोंको आगके सुपुर्द करो, और मैं क्षणमात्रके लिए 'कौसर' नामक स्वर्गीय सुधा-सरोवरकी ओर दृष्टिपात करूँ तो मेरे जैसा अन्धा और अभागा कोई न होगा।" भक्त सम्पद्‌में जिनकी मूर्ति देखकर सन्देहशून्य रहते हैं, विपद्‌में भी विश्व-विमोहिनी उनकी मुखश्रीको देखकर निःसंशय रहते हैं! परन्तु भगवान्‌की कृपा समय-समयपर कैसा भीषणरूप धारण करती है, उसका स्मरण होते ही चित्त आतङ्कित हो जाता है। प्रह्लादको आगके कड़ाहेमें डालते हैं; वह उस समय भी अपने प्राणनाथको आत्मसमर्पण करते स्थिर रहते हैं। यह कितना गंभीर विश्वास और दृढ़ निर्भरताका परिचायक है, इसका विचार करने पर स्तम्भित होना पड़ता

है। एक अंगुलिका कोना जल जाने पर, हमारा चित्त कैसे व्याकुल हो उठता है। और ठीक हमारे ही जैसा एक प्राणी भगवान्‌के प्रेममें तल्लीन होकर जान-बूझकर जब ऐसी भयङ्कर यातनाको स्वीकार करता है तब उसके चित्तकी एक असाधारण अनुपम शक्तिके प्रभावको देखकर विस्मित होना पड़ता है। भक्तकी इस महिमा और मनोबलको हम अभक्त क्या समझें? जो लोग नित्य आरामकी खोजमें घूमते हैं, थोड़ा भी कष्ट जिनको असह्य हो जाता है, वे कभी धर्मराज युधिष्ठिर अथवा भगवान् रामचन्द्रके वनवासके कष्टकी कल्पना भी नहीं कर सकते। परन्तु जो भगवान्‌में विश्वास करते हैं, वे कभी अपने-को भूलकर अधीरता नहीं प्रकट कर सकते। कल्पनाके जोरसे या पोथी पढ़कर मनुष्यको यह प्रबल तितिक्षा नहीं प्राप्त होती यह तो उसीको प्राप्त हो सकती है जिसको उसने वरण किया है, जिसने सत्य-स्वरूपको अपने हृदय-गुफामें प्रत्यक्ष अनुभव किया है। ध्रुव, प्रह्लाद, नारदादि भक्तोंके जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होंने भगवान्‌के लिए कितना कष्ट उठाया, कितनी तपस्या की, भूरि-भूरि दुःख-भार उन्होंने भगवान्‌के आशीर्वादके रूपमें ग्रहण किया—वे सुखमें जैसे रहे, दुःखमें भी वैसे ही रहे। एक साथ संशयहीन, प्रशान्त और प्रसन्न! ऐसे भी अनेक जीवन हैं जिनका अदृष्टाकाश दुःखके मेघसे आच्छन्न रहा, एक दिन भी सुखका सूर्य उदित न हुआ। कष्ट पर कष्ट, यन्त्रणा पर यातना का अन्त नहीं। तब भी उन्होंने प्रभुके ही चरणकमलको मन

और प्राणमें प्रतिष्ठिति कर रक्खा। एक दिनके लिए भी धैर्यच्युत
न हुए। क्योंकि उनके चरणकमलको छोडकर उनका मन और
किसी ओर नहीं गया। अविश्वासी और अल्प विश्वासी लो
सोच सकते हैं कि, "अहा! इस प्रकारके साधुपुरुषोंके जीवन
ऐसा कष्ट क्यो हुआ? जीवन-भर इस प्रकारका दु ख उठानेक
कुअवसर क्यों आया? यह भगवान्‌की क्या लीला है? अथव
यह उनके पूर्वजन्मके किए कर्मोंका फल था?" परन्तु यह उनक
न तो कर्मफल था, और न भगवान्‌ने ही उनको दु ख दिया
कर्मफल न होनेका कारण यह है कि, जब हृदयमें यथा
भगवत्प्रेमका सञ्चार होता है तब कर्म दग्ध हो जाता है, अतए
उसका फल कहाँ से होता? भगवान्‌का दु ख देना भी ठी
नहीं, क्योंकि इसमें कोई भगवत्प्रयोजन नहीं दीखता। तथा
भक्तोंके जीवनमें जो इस प्रकार निरतिशय दु ख प्रकटित हो
हैं, वह उनके कल्याणके लिए ही होते हैं। आलोक और अन्ध
कार न रहने पर जैसे दर्शन कार्य असम्भव हो जाता, उ
प्रकार भक्त उनको पूर्णत नहीं देख पाता, यदि सुख-दुख
भीतरसे उनको नहीं देखता। जो आनन्द-स्वरूप हैं व
'भीषण भीषणानाम्' हैं—अतएव जो सुख स्वरूप हैं, दु ख
उन्हींकी मूर्ति है—इसको देखे विना उनको पूर्णरूपसे देख
कैसे होगा? भक्तके ऊपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् भक्त
सामने अपने पूर्ण रूपको प्रकट करके दिखलाते हैं तभी भक्त
सामने उनके दोनों विभाव प्रकट होते हैं। इसीसे भक्त भगवान

पूर्णत' पहचान सकता है। साधारण लोग भगवान्को केवल एक ओरसे देखते हैं। इसीसे वे सुखकी मूर्ति देखकर जैसे हँस उठते हैं, दु ख देखकर वैसे ही काँप उठते हैं। एक मूर्तिमे तो आश्रय लेता है और दूसरीसे उनका चित्त भाग खड़ा होता है। जो भक्त हैं वे सुख और दु ख दोनोंमें देखते हैं कि ये दोनों अवस्थाएँ जिनके अवलम्बनसे प्रकट हो रही हैं वह भक्तोंके प्राण-वल्लभ हैं। अतएव भक्त दु खसे द्वेष नहीं करता, और सुखमें अत्यधिक लोलुप नहीं होता। दक्षिण हाथ जिनका है वाम हाथ भी उन्हींका है, भक्त दिव्यचक्षुसे इसको देखते हैं। और देखते हैं इसी कारण शोक नहीं करते। भक्तको देखकर ही तो हमारे मनमें भगवानके प्रति विश्वास होता है। भक्त अपार दु ख-समुद्रमें मग्न होनेपर भी भगवान्को नहीं भूलता। भगवान् भी रुद्र रुप धारण करके प्रकट होते हैं, पर भक्तको नहीं भूलते। भक्त हृदयके सरस सौरभमें जब उसका मन मुग्ध हो जाता है तब भगवान्के पादपद्ममें वह लोटने लगता है। तभी हम देखते हैं कि बत्तीस बाजारोंमें बेंत खाकर भी भक्त हरिदास अपराधीके अपराधको भुला देनेके लिये ही व्यग्र हैं। पश्चात् भक्तको दु खसे व्यथित देखकर भक्तवत्सलमें रोषका संचार होता है। इसीसे वह उसके लिए भगवान्से इस प्रकार क्षमा माँगते हैं, मानों उन्होंने स्वयं ही अपराध किया हो। भक्त भगवान्को पुकार कर यातनासे बच जायगा, ऐसी बात नहीं है। साधारण लोगोंके दु ख भोगके साथ इस दु खमें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु वे

उसे धैर्यके साथ सहन कर सकते हैं, और पीड़ा देनेवालेको क्षमा भी कर सकते हैं, यही भक्तकी विशेषता है। भक्तकी यह सहन शक्ति उनकी चरणकमल-सेवाका ही फल है! यह और किसी दूसरे कारणसे नहीं हो सकता। भागवतमें ऋषि बोलते हैं—

> तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि।
> नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि॥

भगवान्ने भक्तको जिस भक्तिका आस्वादन दिया है उसमें ही भक्त विभोर है, तन्मय है; प्रभु भी सेवक के लिए निश्चिन्त हैं। भक्त कभी यह प्रार्थना नहीं करते कि 'विपदसे मुक्त करो!' यदि कभी कुछ प्रार्थना करते भी हैं तो केवल इतना कहकर— "अविस्मृतिस्त्वच्चरणारविन्दे भवे भवे मेऽस्तु तवप्रसादात्।" भक्त कहते हैं, "मेरे प्रति क्षणभर ठहरनेके लिए तुम्हें कितना कष्ट उठाना पड़ता है, यह सोचकर मैं लज्जासे मर जाता हूँ, और प्रभो! मैं प्रार्थना कैसे करूँगा?"

भक्तका विश्वास इतना गंभीर, और हृदय इतना उदार होता है कि वह कहते हैं—

> जीव-दुःख देखि देखि हृदय मोर बिदरे।
> जीव-पाप देखि प्रभु देह मोर सिहरे॥
> जीवोंके पाप ले मरूँ करि नरक-भोग।
> सकल जीवोंके छुड़ावो प्रभु भव रोग॥

भक्त प्रह्लाद भगवान्से कहते हैं—"तुम्हारे पराक्रमके आनन्द-

में मेरा मन मग्न है अतएव अपने लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है। ये असुर बालक भगवद्विमुख हैं, इनके लिए कुछ उपाय न हुआ तो मैं अकेले अपने लिए मुक्ति नहीं चाहता।" भक्त रोकर अपने प्रभुसे कहते हैं, "हमारे हृदयके समस्त रक्तकुण्डको रिक्त करके यदि एक आदमी के खड़ा होने योग्य स्थान भी शीतल हो जाय तो हमारे रक्तसे धरणीको रञ्जित हो जाने दो।" इस प्रकार महिमान्वित वाणी भक्तके ही उपयुक्त है। भगवत्कृपाके विषयमें भक्तको उसी प्रकार कोई सन्देह नहीं होता जैसे शिशुको माँ के विषयमें नहीं होता है। इसी कारण सब प्रकारकी पीड़ाको भक्त भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करते हैं। और जब सुखसम्भार आकर उपस्थित होता है, तब भी वे उससे विचलित नहीं होते। उसमें भगवान्की अपार करुणासे मण्डित वरदहस्तका स्पर्श प्राप्त कर भक्त प्रेमाश्रु वर्षण करते हैं।

एक पत्र

तुम्हारा पत्र पढ़कर यह ज्ञात हुआ कि समय-समय पर नाना प्रकारके प्रश्न तुम्हारे मनमें उदय होकर तुम्हारे मनको विक्षिप्त और खेदयुक्त कर देते हैं। यह मनका स्वभाव है। इसके लिये क्या करना होगा जानते हो? एक लक्ष्य निश्चित करके मनको उस ओर लगा कर उसकी प्राप्तिके लिए निरन्तर उपाय करना होगा। इस प्रकार निरन्तर जागरूक रहकर चेष्टा करनेसे लक्ष्यमें मनकी स्थिति होती है और साथ-साथ चित्तकी चंचलता दूर होती है। मनको ठीक-ठीक रखनेके लिए इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है। मन जिससे अनुकूल रह कर विचार करनेमें अभ्यस्त हो, इस प्रकारकी अनुकूल शास्त्रीय युक्ति और

सिद्धान्तोंको उसके सामने बीच-बीचमें रखना पड़ता है। समयानुसार सत् शास्त्र और सद् ग्रन्थोंका अध्ययन और आलोचना करना इसके लिए परम आवश्यक है। यह भी चित्तको ध्यानमें लगानेमें सहायता करता है। ध्यान भी तो खूब गहरा होना चाहिए, अतएव जो विषय, जो मूर्ति अथवा जो भाव हमारे ध्यानका विषय हो, उसके सिवा अन्य किसी चिन्ता या मनोवृत्तिका उदय न होने पावे, इसके लिए सचेष्ट होना आवश्यक है। उस समय मनकी यह अवस्था होना ही आवश्यक है क्योंकि मन वृत्तिशून्य होने पर ही आनन्द पाता है।

निश्चय ही जबतक हमारी हृदयकी गाँठ नहीं खुलती है, तबतक ऐसा नहीं हो सकता कि चित्तमें अनेक भावनाएँ न उठें। और मनमें जबतक नाना वासनाओं और नाना कल्पनाओंका अस्तित्व रहेगा, तबतक कोई अविचल भावको नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक चित्तकी चाञ्चल्यरहित स्थिर अवस्था उदित नहीं होती तबतक जीव संशयके झूलेमें झूलता रहेगा। मनका धुक्-धुक् करना ही हृदय-ग्रंथि है, इसको काटना भी सहज नहीं परन्तु हताश न होकर थोड़ा धैर्यपूर्वक अपेक्षा करो। दीर्घकाल तक प्रयत्न और अध्यवसायके साथ तपस्या करते-करते जगदम्बाकी कृपासे प्रयत्नशील साधकका अज्ञान बीज या हृद्रोग नष्ट हो जायगा। चण्डीमें लिखा है कि महामाया ही जीवके बन्धन और मुक्ति—दोनोंके कारण हैं। आराधना करने पर वही कृपा करके जीवकी मुक्तिका उपाय कर देती हैं। यही

जीवको भुक्ति-मुक्ति प्रदान करने वाली करुणामयी जननी हैं! उनकी विश्वविमोहिनी मायाशक्तिके प्रभावसे ही जीव मोहपाशमें चिरकालसे बँधा है। और इस भव-नाट्यशालामें उनके घोर अभिनयको देखकर व्याकुल होकर रो पड़ता है, तथा जब भयसे विह्वल चित्त निरुपाय होकर माँके चरणकमलोंमें प्राणपनसे यत्न करके पहुँचता है, तभी जगन्माताके भयविमोचन अभय-चरणोंको पाकर कृतार्थ हो जाता है। यही महामायाका विद्यारूपी दिव्यभाव है।

यह विद्याभाव ही उनका विशुद्ध चैतन्यभाव या मातृभाव है। यह बहुमुखी नहीं हो सकता, यह एकमुखी आत्मगत भाव है। जब वह बहुमुखी होकर आत्मप्रकाश करती हैं तब उनका नाम माया पड़ता है। तभी हम जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि उनके नाना प्रकारके द्वन्द्व भावोंको देखकर मुग्ध और व्याकुल हो जाते हैं। तभी हम नाना प्रकारकी वासना और नाना प्रकारके अभिनयको होते देखते हैं! तब आतङ्कसे हमारे प्राण सिहर उठते हैं। परन्तु यह सब मायाका खेल है! माँ ने भीषण रूप धारण किया है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सचमुच ही भीषण हैं। उनके भयङ्कर नेत्र और भयङ्कर दाँतोंके अन्तरालमें वराभयप्रद जो आनन्द, हास्य और सान्त्वनाकी स्निग्ध धारा झर-झर बहती है, और तुम्हारे उत्तप्त, भयाकुल चित्तको आनन्द-रससे सराबोर करनेके लिए सदा उद्यत रहती है—उसको हे भीरु! क्या तू नहीं देखता?

इसी कारण हम यह पता लगानेमें व्यग्र हो रहे हैं कि मृत्युलोकमें अमृतत्व है या नहीं। इस अनुसन्धानके फलस्वरूप उनका द्वन्द्वातीत भाव हमारे हृदयके भीतर फूट निकलता है। तब हम देखते हैं,

"मांर हॉसिर विकाशे रवि चन्द्र हासे, आकाशे प्रकाशे दहन दामिनी।"

{ "मा के हास्य विकासमें, सूर्यचन्द्र विहँसित।
नभमण्डलमें प्रतिपल, दहन दामिनी विलसित॥" }

माँकी कृपासे यदि मन एक बार तीव्रवेगसे उस लक्ष्यकी ओर बढ़े, तो वह उनके शान्त, शिव और अद्वैत भावको सुस्पष्ट रूपसे अनुभव कर सकेगा। इस अद्वैतभावमें स्थित होकर ही ऋषियोंने समझा था कि यह परिदृश्यमान जगत् नाना रूपोंमें दिखलायी देने पर भी उसी एकका नाना रूप है। अनेक कहनेसे आपाततः जो प्रतीत होता है वह वस्तुतः अनेक नहीं है, बल्कि एक और अद्वितीय है।

उस एकको देखकर यदि पश्चात् अनेकको देखा जाय तो इससे फिर उस प्रकार भ्रममें नहीं पड़ना पड़ेगा। क्योंकि उस एकको जब जान लिया तथा एकके बहुमुखी विचित्र भावोंके साथ यथेष्ट परिचय हो गया तो अनेकको देखकर फिर उस प्रकारसे विमुग्ध नहीं होना पड़ता है। यह अनेकत्व बुद्धि ही शोक-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वात्मक मोहका हेतु है। अतएव श्रुति कहती है 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' यह अनेकत्व बुद्धि ही हमारी अविद्या-ग्रन्थि या संसार बीज

है। महामायाको उपासनाके द्वारा ही यह नानात्वका बीज नष्ट होता है। माँने शुम्भासुरके निकट अद्वैतभावको प्रकट कर उसके चिरकालके मोह या अविद्याके बीजको ध्वंस किया था।

पिता-माता, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र-कन्या, गुरु-शिष्य प्रभृति नाना भावोंमें उस एककी ही अभिव्यक्ति हो रही है। वही एक अनेक घटोंमें विचित्ररूपसे अपनेको व्यक्त कर रही हैं। बहुत्वसे जीव मोहको प्राप्त होता है। इसी कारण इसकी औषधि है उस अनादि परम एककी ओर अग्रसर होना।

आत्मानुसन्धान

कार अन्वेषन तरे जीव निरन्तर, घुरितेछे फिरितेछे ब्रह्माण्ड भितर ?
काहारे ना पेये भाई एई जीवकुल, रोदन करिछे सदा हईये व्याकुल
बलिते पार कि तुमि कारण ईहार, कारे आमि खुँजितेछि, के प्रिय आमार ?
जार अन्वेषन तरे एई पृथिवीते, सकलेई फिरि मोरा कत युग हते
वित्तमांझे, पुत्रमांझे, वनितार मांझे, खुंजे खुंजे देखि ताहा आछे किना आछे ?
दूर हते कत येन आनन्द लहरी, स्त्री पुत्र वित्तेर मांझे खेलितेछे हेरि
आनन्द तुफान येन ताहा तेई रय, मरीचिका हेरि यथा जल भ्रम हय।
सुखरे लागिया तुमि सतत उद्ग्रीव, घुरिया घुरिया कत क्लान्त हले जीव!
पेले कि सन्धान किछु ? पाउनि निश्चय; ताई म्लान मुख तव निराश हृदय।
काँदितेछ निरन्तर ये सुख लागिया, स्वरूप ताहार किवा देखेछ भाविया ?
सत्यई चाह कि तुमि ? ना पेलेई नय, कतटा माथेर ज्वाला हयेछे उदय ?
तथापि हे जीव केन विषय पाईया, बाड़ाईछ निज रोग कुपथ्य करिया ?
ए रोगेर कि भेषज जान कि अबोध ? "सुविचार" ए रोगेर अमोघ ऊषध।

देख देखि निरन्तर करि सुविचार, तुमि आर दृश्य वस्तु प्रभेद कि तार?
भोग्य वस्तु अचेतन, भोक्ता ये चेतन, दुटि विपरीत भाव हय कि स्मरण?
ईदं दृश्य वस्तु याहा, आमि भोक्ता तार, भोग्य वस्तु सब जड, 'आमि' निर्व्विकार
'आमि' के बुझिते हवे, बुझिलेई शेषे, जडत्व हईते मुक्त हवे अनायासे।
ये सुखेर तरे तुमि व्याकुल हईया, नाना वस्तु गृह माझे आनिछ टानिया।
नाहिक से सुख-वस्तु तोमार बाहिरे, तव मध्ये आछे ताहा बुझ भाल करे।
आत्माई परमानन्द, विषये ता नाई, बाहिरे खुंजिया क्लान्त केन हउ भाई?
विषयेर ये आनन्द आत्मार ता छाया, से आनन्द सत्य नहे, ताहा शुधु माया।
वित्त, पुत्र वनितार प्रियत्व ये प्रेयः, सुखेर आभास मात्र नहे ताहा श्रेयः।
वित्त लाभ हले हय सुखेर साधन, ए भ्रम पुषिछ कत हये अचेतन।
सिन्धु गिरी, वने फिरु ये वित्त लागिया, से वित्त के अकातरे दाउ विलाईया।
वित्त हते पुत्र प्रिय, ताई वित्त दिये पुत्रेरे करिछ रक्षा कत ना करिये।
निज देह ता हतेउ प्रिय ये अधिक, रोगग्रस्त जने जाने ईहा कत ठिक।
रोगीर भाल कि लागे धन जन सुख, सब याक तबु चाय 'शरीर थाकुक'।
सब हते प्रिय किन्तु से शरीरउ नय, शरीर हईते मन कत प्रिय हय?
मनेर सुखेर लागि प्रिय ये शरीर, ताहारे करिते त्याग प्रस्तुत सुधीर।
पर दुःख दूर हेतु कत महा प्राण, निजदेह अवहेले करिछेन दान।
अतएव मन प्रिय शरीर हईते, शरीर करिछे त्याग मनेर तरे ते।
मन हते प्रियतर हय अहङ्कार, 'आमि' 'आमि' रव याहे उठे बारंबार।
आमि नाई केह कभु भाविते पारे ना, 'आमि'र सत्ताय जागे निखिल चेतना।
योगी किन्तु से आमित्व करि विलोपन, परानन्द आत्म मांझे हन निमगन।
आत्माई परम शान्ति सुख सिन्धु रूप, अन्य या आनंद सब अति तुच्छ कुप।

जीव मन आकर्षित आनन्देर टाने, कहाई बँशीर रव जाने साधु जने।
जीव मन गोपबाला सेई वंशी शुनि, भाँप दिया पडे तथा छिडीया बन्धनी।
उन्मत्त करिछे तारे आनन्देर टाने, यथाय आनन्द जीव धाय सेई खाने।
किंतु कोन वस्तुतेई से आनन्द नाई, बिम्बित सबाते बटे, धन्ध लागे ताई।
आरबार, आनन्द शुधु बिम्बित हईया, अनंत ए विश्व देख फेलिछे छाईया।
सूर्य्येर किरण पाते विश्व आलोकित, विश्व किन्तु नहे सूर्य्य कथा सुनिश्चित।
सूर्य्येर किरणे यथा विश्व समुज्ज्वल, आत्मार आनन्दे हेर नन्दित सकल।
देहेन्द्रिय मनोबुद्धि ये करे प्रकाश, सेई कर्त्ता, अहङ्कार ताहारि उल्लास।
ए आमिरउ सदा जिनी हन प्रकाशक, सेई साक्षीरूप, तार नाहि आवरक।
सुषुप्तिर हय लोप एई अहंकर्त्ता, सुषुप्तिर साक्षीरूपे तखनो ये सत्ता—
थाकेन प्रकाश करि सुषुप्तिर सुख, तिनिई तोमार आत्मा देख कि कौतुक।
तिनि सकलेर आमि, आर किछु नाई, 'एकमेवाद्वितीयम' गाहे श्रुति ताई।
तिनिई स्वरूप तव, तिनि तव आत्मा, सकलेर आत्मा तिनि, ताई परमात्मा।
सब डुबे जाय सेई एकेर माझारे, सब नदी मेले यथा-आसि सिन्धु नीरे।
यत दिन नाहि हवे शुद्ध प्राण मन, तत दिन बुझिवे ना ए तत्व केमन।
उपासना हते हय एकाग्र से चित्त, चित्तशुद्धि हले तवे बुझिबे ए तत्व।
ए तत्व बडई सूक्ष्म बडई निर्म्मल, परानन्द रसोल्लासे नन्दित केवल।
आर कोन अस्तित्वेर साडा तथा नाई, जन्म मृत्यु दुःखादिर कोन गंध नाई।
एमन आनंदसिंधु आत्मा केना जानि, किलये कटाऊ दिन? हय ना को ग्लानि?
दुःखसिंधु मांझे डुबि रे अभाग्य जीव! बुझिले ना तव मांझे तुमिई से शिव।
ये सुखेर तरे तुमि कर हाहाकार, सेई सुखरूप तुमि सर्व्वानन्द सार।

——ॐ——

अमृतत्व प्राप्तिके उपाय

तुम्हारा पत्र पढ़कर आनन्दित हुआ। लक्ष्य प्राप्तिकी ओर अग्रसर होनेके लिए हृदयमें जो एक आवेग उठता है, वह अधिकांशमें स्थायी हो—यही मेरी श्रीगुरुके चरणोंमें प्रार्थना है।

इस विषयको मनमें स्थायी भावसे बैठानेका एकमात्र उपाय है "आत्मानात्म विवेक"—अर्थात् आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, इस विषयमें सम्यक् ज्ञान या धारणा होने पर ही इसका विवेक उत्पन्न हो सकता है। अब देखना है कि आत्मा क्या वस्तु है? संक्षेपमें कहें तो कह सकते हैं कि जो नित्य, सत्य और अविनाशी, हमारा सर्वस्व और नित्य आराध्य वस्तु है—जिसको हटा देने पर 'मैं' और 'मेरा' करके कुछ

नहीं रहता। जिसकी सत्तासे सत्तावान् होकर यह जगत् प्रकट होता है, जिसके द्वारा हम जगत्के रूपको देखते हैं, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धवके अस्तित्व और उनके संयोगवियोगसे उत्पन्न सुख-दुःखादि का अनुभव कर सकते हैं, और जिसके कारण इस शरीर, मन, प्राणको अपनी वस्तुके नामसे अनुभव करते हैं। वही द्रष्टा है, वही सबका भोक्ता, वही 'सत्' शब्दवाच्य है, वही आत्मा, वही मेरा 'मैं' तथा मेरा गुरु और परमाराध्या देवी है। अस्तित्व-बोध ही आनन्दका उद्गम है, उसे ही केन्द्रित करके हमारी जीवन-धारा अनन्तकालसे प्रवाहित होती जा रही है एक लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर। यह लक्ष्य ही समस्त आनन्दका मूल है, वही हम सबोंकी आत्मा और सर्वस्वभूत है, उसे ही स्पर्श करके हम सबोंके सारे भाव प्रसून प्रस्फुटित हो उठते हैं। उस परम सत्ताके बिना कोई किसी प्रकारके आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता। उसे हटाकर कोई भी अनुभव हमारे इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता। समस्त विश्वमें और उसके अतीत रूपमें, समस्त जड़ और चेतनमें उसने अपने आपको स्वयं व्यक्त कर रखा है। यह अभिव्यक्ति ही उसका खेल, उसकी लीला या उसकी माया है। कभी-कभी इस मायाका खेल प्रचण्डरूपमें प्रकट होता है, जिसे देखकर वीर हृदय भी काँप उठता है। परन्तु उनके इस खेलको और भी एक प्रकारसे देख सकते हैं। वह यह है कि "चलती चक्की सब कोई देखे, खूँटा देखे न कोई।" चक्र भन-भन करके घूम रहा है, उसका

घूमना कभी थमता नहीं, तभी यह निखिल विश्व नियम पूर्वक परिवर्तित हो रहा है। जन्म-मरणका परिवर्तन, शैशव-यौवन-वार्द्धक्यका परिवर्तन, सुख-दुःख समृद्धि और दारिद्रयका परिवर्तन, पक्ष-मास-ऋतु-संवत्सरका परिवतन--सब घूम-घूमकर लौट-लौटकर आते हैं और जाते हैं—कुछ भी स्थिर नहीं है इस जगत्‌मे। इस समस्त दृश्यपटकी ओर जो देखेगा वही मुग्ध हो जायगा, वही विडम्बनाका शिकार हो जायगा। सुख-दुःखका, हास्य-रुदनका, लाभ-हानिका, जन्म-मृत्युका अनन्त चित्र देखकर कभी हँसकर आकुल और कभी रोकर व्याकुल हो उठेगा। तब उपाय क्या है? उपाय यह है कि भ्राम्यमान चक्रको लक्ष्य करके देखनेसे काम न चलेगा। इस घूमते हुए चक्रके अन्तरालमें, उसके केन्द्रमे एक स्थिर खूँटा है, उसको ही प्राप्त करनेका लक्ष्य स्थिर करना पड़ेगा, वह खूँटा ही नित्य, जन्ममरणरहित अविचल राम है, हमारा 'मैं' और वही हमारा सर्वस्व है। परन्तु बहुत दिनोंसे कुत्सित अभ्यासका शिकार हो जानेके कारण जीव उसका पता पाकर भी उसकी ओर अचञ्चल दृष्टिसे देखना कठिन श्रम-साध्य समझता है। परन्तु श्रमके विना पार पानेका दूसरा उपाय भी तो नहीं है। जो परिश्रम करनेमें कायरता दिखलाता है उसकी देवता लोग भी सहायता नहीं करते। जगत्‌में जो सुख-दुःख हमारे देखनेमें आते हैं, उनमें कोई चिरकालीन नहीं—सभी 'आगमापायी' हैं, अभी हैं, और फिर नहीं रहेंगे। इसलिए दाँत दबाकर शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि

द्वन्द्वोंको सहना पड़ेगा। यही अमृतत्व प्राप्तिका उपाय है। माँ जगदम्बा ही इस विश्वके प्राण हैं। योगवाशिष्ठमें श्री भुशुण्डी कहते हैं—"जो प्राणचिन्तनमें रत हैं उन समस्त पुरुषोंके चित्त विषयमें प्रवृत्त नहीं होते।" यदि मैं अपनी माँ को प्राप्त कर लूँ तो फिर इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर विषयोंकी ओर क्यों दौड़ेंगी। यह सारा जगत् माँ का है, केवल इतना ही नहीं, इसका सब कुछ, इसका अणु-परमाणु पर्यन्त माँ-मय है। मैं उनका हूँ, सारा विश्व ब्रह्माण्ड उनका है, यह धनधान्य से भरा भोग्यवस्तुरूप जगत् भी वही है। स्त्री-पुत्र, देह, स्वजन, बान्धव सभी उनके अणुसे निर्मित हैं। यह सब कुछ उनका है, अतएव वह भी हमारी हैं। इसीलिए तो पहले उनका पुत्र बनना पड़ेगा। यदि कहो कि हम तो उनके पुत्र हैं ही, तो ठीक है, परन्तु केवल मुँहसे कह देनेसे काम न चलेगा। 'माँ' को माँ कहकर पुकारना होगा, मन प्राणसे चिन्तन करना होगा, तब सबके भीतर, जड़ और चेतनके भीतर उनका सन्धान मिलेगा। तब तुम उनके करुणारुणलाञ्छित सुन्दर मुखश्रीको देखकर अभय हो सकोगे। वह ब्रह्माण्डभाण्डोदरी जगन्माता ही सबकी सर्वस्व हैं—वही एकमात्र विज्ञेय हैं। उनको छोड़कर और कुछ चाहने योग्य नहीं है। और जो कुछ है उसे प्राप्त करके भी कुछ लाभ नहीं होता। जो जीवका परम धन हैं और जो जीवकी परमगति हैं उस माँ को, अथवा उस आत्माको समझना होगा। और उनको जानकर जरा-व्याधिसे संकुल, शोक और दुःखसे पीड़ित

इस अनित्य संसारसे अपने मनको हटाना पड़ेगा। इस साधना-में सफल होनेपर ही मनको त्राण मिलेगा। इस मनको त्राण करना ही मन्त्रजपका उद्देश्य है। और वह त्राण पाना भी कैसा, सो सुनो। इदं पदवाच्य इन सारी बाह्य वस्तुओंसे ही 'मैं' का सारा सांसारिक व्यवहार चलता है। यह सब अनित्य हैं, अभी हैं और नहीं हो जायँगे। इन क्षणभंगुर वस्तुओंके पीछे-पीछे दौड़नेसे कोई लाभ नहीं है, केवल क्लेश भोगमात्र है। सत्य और चिरन्तन से दूर हटना पड़ता है, अतएव इन सारी बाह्य वस्तुओंके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखकर आत्माकी ओर दृष्टिको लगाये रखना पड़ेगा। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे परम-सत्यकी उपलब्धि कर सकोगे। सोचो तो, जो शरीर हमारे इतने समीप रहता है, जिसके संग मिलकर हम एक हो रहे हैं, वह भी हमारा चिरसङ्गी नहीं है। हमारा कहकर जो कुछ है वह सब आत्मा का है। वही त्रिभुवनमें प्रविष्ट होकर इस अप-रूप शोभामय विश्वरूपमें प्रस्फुटित हो रहे हैं, वही हमारे वस्तुतः अपना हैं, वही हमारे कर्णधार श्रीगुरु हैं, वही हमारी नित्य, मोक्षदायिनी त्रिलोकवन्दिता माँ हैं। उनको हटा देनेसे इस नामरूपमय अपरूप जगतका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। स्वर्ण कंकणमें जैसे सब सोना ही होता है, स्वर्णको पृथक् करके देखा जाय तो उसके नामरूपका कोई मूल्य नहीं रह जाता। उसी प्रकार तुम, मैं और यह विश्व—जो कुछ व्यक्त हो रहा है, सब उसीकी अभिव्यक्ति है। उसको पृथक् करने पर तुम्हारा

मेरा और इस जगत्‌का कोई अस्तित्व नहीं। मायाके फेरमें पड़कर केवल अपनी बात सोच-सोचकर हम मर रहे हैं, परन्तु अपने लिए हमारा यह चिन्तन व्यर्थ है, वह जो "चित्स्वरूप नित्य शुद्ध निरञ्जन वस्तु है, वह कभी नष्ट होनेवाली या लुप्त होनेवाली नहीं है। फिर भी हमारा यह पागलपन है कि इस नित्य वस्तुके लिए चिन्ता करते हुए मर रहे हैं। हाय रे बुद्धि! जो सत्य और नित्य है उसे हम असत्य और अनित्यके साथ मिलाकर देखते हैं और नियत समय पर उसके नष्ट होनेके भयसे जीवनको दुःसह बना रहे हैं। आत्माको यथार्थ रूपसे जाने बिना अनन्त दुःखका बोझ अपने सिर पर लाद लेते हैं, और अनात्मधर्म रोग, शोक और दुःखकी वेदनामें हाय-हाय करते हुए मरते हैं। परन्तु क्यों रोते हैं, किसके लिए रोते हैं, किसकी वेदनासे मुक्त होनेकी आकाशामें धूसरित मुख बैठकर दिन काट रहे हैं, इस बातको एकबार भी नहीं सोचते, शास्त्र और गुरुके वचनोंमें श्रद्धा न रखकर केवल बहिर्मुख होकर संसार-समुद्रमें तैरने पर कोई किनारा पाने की संभावना नहीं है। भगवान् जो हमारी आत्मा हैं, जो महेश्वर हैं, जिनके इशारेसे सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र कोई भी अपने वृत्तसे दूर नहीं जा सकते, उनको भूलकर, उनको पृथक् करके अरे मूर्ख! तू सुखकी तलाश कर रहा है! अरे पागल! उनको छोड़कर क्या किसी सुखका अस्तित्व है? वही एकमात्र सुखमय और सुख-स्वरूप हैं। अतएव वह सर्वस्व हैं, परन्तु हाय पदा देनेसे ही

नहीं प्राप्त हो जाते। खोज-खोजकर उनको निकालना पड़ेगा इस नामरूपमय मिथ्या प्रपञ्चके गहनवनसे उस सत्यस्वरूप, प्रेमस्वरूप, सारे सुख और आनन्दके, सब प्रकारकी शान्तिके आगार—आत्माको, अपनी उस मां को ढूँढ निकालना होगा। कोटि-कोटि चन्द्र-सूर्यकी किरणोंको विडम्बित करनेवाली माँ के श्रीमुखकी वह अपूर्व ज्योति जो क्षण-क्षण अनन्त विश्वकी सृष्टि कर रही है, माँ के उस अपरूपको देखना ही पड़ेगा।' कैसी प्राणोंके लिए सुखद, स्निग्ध-शीतल है उनके चरणनखोंकी ज्योति! कैसा महिमान्वित है निगूढ़ उसका तृतीय पादपद्म, कैसी अपार शान्तिसे भरी हुई, अभय प्रदान करनेवाली हैं उनके अरुण नेत्रोंकी किरणराशि! देखो, देखो, संसारके सब दुःख, सारी ज्वाला, जन्म-मृत्युका महाभय सभी उनके चरणकमलोंमें विलीन होते जा रहे हैं। एकबार उस चरणकमलकी ज्योतिमें डूब जाओ तभी समझ सकोगे कि परमपद क्या वस्तु है। तभी इस नरतनके धारण करनेका उद्देश्य पूर्ण होगा। यदि कोई वासना करनी ही है या किसी वस्तुकी आशा ही करनी है, तो उनकी चरण-ज्योतिमें विलीन हो जाओ, देखोगे तुम्हारी सारी आशाएँ फलीभूत हो गयी हैं, सारी कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं। लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा, सबकी सब धोखाधड़ी हैं, इनका एक कौड़ीका भी मूल्य नहीं है। पहले निगूढ़ पादपद्मके बारेमें जो मैंने कहा है उसको कहाँ खोजना होगा, जानते हो? जीवके मेरुदण्डके बीच सुषुम्ना नाड़ीमें। उसके भीतर प्रवेश करते ही

यह जगत्का कोलाहल, अशान्ति, जन्म-मृत्यु-रोगका सन्ताप सब शमन हो जायँगे। वहाँ शान्ति-मिश्रित, तृप्तिमय अनवरत आनन्दकी अमृत किरणें माँ के चरणकमलसे निरन्तर विकीर्ण होकर साधककी श्रान्तिको दूर करती हैं।

जीव जान या अनजान रूपसे इसी अभयधामका यात्री है। सारे जीव उनको ही खोजनेके लिए भटक रहे हैं। कोई नहीं कहता है कि मैं निरानन्दमें डूब जाऊँगा, सभी उच्च स्वरमें पागलके समान चिल्लाकर कह रहे हैं—"वह आनन्दरूप कहाँ है, कहाँ हैं वह हमारे हृदय और मनको मथनेवाले रससिन्धु परमानन्द रसिकशेखर? इस आनन्दको खोजनेमें कितनी ही बार हमने भूल की है, कितनी ही बार अन्य वस्तुको आनन्द समझ कर हम भ्रममें पड़े हैं, परन्तु जीवका पागल मन फिर भी उसीकी तलाशमें घूमता हुआ क्लान्त हो रहा है। इसी कारण जगत्की कोई वस्तु इस पागलको अधिक समयके लिए रोक नहीं पाती है। इसने जिस उद्देश्यसे उस वस्तुको ग्रहण किया उसमें उसे न पाकर फिर दूसरी वस्तुकी ओर लपक जाता है। अतएव जीवकी नित्य नूतनके प्रति जो लालसा है उसका मर्म लोग नहीं समझते, उसे अप्रेमी कहते हैं, चञ्चल कहते हैं। परन्तु एक वस्तुमें उसका मन रहेगा कैसे? जिसको उसने इतने दिनों तक अपनी प्रियवस्तु समझा था, जिसको इतने दिन हृदयमें लगाकर रक्खा था, वह तो असल वस्तु थी नहीं, इसी कारण जैसे ही उसका घोर नशा टूटता है, उस प्रकारकी वस्तुके प्रति

उसकी ममता नहीं रह जाती। वह समझ लेता है कि यह सत्य वस्तु नहीं है। किसीके धोखेमें पड़कर वह जलके भ्रमसे मरीचिकाका पान करके लिए दौड़ता था, छायाको काया समझकर भ्रममें पड़ा था, इसी कारण उस असत्य वस्तुको प्राप्त कर उसकी ज्वाला नहीं मिटती, बल्कि बढ़ जाती है। उस आनन्द-रस-सिन्धुको बाहर-बाहर खोजनेसे क्या उसका पता लग सकता है? उसने बाहर-बाहर जितना ही अधिक खोजा है उतना ही उसकी वासनाका वेग और प्राणका स्पन्दन बढ़ गया है। यथार्थ वस्तुको पाये बिना क्या यह स्पन्दन रुकता है? वह आनन्द चिन्मय रूप है, वह तुम्हारे अपने प्राणके भीतर स्थिर होकर नित्य विराजमान हो रहा है। वह आनन्दका नित्य स्रोत तुम्हारी सत्ताके भीतर सदा प्रवाहित हो रहा है! सारे स्पन्दनको रोक कर एक बार निस्पन्द हो जाओ, देखोगे कि उस रूप-विहीन चिदाकाशमें माँके बिखरे हुए केश किस प्रकार सारी वस्तुओंको आच्छन्न किए हुए हैं। वहाँ सब कुछ है, और कुछ भी नहीं है। जीवका रुदन न रुकेगा उनके सत्यरूपको देखे बिना। और उस रूपको तुम्हारे रूपके भीतर छिपाकर माँ ने कैसा अद्भुत खेल रचा रक्खा है!

> 'पानीमें मीन पियासी, मोहे देख देखलागे हाँसी।
> नाभिकमलमें है कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत मृग बासी रे।"

अपनी अन्वेषण करनेवाली दृष्टिको वहाँ जागृत रखना

होगा। तब वह ओझल न हो सकेगी! वह वास्तवमें हमारे बहुत ही समीप है, इस हमारे 'मैं' के भीतर है, इतना समीप हमारे शरीर मन और प्राण नहीं हैं, स्त्री-पुत्र, धन आदिकी बात तो दूर रहे! इस जीवनमें उसी वस्तुको जानना होगा, वह दुर्लभ होने पर भी अलभ्य नहीं है। जब जल स्वभावतः निर्मल होने पर भी बाहरी मल-धूल-कीचड़से मैला होकर पीनेके योग्य नहीं रहता, जब मैलकी राशि इकट्ठी होकर उसको रोगोंके जीवाणुका वासस्थान बना देती है, तब जीवका जीवन-स्वरूप वह जल ही मृत्युका घर बन जाता है। परन्तु वह मैल तो जलका निजस्व नहीं है, यह उसकी आगन्तुक दुर्व्याधिकी केवल उपाधि है। जब समस्त दूषित पदार्थोंको निकाल दिया जायगा तब उसका निर्मल स्वरूप समझमें आयेगा। हमारी आत्मा भी विषय प्रपञ्चके साथ मिलकर देहादिके संस्पर्शके कारण आविल और अनिर्मल जान पड़ती है, एकबार इन सबके साथ आत्म-संयोग, इसके मर्मान्तिक बन्धनको छिन्न कर दो, देखोगे कि—

"नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥
निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यो मुक्तोऽसि केवलः ॥"

प्राणरज्जुके द्वारा यहबन्ध निर्मित होता है, प्राणका बन्धन

खुल जाने पर देखोगे कि तुम्हारी आत्मा किसीके साथ जड़ित नहीं है। इसी कारण कबीर कहते हैं—

कहाँ मुझको ढूँढो बन्दा मैं तुम्हारे पास रे।
जो चाहा सो पाया है छन भरकी तलाश रे।
कहे कबीर सुनो भाई साधो सब साँसोंका साँसा रे॥

संशयात्मा विनश्यति

जान पड़ता है कि संसारके वे दिन चले गये, जब कि लोग गुरु, वृद्ध, आचार्य और शास्त्र-वचनोंको विना किसी तर्कके मान लेते थें, एवं सरल हृदयसे स्वाभाविक ही एक दूसरेपर विश्वास करते हुए शास्त्रोक्त सदाचारके प्रति श्रद्धायुक्त होकर बड़े सुखसे उद्वेगहीन जीवन व्यतीत करते थे। यह बात नहीं कि, उस समय उन सब सरल चित्तके सज्जनोंको बीच-बीचमें अवसर पाकर दुष्ट लोग कभी न सताते हों। परन्तु अधिकांशमें मनुष्य उस समय सुखी थे। यह बात संसारके काव्य, इतिहास और पुराणादिसे भलीभाँति सिद्ध है। दुष्टोंके बुरे कर्मोंकी बातें कभी-कभी सुनायी देनेपर भी अधिकांश मनुष्य सरल, सत्यवादी

और ईश्वरपरायण थे। काम-क्रोधादि प्रबल शत्रुओंकी उत्तेजनावश किसीसे कभी कोई दुष्कर्म बन जाता था, परन्तु वे उसमें निमग्न नहीं हो जाते थे। बल, पुरुषार्थ और विवेकसे सञ्चालित बुद्धिके द्वारा वे तत्काल ही फिर अपनी स्थितिपर कायम हो सकते थे। रिपुओंके वशमें होकर अपने सारे जीवनको उन्हींकी सेवामें नहीं लगा देते थे। सामयिक उत्तेजनाके कारण कोई कुकार्य बन जानेपर वे उसे कायरकी तरह छिपा रखना नहीं जानते थे। दण्ड मिलनेका निश्चय होनेपर भी निर्भय होकर अपना दोष सबके सामने कह देनेमें उनके मनमें तनिक भी कमजोरी नहीं आती थी; क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्यकी जय होती है, झूठकी नहीं—'सत्यमेव जयते नानृतम्'। यही कारण है कि आजकलकी तरह उस जमानेमें इतने कानून और अदालतें न थीं, और न झूठको सच बनानेका पेशा करनेवाले इतने वकील मुख्तारोंकी ही आवश्यकता थी।

उस समय मनुष्य जैसे सरल और सत्यवादी थे वैसे ही वे निर्भीक और ईश्वर-परायण भी थे। वे शरीरसे शुद्ध रहना जानते थे। बुद्धिका शुद्धिका भी खूब सावधानीसे रक्षण किया जाता था। वे न्यायरहित और अनुचित लोभका दमन करना जानते थे। इसीलिये उस समय झूठी धोखेधड़ीकी इतनी अधिकता नहीं थी। लोगोंके बलवान् शरीर और मन भगवान्‌की आराधना और दूसरोंके दुःख दूर करनेमें सदा लगे रहते थे। तब देशपर देवताओंकी कृपा भी खूब रहती थी। विधिपूर्वक

पूजासे सन्तुष्ट होकर देवता ठीक समयपर वृष्टि करते थे। जिससे लोग अपने परिश्रमसे कहीं अधिक अन्न प्राप्तकर निर्विघ्नतापूर्वक परिवारका पालन, देवताओंकी आराधना और अतिथियोंकी सेवा किया करते थे। अर्थार्थी और आशा करके आया हुआ कोई भी प्राणी द्वारसे कभी विमुख नहीं लौटता था। सभी अपनी शक्तिसे कहीं अधिक याचककी माँग पूरी करनेकी चेष्टा करते थे। देशका जलवायु नीरोग था, किसी भी संक्रामक रोगका प्रबल प्रकोप नहीं होता था। कभी होनेकी सम्भावना होती तो उसको दूर करनेके लिये लोग खूब सावधान रहते थे। भलीभाँति विचार और परीक्षा किये हुए नियमोंको निर्धारित करनेमें वे जरा भी आलस्य नहीं करते थे। मन्त्र और औषधियोंका प्रभाव भी उस समय खूब था। लोगोंके शरीर और मन स्वस्थ थे, जीवन-निर्वाहकी प्रणाली सरल और सुन्दर थी इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक किसी प्रकारके भी उपद्रव आजकलकी तरह कभी बढ़ ही नहीं सकते थे। मनुष्य आपसमें एक दूसरेका प्रेमकी नजरसे देखना जानते थे। अतः जीवमात्रके प्रति उनमें हार्दिक सहानुभूति और कृपाके भाव थे। समाजके बड़े-बड़े नेता विवेकबुद्धिसे सम्पन्न और असाधारण प्रतिभाशाली थे। इसीलिये समाज-शरीरका कोई भी छिद्र उनकी नजरसे बचकर चुपचाप समाजमें बुराई पैदा नहीं कर पाता था। जनता बड़ी ही श्रद्धाके साथ इन सदाशय और उदार समाजपतियोंकी—पञ्चोंकी आज्ञा पालन

करनेके लिये सदा तैयार रहती थी। पत्नोंसे कभी धोखा होगा, जनताके हृदयमें ऐसी आशंकाके पैदा होनेका ही अवसर कभी नहीं आता था। राजा और धनी लोग शास्त्र और गो-ब्राह्मण आदिके प्रति श्रद्धा करना जानते थे और प्रजाका हित करना ही राजाओंके राज्य-सञ्चालनका मूल मन्त्र था।

पता नहीं, संसारके किस अचिन्तनीय कर्म-फलसे कालचक्र पलट गया और उसीके साथ-साथ ऐसे समय और ऐसे जीवों का आविर्भाव हो गया कि जिनसे पहलेकी किसी बातका मेल नहीं खाता। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, विद्वान्-मूर्ख और वृद्ध-बालक सभीने मानो आजकल एक नया ही पन्थ पकड़ लिया है। इनकी शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, भाव-भंगी और बोलचाल सभी कुछ मानो दूसरे प्रकारके हैं। कोई किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता, श्रद्धा और भक्तिकी बातोंका मानो पुस्तकों से बहिष्कार ही कर दिया गया है। बड़े-बूढ़ोंके प्रति वह आदर नहीं है, उपकार करनेवालोंके प्रति वह कृतज्ञता नहीं है। पूजनीय व्यक्तियोंके प्रति अब वैसी अपूर्व श्रद्धाका भाव कहीं नहीं पाया जाता। स्त्रियोंके चरित्रमें जिस आदर्श 'ह्री' और 'श्री' के दर्शन होते थे, आजकल वह मानो स्वप्नवत् हो गया है। अश्रद्धा, अविश्वास, अभिमान और गर्व ही मानो बड़े वेगसे जगका शासनदण्ड चला रहे हैं। तनिक-सी बाह्य लौकिक विद्या सीखकर लोगोंके चित्त इतने उद्धत हो गये हैं कि वे ऋषियोंके साधन-लब्ध अलौकिक ज्ञानकी दिल्लगी उड़ानेमें जरा भी नहीं

हिचकते। तपःपरायण त्यागिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंके लिये आज हम बिना किसी संकोचके यह घोषणा कर रहे हैं कि वे बेईमान और स्वार्थपरायण थे! शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके प्रति कटाक्ष करते हैं एवं घमण्डमें भरकर उनकी लौकिकता और असारता सिद्ध करनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते। प्रत्यक्ष देवता पिता-माता और आचार्यगण आज हमारी आज्ञाके पात्र बन रहे हैं। भाई-बन्धुओंके प्रति वह अकृत्रिम स्नेह और प्रेम लुप्त हो गया है और ईश्वरपरायण विरक्त साधु-संन्यासियोंके प्रति यह धारणा उत्पन्न हो गयी है कि ये आलसी, निकम्मे और समाजके लिये भाररूप हैं। हमलोग आज सरल और सत्यवादी पुरुषको मूर्ख और निकम्मा समझना सीख गये हैं!!

इसीसे यह विचार उठता है कि इस आर्यसेवित पवित्र भारतभूमिमें इस प्रकारके अनार्योचित संस्कारोंका सूत्रपात किस प्रकार आरम्भ हुआ? देखते-ही-देखते दया-धर्म, पूजा-भक्ति, साधना-ज्ञान, श्रद्धा-विश्वास, यज्ञ-तप आदि सारे आर्य-सदाचार मानो स्वप्नके समान कैसे अदृश्य हो गये? आज सभी लोग छलाँग मारकर बड़े होनेके लिये मानो अत्यन्त लालायित हैं। पूर्वकालमें योग्य पुरुष ही जनसाधारणमें पूजा और सम्मान प्राप्त करते थे। किन्तु आजकल मनुष्य सब प्रकारसे हेय होनेपर भी अनधिकार पूजा पानेके लिये भीखकी झोली कन्धेपर लटकाये द्वार-द्वार श्रद्धा-याचना करनेमें जरा भी लज्जित नहीं होते! देशवासियोंकी वह ह्री और वह श्री कहाँ चली गयी? आज..

देशमें न तो कोई दुर्वचन बोलनेमें सकुचाता है और न दुष्कार्य करनेमें ही हिचकता है। साधुताका ढोंग करते हुए लोग असाधु कार्योंमें लग रहे हैं और मिथ्याके द्वारा सत्यको ढक देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। आज झूठ बोलनेमें कोई बाधा नहीं रही, परद्रव्यहरणमें कोई हिचकिचाहट नहीं रही। विश्वासघातकता, धोखेबाजी, परद्रोह और कपट मानो चित्तके स्वाभाविक धर्म हो गये हैं। हमें जिन विषयोंका रत्तीभर भी ज्ञान नहीं, उनको मानो हम पूरा-पूरा जानते हैं, इस प्रकारके ज्ञानका ढोंग आजकल मानो सर्वव्यापी हो गया है। सभी लोग प्रत्येक विषयके पण्डित बने हुए हैं। लोगोंकी बुद्धिवृत्ति अन्धकारसे इतनी ढक गयी है कि जिस कार्यसे धर्मके ध्वंस होनेकी अधिक सम्भावना है, आज उसी कार्यकी ओर लोग मानो ध्वसके मुखमें प्रवेश करनेके लिये वैसे ही 'समृद्ध वेग' से दौड़ रहे हैं, जैसे आगके मुखमें प्रवेश करनेको मोहावृत पतंग! कहाँ है ब्राह्मणोंकी वह महती तपस्या, अत्युग्र ब्रह्मचर्य, शास्त्राचारके पालनमें एकान्तनिष्ठा, शम, दम, तितिक्षा और निर्लोभता? कहाँ गयी वह क्षत्रियोंकी प्रदीप्त वीर्यशक्ति, विपत्त्राण-परायणता, अद्भुत शौर्यशक्ति, वेद और ब्राह्मणोंकी सेवा? कहाँ गयी वैश्योंकी वह सरल जीवन-निर्वाहकी प्रणाली, कृषि, वाणिज्य और गो-सेवा? कहाँ गया शूद्रोंका वह स्वाभाविक परिचर्याका भाव? और कहाँ चली गयी वह साधु-तपस्वियोंकी अत्युग्र साधननिष्ठा एवं ज्ञानकी विमल दीप्ति?

वर्तमान युगमें क्यों लोग इतने दुष्ट और दम्भी हो गये हैं, इसका एक कारण यही जान पड़ता है कि लोगोंकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयोंकी ओर अतिमात्रामें आकर्षित हो गयी हैं। बाह्य विषय, वेष-भूषा, खान-पानादिने मानो मनुष्यको मृगतृष्णामें डालकर अनेक बुराइयाँ सिखा दी हैं। लोग अपने वेष-भूषा, लौकिकता, सामाजिकता, खान-पान और विषय-सम्भोगमें इतने मग्न हो गये हैं और इसी कारण धनाकांक्षा भी इतनी जोरसे बढ़ गयी है कि उनको किसी दूसरे विषयके सोचनेके लिये समय ही नहीं मिलता। वर्तमान युगमें भोग-विलासकी सामग्रियाँ जितनी बढ़ गयी हैं, भोगकी आशा और भोगनेकी इच्छा भी उतनी ही उत्कट हो उठी है, इसीलिये अर्थकी आवश्यकता भी अत्यधिक बढ़ गयी है। लोग आज उसीकी पूर्तिके लिये विशेष व्याकुल हैं। इसी कारण वे अन्तःकरणकी विवेक-वाणी नहीं सुन पाते; शास्त्र और ऋषि-वाक्योंके मर्मको नहीं समझ सकते, परलोककी आस्थाको खोकर उन्होंने अपनी सारी शक्तिको अतिलोभके वशमें होनेके कारण विषयोंकी प्राप्तिमें ही लगा रक्खा है। पूरी शक्ति लगानेपर भी मनमाना अर्थसञ्चय नहीं होनेसे लोग आज अशुभ वृत्ति और दुराचारके अवलम्बन करनेसे नहीं हटते। इसीसे जाना जा सकता है कि हमारे भाव कहाँतक तामसिक हो गये हैं, क्योंकि धनोपासना ही तामसिकताकी अन्तिम अवस्था है। जिन्होंने धनको ही सर्वार्थ-सिद्धिका मूल समझ लिया है, एवं जो दिन-रात उसीके संग्रहमें

लगे रहते हैं, उनके हृदयमें ईश्वरपरायणता और परमात्माके शुद्ध चिन्मय स्वरूपका विकास नहीं हो सकता। इस प्रकार महास्थूल जडकी उपासना करके मनुष्य अन्तमें काठ-पत्थर आदिके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इस प्रकारकी जडोपासना सीख जानेके कारण ही आज हम अपने आपको भूल गये हैं, हृदय-देवताको भुला बैठे हैं। इसीके फलस्वरूप आज हमने देवताके स्थानमें स्वार्थ और भोगको देवताकी मूर्ति बनाकर उसीकी पूजामें अपने तन-मन और प्राणोंको समर्पण कर दिया है। हम दूसरेके भाग्यपर डाह करना सीख गये हैं और जगत्के सारे धन-धान्य और भोग्य-वस्तुओंको हड़प जानेके लिये अपने दुर्दमनीय लोलुप हाथोंको चारों ओर फैला रहे हैं। कविने ठीक ही कहा है—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात हैं यह पाये बौराय॥

भोगोंमें आसक्त हुए इस चित्तमें भोगोंकी बातोंको छोड़कर और कोई बात ठहरती ही नहीं है। क्या आज हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि—'येनाहं नामृता स्याम्, किमहं तेन कुर्याम्?' हमें और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, हम केवल तुम्हें ही चाहते हैं। हे भगवन्! और जो कुछ है वह सब पड़ा रहे। प्रभो, तुम्हीं हमारे हृदयमें विराजमान होओ। इस मन्त्रको हम आज कहाँ उतने जोरसे उच्चारण कर सकते हैं? हृदयके सत्य भावसे आज कितने मनुष्य भगवान्को चाहते हैं। हम जो

कुछ करते हैं, देखादेखी करते हैं। अथवा लोगोंको दिखलानेके लिये करते हैं। हम धनकी कामना कितने आग्रहके साथ करते हैं। अन्य कितनी वस्तुओंकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु प्रभुके लिये हमारे हृदयके एक कोनेमें भी तो वैसी प्रबल आकांक्षा जागृत नहीं हुई। हाय, हाय! हम क्या कर रहे हैं, इसपर हमने कभी विचार नहीं किया। जो हमारे प्राण हैं, जो सर्वस्व हैं, जब हमने उन्हींकी अभिलाषा नहीं की, तब हमने क्या चाहा? हम किस वस्तुकी आकांक्षाके पीछे भटक रहे हैं। अपने प्राणाराम, प्राणेश्वरकी ओर तो नजर फिराकर हमने कभी नहीं ताका! रे मूर्ख चित्त! तू अमूल्य रत्नके बदलेमें काँच लेकर फूल रहा है? पारसमणिका अनादर कर आज किस धनको पाकर उन्मत्त हो रहा है? कुछ भी विचार नहीं करता? रूपके नशेमें चूर हो रहा है, परन्तु सब रूपोंमें जिस एकका ही रूप प्रस्फुटित हो रहा है, जो सब प्रकारकी शोभा और सुन्दरताकी उत्तमोत्तम सीमा है, हाय! इन नयनोंने उस रूपको देखनेके लिए कभी आग्रह नहीं किया।

धन चाहते हो? असंख्य साम्राज्योंके धनभाण्डार जिसके चरण-नखोंकी मणिप्रभाके साथ भी समता नहीं कर सकते, जिन चरणकमलोंको ब्रह्मादि देवेन्द्रगण अपने हृदयोंमें धारण करते हैं, उन्हे छोड़कर और कौनसे धनकी आशा करते हो? जो विनाशशील है, चञ्चल है, उसके प्रचुर परिमाणमें मिल जानेपर भी क्या लाभ होगा? वह महाविनाशसे तुम्हारी रक्षा

करनेमें कभी समर्थ नहीं होगा। शिक्षा, दीक्षा, विद्या, अर्थ, आरोग्यता अथवा स्त्री-पुत्र, स्वजन-बान्धव आदि कोई भी उससे बड़ा नहीं है। ये सब उस एक ही प्रेममय परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप हैं। वह नहीं मिले, तो इन सबका मूल्य एक कौड़ीके बराबर भी नहीं है। यही नहीं, ये सब यदि उसकी प्राप्तिमें बाधक होते हैं, तो सर्पकी काटी हुई अँगुलीके समान इनके त्याग कर देनेमें जरा भी हिचकिचाना उचित नहीं। तुलसीदासजीने कहा है--

> जाके प्रिय न राम बैदेही।
> तजिये ताहि कोटि बैरीसम जद्यपि परम सनेही।

अब एक बार विचार करके देखिये कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारा किस प्रकार सर्वनाश कर रही है। बिना ही कारण बाह्य वस्तुओंके लिये हमारे लोभकी मात्रा जितनी बढ़ी जा रही है, उतने ही परिणाममें हम भगवान्‌को भी भूले जा रहे हैं। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको सहज ही समझ सकेंगे कि देश और देशवासियोंके लिये यह कदापि सौभाग्यके लक्षण नहीं हैं। अंगरेजी शिक्षाका ही यह परिणाम है कि हम अपने धर्म-विश्वासको खो बैठे हैं, एवं इसीलिये अमृतके बदलेमें जहर खरीदकर आज हम महामृत्युको आलिङ्गन करने जा रहे हैं। आज हम शिक्षित कहलानेवाले व्यक्ति परमार्थ-तत्त्वको और भगवान्‌को, देवताको और मन्त्रोंको संशयकी दृष्टिसे देखना सीख गये हैं। भगवान्‌पर अब उतने जोरसे विश्वास नहीं कर

पाते, मानो उसके और हमारे बीचमें न जाने एक कैसा व्यवधान आ गया है। आज भगवान‌को अनायास ही स्वीकार करनेका साहस हमारे हृदयमें नहीं है। उनके साथ हमारा खान-पानके समान ही जो एक सहज और सत्य सम्बन्ध था, वह मानो कहीं टूट गया है! उसे जोड़नेकी इच्छा होनेपर भी पहलेकी तरह उसे हम नहीं जोड़ पाते। यही कारण है कि आज हमारी हृदयवीणासे केवल बेसुरा सुर ही बज उठता है! हा! आर्य-ऋषियोंकी सन्तान! तुम्हारे पूर्व-पितामहोंने जिन प्रभुको प्रदीप्त सूर्यके समान अपनी-अपनी हृदयगुफामें देखा था, एवं इस विराट् ब्रह्माण्डको उन्हींकी महिमाका प्रकाश जान जो हाथ उठाकर सरल शिशुकी भाँति यह गा उठे थे कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' जो गान आज भी भारतके आकाशमें, वायुमण्डलमें, अन्तरिक्षमें प्रतिध्वनित हो रहा है— और आज हम उन्हींके वंशज होकर अपने हृदयाकाशमें उस अमृतवाणीको नहीं सुन पाते! यह क्या कम दुःखका विषय है?

'संशयात्मा विनश्यति!' आज हम सब विषयोंमें सन्देह-युक्त होकर तो विनाशकी ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं? संशयात्माके लिये न इहलोक है, न परलोक है और न कोई सुख ही है, इसीलिये क्या हम भी चिरदुखी होकर दिन काट रहे हैं?

जो भगवान‌को नहीं मानता, वह मृत्युके अनन्तर लोक-

लोकान्तरोंमें भी स्थिर होकर नहीं ठहर सकता। वह बवंडरमें पड़े हुए तिनकेके समान एक नरकसे दूसरे नरकको जाता है और कहीं भी सुख-शान्ति न पाकर अन्तमें काठ-पत्थरके रूपमें आविर्भूत होता है! जीवके इस भयंकर परिणामको स्मरण करते ही भयसे सारा शरीर काँप उठता है!

हे हमारे प्रभु! हे दीनानाथ भक्तवत्सल! इस संशयरूपी महाविनाशसे जीवको बचाओ! हे करुणानिधे! तुम्हारी कृपा-वारिकी वृष्टिसे त्रितापतप्त जीवका हृदय-मरुस्थल एक बार फिर सिक्त और कुसुमित हो उठे, दयामय! जिससे यह दुखी जीव फिर तुम्हें कभी अस्वीकार न करे!

मैं जिस किसी भी अवस्थामें रहूँ, तुम्हारे हाथकी कठपुतली बनकर तुम्हारे ही प्रेममय नामका स्मरण करता रहूँ! प्रभो! तुम्हारी कृपा बिना कोई तुम्हारी इस प्रकारसे कैसे अभिलाषा कर सकता है? नाथ! न जाने मेरे और भी कितने जन्म होंगे, किन्तु तुम एक दिन मेरे हृदय-सिंहासनको प्रकाशितकर उसपर विराजोगे ही, तुम्हारे इसी सुदूर मिलनके समयका स्मरण करके आज इन अनेक कर्मपाशोंको और तज्जनित अनेक जन्म-जन्मान्तरोंको हाथसे ढकेलकर शेष कर डालनेकी इच्छा होती है। इस आर्त दीनको अपनी सेवाके योग्य बना लो! तुम्हें प्राप्त करनेकी जो कुछ भी कीमत हो, उसे बलपूर्वक वसूल कर लो मेरे स्वामी! केवल एक यही शक्ति दो कि जिससे उन सब परीक्षाओंके संकट-समयमें मैं तुम्हारे अभय चरण-युगलोंको

कभी न भूलूँ। तुम हमारे प्रभु हो, हमारे सखा हो, और हमारे सर्वस्व हो—इस बातकी तो तुम्हींने गीतामें अपने श्रीमुखसे घोषणा कर दी है। मैं तुम्हारी इस घोषणाको कभी न भूलूँ एवं तुम भी अपने उन वचनों को कभी भूल न जाओ मेरे प्रभु!

शिवका यथार्थ स्वरूप

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं

शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥ ८ ॥

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं

विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।

उमासहायं परमेश्वर प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥ ९ ॥

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं

समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ १० ॥

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीव-

स्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥ १६ ॥

आधारमानन्दमखण्डबोधं

यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥ १७ ॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ११ ॥
(कैवल्योपनिषद्)

उपर्युक्त श्लोकोंसे शिवसम्बन्धी समस्त जाननेयोग्य विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है। 'शिव' शब्दसे शास्त्रोंने परब्रह्मका ही निर्देश किया है। यह शिव ही परम कल्याणरूप तथा जीवकी परमा गति हैं। यह शिवतम रस ही 'ब्रह्मानन्दरूपममृतं यद्विभाति' है जिसके अत्यन्त सामान्यतम अंशको पाकर देवता, मनुष्य तथा समस्त जीव परमानन्दका उपभोग करते हैं। यह आनन्द ही समस्त जीवोंका जीवन है। यह आनन्द शिवका स्वरूप है और इसी कारण शिवका एक नाम 'सदानन्द' है। इन शिवस्वरूप परब्रह्मके दो रूप हैं—एक सगुण, दूसरा निर्गुण। जब वह मायोपहित होते हैं तभी सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाते हैं, तथा जब वह मायोपाधिसे शून्य होते हैं तब निर्गुण कहलाते हैं। यही सच्चिदानन्द शिव जब प्रकृतिको स्वीकार करते हैं तब उनसे अनूपरूप अनिर्वचनीय एक महाशक्तिका प्रादुर्भाव होता है। यही महाशक्ति सृष्टिका मूल उपादान है। इस शक्तिसंयुक्त शिवसे ही महत्तत्त्व या नाद उत्पन्न होता है और उससे अहङ्कार या विन्दुकी उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति और ब्रह्म अभिन्नभावसे मिलकर अखिल संसारको बारंबार उत्पन्न और ध्वंस करते हैं इनमें चैतन्य और अहङ्कार अङ्गाङ्गीभावसे प्रकाशित रहते हैं। इसी कारण इनके युगलभावकी

शास्त्रोंमें 'अर्द्धनारीश्वर' नामसे व्याख्याकी गयी है। चैतन्ययुक्त अहङ्कार एवं अहङ्कारयुक्त चैतन्य, इन्हीं दो भावोंमें इनकी पूजाकी व्यवस्था भी शास्त्रोंमें वर्णित है। जो चैतन्ययुक्त अहङ्कार की उपासना करते हैं वे इनको पुम् देवता शिवादिके रूपमें, तथा जो अहङ्कारयुक्त चैतन्यकी उपासना करते हैं वे स्त्री देवता गौरी आदिके रूपमें इनकी कल्पना करते हैं। वस्तुत ये स्त्री या पुरुष नहीं हैं; ये तो उभयात्मक होते हुए भी इन उभयअवस्थाओं-से अतीत रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। शारदातिलकमें लिखा है—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकल स्मृतः॥

सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्याशक्तिसे नाद या महत्तत्व उत्पन्न होता है और उस नादसे अहङ्कार-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यह विन्दु अथवा अहङ्कार सात्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है। इसीलिये शिवकी भी तीन अवस्थाएँ कही जाती हैं। पुन. यह तीनो मिलकर जब एक हो जाते हैं तब वही परम बिन्दु या परम शिव कहलाता है। सुतरां वह परम शिव कभी सत्त्वगुणयुक्त अथवा चिन्मय पुरुषरूपमें, कभी तमोगुणयुक्त अर्थात् प्रकृतिमय एवं कभी रजोगुणयुक्त अर्थात् उभयात्मक शिवशक्तिमयरूपमें प्रतीत होते हैं। इन्हींको ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके

नामसे पुकारते हैं। इन्हीं तीन भावोंसे भावित हो यह शक्तित्रय गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी नामसे पुकारी जाती हैं।

इन्हीं तीन शक्तियोंसे त्रिगुण और गुणत्रयोंके अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं। गुणत्रयके साथ ब्रह्मा, विष्णु और शिव जब अभेदरूपसे मिल जाते हैं तभी वह 'महेश्वर' कहलाते हैं। यह महेश्वर ही महाप्रणव हैं। प्रणवमें जैसे अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला और कलातीत यह सात अङ्ग हैं उसी प्रकार शिवके प्रकाशित (व्यक्त) पञ्चमुख तथा अन्य दो अप्रकाशित (अव्यक्त) मुख हैं, यह सप्तमुख ही प्रणवके रूप हैं।

शिवका प्रथम मुख अकार है, इसे 'तत्पुरुष' कहते हैं, द्वितीय मुख उकार या 'अघोर' है, तृतीय मुख मकार या 'सद्योजात' है, चतुर्थ मुख नाद या 'वामदेव' है, पञ्चम मुख बिन्दु या 'ईश्वर' है, षष्ठ मुख कला या 'नीलकण्ठ' है, सप्तम मुख कलातीत या चैतन्य है। यह सप्तम मुख ही कलातीत अव्यक्त अथवा अनिर्देश्यस्वरूप है ब्रह्मा ही महाप्रणवके रूपमें शिवके प्रथम रूप हैं। इन्हीं ब्रह्मासे चतुर्वेद प्रकाशित होते हैं। विष्णु द्वितीय मुख हैं, रुद्र तृतीय मुख हैं, ईश्वर चतुर्थ मुख हैं, महेश्वर पञ्चम मुख हैं, परशिव षष्ठ मुख हैं, तथा सप्तम मुख शिव-शक्तिसम्मिलित महामहेश्वर अथवा कलातीता माहेश्वरीरूप है।

यही सर्वप्रथम ब्रह्माके रूपमें वेदका प्रकाशकर जगत्को ज्ञानदान करते हुए उसके लिये मुक्तिके मार्गका निर्देश करते हैं।

यही जगद्गुरु शिवके रूपमें स्वयं साधक बन जगत्के जीवोंको साधनाकी शिक्षा देकर उनके लिये मुक्तिपथका द्वार खोल देते हैं। परमब्रह्मके साथ जीव जितने प्रकारोंसे योगयुक्त हो सकता है उन समस्त योगमार्गोंका निर्देशकर वह सब योगोंके आचार्यके रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं।

शिवके सप्तमुख ही सप्त आम्नाय के गुरु हैं। प्रथम आम्नायके ज्ञेय कुण्डलिनी या प्रकृति है। उसकी साधना है मन्त्रयोग और हठयोग। द्वितीय आम्नायका ज्ञेय परमात्मा है, उसकी साधना भक्तियोग और लययोग है। तृतीय आम्नायका ज्ञेय काल है, उसकी साधना है क्रियायोग और लक्ष्ययोग। चतुर्थ आम्नायका ज्ञेय विज्ञान है, उसकी साधना ज्ञानयोग है। पञ्चम आम्नायका गम्य शून्य है, उसकी साधना परायोग और संन्यास है। षष्ठ आम्नायका गम्य ब्रह्म है, उसकी साधना शाम्भवी और अमनस्क-योग है। सप्तम आम्नायका गम्य परम ब्रह्म है, उसकी साधना सहज या मोक्षयोग है।

ये शिव जगत्के ज्ञानदाता गुरुके रूपमें जीवोंके लिये सहज ही प्राप्त हैं। अन्य देवताओंकी आराधनामें बहुत प्रयासकी जरूरत है, परन्तु इनकी पूजामें बहुत-से आयासका प्रयोजन नहीं होता। ये क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन अष्टमूर्तियोंको धारण कर जीवोंका नाना प्रकारसे प्रतिपालन करते हैं। हम जिधर देखते हैं, जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं अथवा उपभोग करते हैं, यह समस्त द्रव्य या

भाव इन्हींके प्रकटित (व्यक्त) चैतन्यसे पूर्ण हैं अथवा इनके चैतन्यके ही परिणाम हैं। यही दयानिधि जगत्के पिता-माता सदाशिव जीवके कल्याणके लिये भिखारीका वेष धारणकर प्राणियोंके लिये भुक्ति और मुक्तिकी भिक्षा माँगते हैं। किससे भिक्षा माँगते हैं? वे माँगते हैं अन्नपूर्णासे, जिनमें शरीर, प्राण, मन, बुद्धिके सर्व प्रकारके अन्न वर्तमान रहते हैं। परन्तु जो शिवगणोंसे आत्ममन्त्रको प्राप्तकर शिवस्वरूप हो गये हैं वे ही इस सर्वशक्तिके केन्द्र महामाया जगदम्बाके निकट जगत्के जीवोंके लिये हाथ पसार सकते हैं। इसमें उनके अपने प्रयोजन-की सिद्धिका कोई उद्देश्य नहीं होता। वे 'बहुजनहिताय' उन जीवोंके सब प्रकारके दारिद्र्य और भयको हरनेवाली जगदम्बा-से अञ्चल पसारकर भिक्षा माँगते हैं—

जाया सुत परिजनोऽतिथयोऽन्नकामा
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्।

भक्तकी यह भूख केवल अपने प्रयोजनकी सिद्धिसे ही नहीं मिटती। उनकी दृष्टि महान् होती है, अतः केवल स्त्री-पुत्रके लिये ही प्रार्थना करके निश्चिन्त नहीं होते; परिजन, अतिथि एवं पृथिवीमें जहाँ जो कोई भी अतृप्त जीव व्याकुल होकर प्राणोंकी भूख मिटानेके लिये छटपटा रहे हैं, उन सबके लिये अन्नकी व्यवस्था किये बिना भक्त स्थिर नहीं हो सकते। इसी कारण शिवको शास्त्रोंमें जगद्गुरु कहा है। वह साधकोंकी साधनाका धन होते हुए भी, किस प्रकार इष्टसाधनमें प्राणपणसे प्रयत्न

किया जाता है, किस प्रकार मनुष्य संसारमें ही असंसारी हो सकता है, किस प्रकार अभावकी दारुण दावाग्निमें पड़कर भी ध्यानमग्न हो सकता है, इसका दृष्टान्त भी अपने ही अन्दर हमें देते हैं। इसी कारण शिव जगद्गुरु कहलाते हैं। वह देवोंके देव होते हुए भी, जीव जिससे उनका अनुकरण करके कृतार्थ हो सके ऐसा विचारकर गृही, भिखारी और योगी बनकर हमारे समक्ष दृष्टान्तरूपसे उपस्थित हैं। जीवोंका ऐसा उपकार करनेवाला दूसरा कोई देवता नहीं है। पाठक जानते हैं कि शिव परमदेव होते हुए भी श्मशानमें अस्थिमाला पहनकर क्यों बैठे हैं? जो श्मशानमें रहेगा उसे अस्थियों की माला पहननी ही पड़ेगी। देहकी अस्थियोंमें, विशेषतः मेरुदण्डके बीच अजस्र प्राणप्रवाहिका नाड़ियोंमें प्राणरूपसे शिव ही विराजमान हैं। पुनः यह प्राण जब शोधित होकर स्थिर, अचञ्चल हो जाते हैं तब देहाभिमानके संयोगसे नाना वासनाएँ जीवको व्याकुल नहीं कर सकतीं, तब उसका मन अमन हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, सांसारिक वासनाएँ प्रज्वलित ब्रह्माग्निमें भस्म हो जाती हैं, तब उसी भस्मका लेपकर जीव शिव बन जाता है, तब यह महाशून्य ही उसका आवासस्थान हो जाता है। यह महाशून्य ही श्मशान है। वहाँ नाम नहीं है, रूप नहीं है, अहङ्कार नहीं है, देहाभिमान नहीं है, सुख-दुःख-भोग नहीं है। अनन्त महाशून्य रूपमें सर्व शून्यमें आत्मा प्रतिष्ठित है। वही परमव्योम अथवा शिवरूप सच्चिदानन्दब्रह्मकी मूर्ति है।

वह अलिङ्ग होते हुए भी लिङ्गस्वरूप हैं, नहीं तो मोहान्ध जीव उनको प्राप्त ही कैसे कर सकता ? इस लिङ्गशब्दसे केवल जननेन्द्रियका ही बोध नहीं होता—

आकाशं लिंगमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका ।
आलय सर्वदेवानां लयनाल्लिंगमुच्यते ॥

अणिमादि अष्टगुण तथा समस्त देवता जिसमें शयन अथवा अवस्थान करते हैं वही 'शिव' है। यह आकाश ही उसका लिङ्ग है और पृथिवी उसकी पीठिका है। मन इस आकाशमें विलीन होनेपर ही परमा सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। पीठस्थान पृथिवी अथवा मूलाधार है। इस मूलाधार या पृथिवी-तत्त्वसे आकाश-तत्त्वपर्यन्त जीवभाव और देवभाव है, उसके बाद जब 'शून्ये विशति मानसे'—अर्थात् मन महाशून्यमें मिलकर सर्वशून्य हो जाता है, तो उस अवस्थाको ही श्मशान कहते हैं। इस श्मशानमें जानेपर जीव फिर जीव नहीं रह जाता, उस समय उसका कोई चिह्न या लिङ्ग नहीं रहता, वह अलिङ्ग हो जाता है। यह अलिङ्ग ही ब्रह्मपद है।

इसके बाद यह कहना है कि शिव त्र्यम्बक और त्रिपुरारि क्यों कहलाते हैं ? सूर्य, चन्द्र और अग्नि यही उनके तीन नेत्र हैं। सूर्य प्राणस्वरूप है, चन्द्र मनस्वरूप है और अग्नि बुद्धि-स्वरूप है, इन तीनोंके एकत्वकी ही जीवसंज्ञा है। जब साधनाके द्वारा प्राण शुद्ध हो जाता है तथा प्राणकी शुद्धिसे मन-शुद्धि होती है एवं मनकी शुद्धिसे बुद्धि विशुद्ध होती है, तभी अन्तः-

करण शुद्ध होता है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे प्रज्ञानेत्र खुल जाते हैं। यह प्रज्ञानेत्र जिनके स्वतः ही स्फुरित हैं वे ही त्र्यम्बक या शिव हैं।

जीवमात्रके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—शरीररूप त्रिपुर विद्यमान हैं। स्थूल देहकी अवस्था जाग्रत् है, सूक्ष्मकी स्वप्न है और कारण-शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है। इसी त्रिपुरसे अभिमान-युक्त होकर जीव त्रिपुरासुर बन बैठा है। शिवशक्तिके सहयोगसे जो समरस उत्पन्न होता है उसी समरसमें समस्त दैवशक्ति निहित रहती है। इस समरस भावापन्न साधकको फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें अहंबोध नहीं रहता। साधनके बलसे इस अवस्थाके प्रकटित होते ही वह शिवस्वरूप हो जाता है और साथ-साथ उसके अनादि जन्म-मरणका बीज कारण-देह एवं तत्सम्भूत सूक्ष्म, स्थूल देहोंके पुनः-पुनः आगमनका निरोध हो जाता है। जो साधक अपने कारणादि त्रिपुरमें आगमनका निरोध कर सकते हैं वही त्रिपुरारि हैं। यह त्रिपुरारि सर्वदेवपूज्य हैं। अखिलात्माके साथ तब वह एकात्मता प्राप्तकर महेश्वररूप में पूजित होते हैं।

तन्त्र

शक्तिपूजा और योग-रहस्य

हिन्दुओंकी समस्त साधनाकी कुञ्जी (key) है 'तन्त्र'। सब सम्प्रदायोंकी सब प्रकारकी साधनाका गूढ़ रहस्य तन्त्र-शास्त्रमें निहित है। तन्त्र केवल शक्ति-उपासनाका ही प्रधान अवलम्बन नहीं है, वह सभी साधनाओंका एकमात्र आश्रय है। इसमें स्थूलतम साधनप्रणालीसे लेकर अति गुह्य मन्त्रशास्त्र और अति गुह्यतर योगसाधनादिके समस्त क्रियाकौशलोंका सविस्तर वर्णन है। तन्त्रान्तर्गत दार्शनिक तत्त्व भी कम सूक्ष्म नहीं हैं। हाँ, ये प्रचलित दर्शनशास्त्रोंके समान जटिल भाष्य, टीका और विविध मतवादद्वारा भाराक्रान्त या दुर्बोध्य नहीं है।

परन्तु इनके दुर्बोध्य न होनेपर भी जिन्हें साम्प्रदायिक साधन-सङ्केत ज्ञात नहीं हैं उनके लिये तन्त्रोक्त साधनजालमें प्रवेश प्राप्त करना सहजसाध्य नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्यकी प्रकृति सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारकी है, उसी प्रकार तन्त्रशास्त्र भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका है तथा इसकी साधनप्रणाली भी उसी प्रकार गुणभेदसे तीन प्रकारकी व्याख्यात होती है। जिसकी जैसी प्रकृति वा रुचि हो, तदनुसार ही साधनापथको ग्रहणकर साधन करनेसे वह जीवनको कृतकृत्य कर सकता है। शक्ति जिस प्रकार देवस्वभाव वा दैवीगुणयुक्त जीवोंकी जननीरूपा हैं, उसी प्रकार वह असुर-गुणयुक्त अथवा असुरोंकी भी जननी हैं। इसीकारण असुर और देवता दोनों ही उनकी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं तथा दोनों ही अपने-अपने स्वभावानुसार उपासनाकी प्रणालीका अवलम्बन करते हैं, एवं उनका साधनफल भी साधनाकी प्रकृतिके अनुसार ही होता है। इसी कारण शास्त्र दोनों प्रकारकी साधनप्रणाली बतलाते हैं।

भारतवर्षमें जो वेदोंका अनुसरण करते हुए चलते हैं, वे साधारणतः पञ्च उपासकसम्प्रदायमें विभक्त हैं—गाणपत्य, सौर, शाक्त, वैष्णव और शैव। ये लोग वस्तुतः पृथक्-पृथक् देवताओंके उपासक नहीं हैं, सब उस एक ही विश्वतोमुख भगवान्‌की पृथक्-पृथक् पञ्चभावोंमें उपासना करते हैं। अतः इन सब देव-

देवियोंमें भेदकल्पना करना निरी मूर्खता है। पद्मपुराणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

सौराश्च शैवगाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवनेऽखिले।

'वर्षाका जल जिस प्रकार चारों ओरसे आकर समुद्रमें गिरता है, उसी प्रकार गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त-सभी आकर मुझे ही प्राप्त होते हैं। मैं ही लीलाके लिये जगत्में पाँच रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ।'

इसीसे साधकप्रवर पुष्पदन्त कहते हैं—वेद, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णवमत प्रभृति भिन्न-भिन्न भावोंमें तुम्हारी ही व्याख्या करते हैं। मनुष्य अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई सरल, कोई वक्र, नानाविध मार्गोंका अवलम्बन कर एकमात्र तुम्हें ही लक्ष्य करके चलते हैं। जिस प्रकार नाना नदियोंका पथ विभिन्न होते हुए भी अन्तमें सब एक ही समुद्रमें आकर गिरती हैं, उसी प्रकार जिस-किसी मार्गमें होकर जाय, अन्तमें सब कोई भगवान्के चरणतलमें ही जा पहुँचेंगे।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च॥
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इसीलिये शास्त्र जीवको उपदेश देते हैं—

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः ।
या काली सैव कृष्णः स्याद् यः कृष्णः सैव कालिका ॥
देवदेवीं समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित् ।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत् ॥

अर्थात् जो ब्रह्मा हैं वही हरि हैं, जो हरि हैं वही महेश्वर हैं। जो काली हैं वही कृष्ण हैं, जो कृष्ण हैं वही काली हैं। देव-देवीको लक्ष्य करके कभी मनमें भेदभाव उत्पन्न होने देना उचित नहीं है। देवताके चाहे जितने नाम और रूप हों, सभी एक हैं। यह जगत् शिव-शक्तिमय ही है।

श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें भी कहा गया है कि—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥

'तीन भावों (शिव, शक्ति, विष्णु) में किसी भावको जो पृथक् नहीं समझते, वही उसका सर्वभूतात्माके रूपमें दर्शन कर सकते हैं और वही शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।'

इस प्रकार यद्यपि पञ्चदेवता उस एक ही भगवान्के विभिन्न स्फुरणमात्र हैं, तथापि मनुष्य अपने मनमाने तौरपर उपास्य देवताका ग्रहण नहीं कर सकता, करनेसे ठीक नहीं होता। शास्त्रविधिके अनुसार ही सब कार्य होने आवश्यक हैं। सद्गुरु ही जीवकी प्रकृतिका विचार कर उसके उपास्य देवताका निर्देश कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रसमें आसक्ति होती है, उसी प्रकार जीवकी भी प्राक्तन कर्म

और स्वभावके वश भिन्न-भिन्न देवतामें आसक्ति होती है तथा अपने-अपने स्वभावके अनुसार ही किसी जीवकी पुरुष देवताके प्रति, किसीकी स्त्री देवताके प्रति एवं उन देवताओंके विविध वर्णोंके प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इन सब बातोंका कुछ भी विचार न करके देवताका नामजप और रूपध्यान करनेसे साधक शुभ फलको प्राप्त नहीं कर सकता। तन्त्रशास्त्रमें इस विषयके बहुत-से विचार और सिद्धान्तोंका वर्णन है।

तन्त्रके मतसे देवीकी उपासना ही एकमात्र शक्ति-उपासना नहीं है। गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त सभी शक्तिके उपासक हैं। पुरुष निर्गुण है, निर्गुणकी उपासना नहीं होती। उपास्य देवता पुरुष होनेपर भी वास्तवमें वहाँ भी उसकी शक्तिकी ही उपासना होती है। शक्ति ही हमारे ज्ञानका विषय होती है शक्तिमान् या पुरुष ज्ञानातीत सत्तामात्र है, वह किसी समय किसीके बोध (ज्ञान) का विषय नहीं होता।

वेद और तन्त्रमें ब्रह्मको सच्चिदानन्द कहा गया है। इसमें सदंश ही पुरुषभाव या निर्गुणभाव है तथा चित् और आनन्दांश ही गुणयुक्त भाव अर्थात् प्रकृति है—इस प्रकृतिके द्वारा ही पुरुषका परिचय मिलता है।

सांख्यदर्शन पुरुष और प्रकृतिका ही विचार करता है। यहाँ सांख्यदर्शनोक्त कुछ विचारोंका उल्लेख किया जाता है, जिससे तन्त्रोक्त प्रकृति-पुरुषरहस्यके समझनेमें कुछ सुविधा होगी।

का दर्शन कराती है, वह पुरुष ही साक्षी है। अचेतन विषयके लिये विषयका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, अत पुरुष विषयके अतिरिक्त साक्षी-स्वरूप है। पुरुषमें गुणत्रयके अभाववश ही सुखदुःखादि नहीं रहते, एवं सुखदुःखादि पुरुषमें नहीं होनेसे ही उसे कैवल्यलाभ होता है। यह कैवल्य पुरुषके लिये प्रयत्नसाध्य नहीं है, बल्कि स्वभावसिद्ध है। पुरुष त्रैगुण्यरहित होनेके कारण ही मध्यस्थ अर्थात् अपक्षपाती है। उसे सुखमें तृप्ति नहीं होती और दुःखमें द्वेष नहीं होता, वह विवेकी है अर्थात् मिलित होकर कार्य नहीं करता, वह अप्रसवधर्मी है, अतः कर्त्ता नहीं है।

उपर्युक्त युक्तिद्वारा चेतन कर्त्ता नहीं है, यह सिद्ध हुआ। अतएव चैतन्यरहित 'महत्' प्रभृति पुरुषके सान्निध्यसे चेतनके समान होते हैं तथा विकाररहित उदासीन पुरुष 'महत्'— बुद्ध्यादिके कर्त्तृत्वमें कर्त्ताके सदृश होता है। कारिकामें लिखा है—

> तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
> गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषके संयोगद्वारा चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

> यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

सांख्यके मतसे दुःखके अत्यन्त विनाशको ही मुक्ति कहते हैं। सुखदुःखादि बुद्ध्यादिके स्वभाव हैं। स्वभाव किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। अतः बुद्धिके अतिरिक्त किसी सत्ताको स्वीकार न करनेसे दुःखादिसे मुक्तिलाभ करना असम्भव है। इसीलिये बुद्धिके अतिरिक्ति सुखदुःखादिरहित एक अतिरिक्त वस्तु या आत्माको स्वीकार करना पड़ता है। यह आत्मा ही सुखदुःखादिरहित निर्गुण पुरुष है। बुद्ध्यादिके सुखदुःखादि धर्म पुरुषमें आरोपित होते हैं। इस आरोपित सुखदुःखादि धर्मके अपगत होनेपर ही मुक्तिलाभ होता है। बुद्ध्यादि अचेतन पदार्थ हैं, चेतनके सान्निध्यसे इनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है। यह चेतन अधिष्ठाता ही पुरुष है। बुद्ध्यादि समस्त जड पदार्थ भोग्य पदार्थ हैं; परन्तु भोक्ताके विना भोग्य सिद्ध नहीं होता। भोग्य पदार्थमात्रका अनुभव होता है और जो अनुभव करता है या भोग करता है वही पुरुष है।

सांख्यकारिकामें पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

त्रिगुणादिके विपर्यास अर्थात् विपरीत धर्म हैं—अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व और अप्रसवधर्मित्व। पुरुष चेतन और अविषय है, इसलिये वह साक्षी और द्रष्टा हो सकता है। अचेतन द्रष्टा नहीं हो सकता। चेतन ही द्रष्टा होता है। जिसके उद्देश्यसे जिसको प्रकृति शब्दादि विषयों-

का दर्शन कराती है, वह पुरुष ही साक्षी है। अचेतन विषयके लिये विषयका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, अत पुरुष विषयके अतिरिक्त साक्षी-स्वरूप है। पुरुषमें गुणत्रयके अभाव-वश ही सुखदु:खादि नहीं रहते, एवं सुखदु:खादि पुरुषमें नहीं होनेसे ही उसे कैवल्यलाभ होता है। यह कैवल्य पुरुषके लिये प्रयत्नसाध्य नहीं है, बल्कि स्वभावसिद्ध है। पुरुष त्रैगुण्यरहित होनेके कारण ही मध्यस्थ अर्थात् अपक्षपाती है। उसे सुखमें तृप्ति नहीं होती और दु:खमें द्वेष नहीं होता, वह विवेकी है अर्थात् मिलित होकर कार्य नहीं करता; यह अप्रसवधर्मी है, अतः कर्त्ता नहीं है।

उपर्युक्त युक्तिद्वारा चेतन कर्त्ता नहीं है, यह सिद्ध हुआ। अतएव चैतन्यरहित 'महत्' प्रभृति पुरुषके सान्निध्यसे चेतनके समान होते हैं तथा विकाररहित उदासीन पुरुष 'महत्'—बुद्धयादिके कर्त्तृत्वमें कर्त्ताके सदृश होता है। कारिकामें लिखा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषके संयोगद्वारा चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

हे भरतर्षभ ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम सत्त्व उत्पन्न होते हैं, वह सब क्षेत्रक्षेत्रज्ञके सयोगसे उत्पन्न होते हैं यह जान ।

सांख्यके मतसे चेतन निर्विकार कूटस्थ पुरुष कोई कार्य नहीं कर सकता । बुद्धि यद्यपि क्रियाशक्तिविशिष्ट है तथापि जड है । जड कर्त्ता नहीं हो सकता । दोनों मिलित होनेपर ही कार्य-क्षम होते हैं । प्रकृति और पुरुष. दोनों अनादि हैं; तथा इनका संयोग अनादि होनेके कारण ही यह जगत्‌लीला अनादि कालसे चली आती है ।

पुरुषके बिना प्रकृतिका परिणाम बुद्ध्यादिका ज्ञान नहीं होता और प्रकृतिके बिना पुरुषकी मुक्ति नहीं होती—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

प्रकृतिके साथ संयुक्त होकर पुरुष बद्ध होता है । बद्धावस्थामें विविध सन्तापोंसे क्लिष्ट होकर वह मुक्तिका उपाय खोजता है । परन्तु पुरुषके इस दुःख ग्रहण करनेका हेतु क्या है ? इसका उत्तर 'पुरुषका अज्ञान' नहीं कहा जा सकता । यह संयोग अनादि बतलाया जाता है, तो क्या पुरुष अनादिकालसे अज्ञान-है ? विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इस संयोगके होते हुए भी पुरुष विकारी नहीं है ।

प्रधान अर्थात् प्रकृतिके कार्यको जब पुरुष देखता है तभी भोक्तृभोग्यसम्बन्ध होता है । अतएव प्रकृति जब भोग्या होती है तभी उसे भोक्ता पुरुषकी अपेक्षा होती है । और जब प्रकृति अनादि है—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

—तब अनादिभोग्या प्रकृतिके भोक्ताका भी अनादि होना अनिवार्य है। दोनोंके संयोगका यही कारण है। इसके बाद यह प्रश्न आता है कि जब पुरुषप्रकृतिका भोक्ताभोग्य सम्बन्ध अनादि है तब उसकी दूसरे प्रकारकी प्रवृत्ति अर्थात् मुक्तिकी इच्छा कैसे होती है?

जो हो, इस प्रकार प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त होकर पुरुषको प्रकृत सुख नहीं मिलता, प्रकृतिके धर्म दुःखत्रयको अपना मानकर उसके द्वारा पुरुष अपनेको अत्यन्त निपीडित समझता है। तब उससे मुक्तिलाभ करनेकी उसे इच्छा होती है, परन्तु यह मुक्ति मिले किस उपायसे? सांख्यशास्त्र कहता है कि बुद्धि (प्रकृतिका कार्यरूप बुद्धि) और पुरुषके भेदका साक्षात्कार होनेसे ही मुक्ति होती है। यही ज्ञान है। सांख्यके मतसे दुःखनिवृत्तिका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है—

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

(सां० का०)

व्यक्त विकृति, अव्यक्त प्रकृति और ज्ञ पुरुष है। शास्त्रमें अन्यान्य उपाय भी बतलाये गये हैं, परन्तु वे सब उपाय पापादि दोषसे दूषित हैं, इनसे विपरीत जो हैं वह पापादि दोषसे दूषित नहीं हैं। प्रकृति-पुरुषके भेदका साक्षात्कार ही वह श्रेष्ठ उपाय है। वह ज्ञान क्या वस्तु है? व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त प्रकृति, और ज्ञ अर्थात् पुरुष—इनका विशेषरूपसे ज्ञान होनेपर

ही प्रकृति-पुरुषका विवेकरूप ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सांख्यके मतसे पुरुषके संयोगद्वारा अचेतन बुद्धयादि चेतन के समान हो जाते हैं तथा बुद्धयादिके संयोगसे अकर्त्ता पुरुष कर्त्ताके समान हो जाता है। सांख्यके पुरुष-प्रकृति कोई भी पारस्परिक साहाय्यके बिना स्वयं संसारकी रचनामें समर्थ नहीं होते। किन्तु इसमें भगवत्-इच्छाका कोई प्रयोजन नहीं होता! परन्तु यह बात तन्त्रमें स्वीकृत नहीं हुई है। इसकी आलोचना आगे की जायगी। यहाँ यह दिखलाना है कि सांख्यका यह अभिमत उपनिषद् और पुराणसम्मत भी नहीं है। प्रकृति और पुरुषको इनमेंसे कोई चरम पदार्थ नहीं मानते। श्वेताश्वतर उपनिषद्में आता है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः

क्षर प्रधान (प्रकृति) है, अक्षर अमृत (पुरुष) है जो अद्वितीय देवता क्षर और आत्माका प्रभु है वही ईश्वर वा परमात्मा है। प्रश्नोपनिषद्में है—

तस्मै स होवाच—प्रजाकामो वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।

पिप्पलाद ऋषिने उपर्युक्त प्रश्न करनेवाले कबन्धीसे कहा कि—'प्रजापतिने प्रजाकी कामनासे तपस्या की और तपस्या करके सृष्टिके साधन रयि (अन्न-जीवभोग्य अन्नादि चन्द्रकिरणसे

पुष्टिलाभ करते हैं, इसी कारण चन्द्रको भी भोग्य कहा गया है) और प्राण—अर्थात् अग्निरूप भोक्ता, इस मिथुनकी सृष्टि की। यही भोक्ता और भोग्य (सूर्य और चन्द्र) हमारे प्रजागण-को अनेक प्रकारसे परिणत करेंगे।"

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च; तस्मान्मूर्तिरेव रयि.। (प्रश्नोपनिषद् १।५)

उनमें आदित्य ही प्राण, भोक्ता, अग्निस्वरूप है, और चन्द्र ही रयि अर्थात् सोम वा अन्नस्वरूप है। अत यह भोक्ता और अन्न दोनों ही एक प्रजापतिस्वरूप हैं। मिथुन (दोनों ही) एक हैं परन्तु इन दोनोंमें भोक्ता और भोग्यभावके कारण ही भेद होता है। जो मूर्त्त है वह स्थूल है और जो अमूर्त्त है वह सूक्ष्म है। अमूर्त्त पदार्थसे पृथक् जो मूर्त्तरूप है वही रयि है अर्थात् मूर्त्तमात्र ही अमूर्त्तके उपभोग्य हैं।

इन रयि और प्राण अर्थात् चन्द्र और सूर्य, क्षर और अक्षर—दोनोंका मिश्रण ही जगत् है। यह क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष दोनों प्रलयके समय पुरुषोत्तममें लीन हो जाते हैं। पुन: सृष्टिकालमें मातरिश्वा या हिरण्यगर्भ उन्हींकी सहायतासे जीवकी प्राणधारणादि समस्त क्रिया और क्रियाफल सम्पादन करते हैं। यह मातरिश्वा ही सूत्रात्मा वायु है, यही विश्वविधाता या हिरण्यगर्भ है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥

क्षर और अक्षर—दो प्रकारके पुरुष लोकमें प्रसिद्ध हैं। उनमें समस्त भूत क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ अक्षर पुरुष। इनके सिवा और भी एक उत्तम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। वही ईश्वर है। वह निर्विकार होते हुए भी लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डका परिपालन करता है। गीताके मतसे यह भगवान् पुरुषोत्तम ही चरम तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष-दोनों इनकी शक्तिमात्रा हैं। श्रीमन्मधुसूदन सरस्वती गीताके चौदहवें अध्यायके प्रथम श्लोककी टीकामें कहते हैं कि निरीश्वर सांख्यमतके निवारणके लिये ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगका ईश्वराधीन होना भगवान्ने यहाँ बतलाया है।

तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य ईश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्।

श्रीभगवान् गीताके चौदहवें अध्यायमें कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

'हे भारत! महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि अर्थात् परमेश्वरका गर्भाधानस्थान है। उसमें मैं गर्भ अर्थात् जगत्-विस्तारके लिये चिदाभास निक्षेप करता हूँ। इसीसे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति होती

है। हे कौन्तेय ! मनुष्यादि सब योनियोंमें जो स्थावरजङ्गमात्मक मूर्तियाँ उद्भूत होती हैं, उन सबमें महद्ब्रह्म अथवा मातृस्थानीया प्रकृति है और मैं गर्भाधानकर्त्ता पिता हूँ।'

श्रीमद्भागवत (३ । २६ । १९) में भी लिखा है—

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥

'(हे माता !) जीवके अदृष्टके कारण प्रकृतिके सब गुणोंके क्षुब्ध होनेपर परम पुरुष अपने प्रकाशस्थानरूप प्रकृति—योनिमें अपने वीर्यका आधान करते हैं, तब उस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है।'

तंत्रोक्त प्रकृति

तन्त्रोक्त प्रकृति भी सांख्यकी प्रकृतिकी तरह जड नहीं है, वह पूर्ण चैतन्यमयी है। तन्त्रके मतसे शिव साक्षात् :परब्रह्म हैं, वह जाग्रदवस्थाभिमानी, स्वप्नावस्थाभिमानी तथा सुषुप्त्य-वस्थाभिमानी पुरुषविशेष नहीं हैं। वह तुरीय ब्रह्म हैं। शारदा-तिलक नामक तन्त्रग्रन्थमें लिखा है—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥

शिव साक्षात् परम ब्रह्म हैं। उनके दो विभाग हैं—सगुण और निर्गुण। मायोपहित परब्रह्म ही सगुण हैं तथा वह ब्रह्म

जब मायासे अनुपहित होते हैं, तब वह निर्गुण हैं। सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्मके मायासे उपहित होनेपर ही उनमें शक्तिका आविर्भाव होता है, उस शक्तिसे नाद या महत्तत्त्व और नादसे विन्दु या अहङ्कारतत्त्व उत्पन्न होता है।

प्रकृति और ब्रह्म भिन्न वस्तु नहीं है, ब्रह्मकी व्यक्तावस्था ही प्रकृति है।

तन्त्र की प्रकृति जड़ नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। एक ब्रह्मके अतिरिक्त जब दूसरा पदार्थ विद्यमान ही नहीं है तब प्रकृति कोई आगन्तुक शक्ति नहीं है। श्रुति कहती है—'नेह नानास्ति किञ्चन'—ब्रह्ममें नानात्व नहीं है। किन्तु 'यो देवो एको बहुधा शक्तियोगात्' इत्यादि। यह बहुशक्ति कहाँसे आती? वह ब्रह्मासे भिन्न नहीं है। उसकी अनन्त शक्ति उसमें सर्वदा विद्यमान रहती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

'जो असत् है वह अनात्मधर्म होनेके कारण सदा ही अविद्यमान है, और जो सत् आत्मा है उसकी अविद्यमानता कभी नहीं होती।' परन्तु ये शक्तियाँ उस प्रकार से असत पदार्थ नहीं। श्रुति कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

'इस ब्रह्मकी बहुतेरी श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं, यह बात सुनी जाती हैं।' वह सारी शक्तियाँ हैं—

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

इसलिए शक्ति उसमें नहीं है, अथवा शक्ति कोई पृथक् वस्तु है, यह बात ठीक नहीं है। उसे हम देख सकें चाहे न देख सकें, परन्तु उसकी अनेक शक्ति और क्रियाओं का निदर्शन हमें सर्वदा प्राप्त होता है। उसीकी शक्तिसे यह अखिल विश्व सदा परिव्याप्त रहता है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥

(देवी भागवत)

'जगत्में नित्य या अनित्य जो कोई भी वस्तु जिस किसी स्थानमें है, उनके समुदायमें जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो, तब फिर तुम्हारा स्तवन करके तुम्हारी महिमाका कैसे वर्णन किया जायगा?'

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या।
भूतेषु सतत तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमोनम॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्यस्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम॥

जो प्राणिमात्रमें क्षित्यादि पञ्चभूत, ज्ञानकर्मात्मिका एकादश इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री सूर्यादि देवताओंकी अधिष्ठात्री है, उस विश्वव्यापिका ब्राह्मी शक्तिरूपी देवीको नमस्कार! जो देवी कूटस्थ चैतन्यरूपमें इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होकर अवस्थित है, उसको नमस्कार!

इस शक्तिको अस्वीकार करके शक्तिमानको स्वीकार करना अथवा शून्यको स्वीकार करना एक ही बात है। जगदादि-

रूपमें जीवरूपमें तथा अत्यन्त सूक्ष्म भावमें उसकी शक्तिका प्रकाश तो नित्य विद्यमान है ही—परन्तु समय-समयपर जड़ातीत नित्या चिन्मयी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रकाश होता है, जीव बड़े ही भाग्यसे उस शक्तिका दर्शन कर जीवनको धन्य कर सकता है।

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥

'वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्तिनाशरहिता है; यह जगत् ही उसकी मूर्ति है, वही चिन्मयी रूपसे समस्त जगत्‌को व्याप्त किये हुए है। तथापि उसके अनेकों प्रकारके आविर्भावके विषय में मुझसे सुनो।'

भोगवासना द्वारा चित्तके मलिन होनेके कारण इस स्थूल भूतादिके आड़में दीनजननी जगन्माता की जो नित्य विद्यमान चिन्मयी सत्ता है, उसे हम देख नहीं पाते। प्रह्लादके समान जो समस्त ऐश्वर्य मानादिकी उपेक्षा कर अन्य किसी भी पार्थिव आश्रयका अवलम्बन बिना लिये एकमात्र उनकी ओर देखते हुए हृदय विदीर्ण कर रो सकते हैं, प्रह्लादको जैसे उन्होंने स्तम्भ फाड़कर दर्शन दिया था उसी प्रकार दीन आर्त भक्तकी वह रक्षा करती है, कभी उपेक्षा नहीं कर सकती। वह कहाँ है, कहाँ नहीं है—यह सारी बातें विवेचनीय नहीं हैं। यदि मर्मभेद करके उसे हम पुकार सकें, यदि शास्त्रादेश सम्मत साधन-प्रणालीका अवलम्बन कर अकपट भावसे हम

परिश्रम कर सकें तो हमारी माँ, जो सर्वव्यापिनी है, सब जगह से हमारी चित्तकी आकुलताको आकृष्टकर इस धरणीकी धूलके प्रत्येक अणुसे अपने को प्रकाशित कर सकती है। हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि जो सर्वत्र व्याप्त है उसे न देख कर न मालूम हम कितनी ही अविश्वासकी बातें करते हैं! विद्युत् विकासके समान उसके अस्तित्वका हम समय-समयपर पता नहीं पाते हैं, ऐसी बात नहीं, परन्तु हमारा चित्त विषयोसे निवृत्त नहीं हुआ है, इसी कारण वह परिशुद्ध नहीं है। यदि किसी प्रकारसे यह जीव प्रकृति शुद्ध हो जाय तो मेघाडम्बरहीन अनन्त नीलाकाशमे जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी स्निग्ध कौमुदी छिटक पड़ती है, उसी प्रकार हमलोगोंके शुद्ध अचञ्चल चित्तमें जगजननीके नित्य चिन्मयी रूपकी प्रतिछवि प्रतिबिम्बित हो सकती है।

वस्तुतः इतना बडा मनुष्य-जीवन हम किसलिए नष्ट कर रहे हैं? हम एक बार भी तो प्राण भर कर उसे नहीं पुकारते। तुम हमारी सर्वस्व हो, तुम हमारी सर्वश्रेष्ठ निधि हो, ऐसा उसके लिए एक बार भी तो नहीं विचार करते—फिर हमारे नेत्रोंके सामने धूल ही धूल न दीखे तो और क्या दीखे? ऐसे नेत्रोंके सामने क्या जगन्माताका चिन्मयी भाव आ सकता है? परन्तु वास्तवमें यह धूल—माटी भी मिट्टी नहीं है, वह हमारी माँ है—

आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।

रूपमें जीवरूपमें तथा अत्यन्त सूक्ष्म भावमें उसकी शक्तिका प्रकाश तो नित्य विद्यमान है ही—परन्तु समय-समयपर जड़ातीत नित्या चिन्मयी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रकाश होता है, जीव बड़े ही भाग्यसे उस शक्तिका दर्शन कर जीवनको धन्य कर सकता है।

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥

'वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्तिनाशरहिता है; यह जगत् ही उसकी मूर्ति है, वही चिन्मयी रूपसे समस्त जगत्‌को व्याप्त किये हुए है। तथापि उसके अनेकों प्रकारके आविर्भावके विषय में मुझसे सुनो।'

भोगवासना द्वारा चित्तके मलिन होनेके कारण इस स्थूल भूतादिके ओड़में दीनजननी जगन्माता की जो नित्य विद्यमान चिन्मयी सत्ता है, उसे हम देख नहीं पाते। प्रह्लादके समान जो समस्त ऐश्वर्य मानादिकी उपेक्षा कर अन्य किसी भी पार्थिव आश्रयका अवलम्बन बिना लिये एकमात्र उनकी ओर देखते हुए हृदय विदीर्ण कर रो सकते हैं, प्रह्लादको जैसे उन्होंने स्तम्भ फाड़कर दर्शन दिया था उसी प्रकार दीन आर्त्त भक्तकी वह रक्षा करती है, कभी उपेक्षा नहीं कर सकती। वह कहाँ है, कहाँ नहीं है—यह सारी बातें विवेचनीय नहीं हैं। यदि मर्मभेद करके उसे हम पुकार सकें, यदि शास्त्रादेश सम्मत साधन-प्रणालीका अवलम्बन कर अकपट भावसे हम

परिश्रम कर सकें तो हमारी माँ, जो सर्वव्यापिनी है, सब जगह से हमारी चित्तकी आकुलताको आकृष्टकर इस धरणीकी धूलके प्रत्येक अणुसे अपने को प्रकाशित कर सकती है। हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि जो सर्वत्र व्याप्त है उसे न देख कर न मालूम हम कितनी ही अविश्वासकी बातें करते हैं! विद्युत् विकासके समान उसके अस्तित्वका हम समय-समयपर पता नहीं पाते हैं, ऐसी बात नहीं ; परन्तु हमारा चित्त विषयोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, इसी कारण वह परिशुद्ध नहीं है। यदि किसी प्रकारसे यह जीव प्रकृति शुद्ध हो जाय तो मेघाडम्बरहीन अनन्त नीलाकाशमें जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी स्निग्ध कौमुदी छिटक पड़ती है, उसी प्रकार हमलोगोंके शुद्ध अचञ्चल चित्तमें जगजननीके नित्य चिन्मयी रूपकी प्रतिछवि प्रतिबिम्बित हो सकती है।

वस्तुतः इतना बड़ा मनुष्य-जीवन हम किसलिए नष्ट कर रहे हैं? हम एक बार भी तो प्राण भर कर उसे नहीं पुकारते। तुम हमारी सर्वस्व हो, तुम हमारी सर्वश्रेष्ठ निधि हो, ऐसा उसके लिए एक बार भी तो नहीं विचार करते—फिर हमारे नेत्रोंके सामने धूल ही धूल न दीखे तो और क्या दीखे? ऐसे नेत्रोंके सामने क्या जगन्माताका चिन्मयी भाव आ सकता है? परन्तु वास्तवमें यह धूल—माटी भी मिट्टी नहीं है, वह हमारी माँ है—

आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।

माँ ! तुम्हीं तो महीरूपमें विराजमान हो, एकमात्र तुम्हीं तो जगत्‌की आधारभूता हो ।

परन्तु शक्तिका इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन बड़े भाग्यसे ही जीव कर सकता है। हम जो सम्मोहित होकर शुद्ध चैतन्यको भूल गये हैं, इसीसे शोकार्त्त जीवोंका हाहाकार आज जगत् को विदीर्ण कर रहा है। चैतन्यमें लक्ष्य न रहनेके कारण ही प्राण स्पन्दित होकर मनको सचञ्चलकर रहे हैं और मनका यह चाञ्चल्य-विक्षेप आज समस्त जगत् को नृत्य शीला बालिकाके समान बोध होता है। इस चित् स्वरूपमें लक्ष्य रख सकनेसे ही हम स्थिर होकर विशिष्ट चित्तसे उस चिन्मयी माताको स्पर्श कर सकेंगे। इसीलिए आज सब काम छोड़कर हमको उसे प्रसन्न करनेके कार्यमें लगना चाहिये। उसके प्रसन्न होकर हमारे ऊपर कृपादृष्टि किये बिना मेरा मोहबन्धन नहीं छूटेगा—'त्वं वै प्रसन्ना भुविमुक्ति हेतु' तुम्हारे प्रसन्न होनेपर ही संसारमें मुक्तिपथ दिखलायी देता है।

निर्गुण ब्रह्मके सगुण रूपमें आनेपर ही उसकी कृपा समझ में आती है, उसकी प्रसन्नताका ज्ञान होता है। इसीलिए शास्त्रमें गुणमयी ब्रह्ममूर्त्तिकी उपासनाका आदेश है। यह मूर्त्ति किसीके द्वारा कल्पित नहीं है—'साधकानां हितार्थाय' ब्रह्म स्वयमेव अपनी रूपकल्पना करते हैं। यही अरूपका रूप है, 'रूप' होने-पर भी वह शुद्ध चिन्मात्र हैं। सगुण भावमें शक्ति सुप्रकट रहती है। निर्गुण अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें तल्लीन रहती

है, उसका स्फुरण नहीं होता। बहुतेरे शक्तिकी इस सुप्तावस्था निर्गुणभावको ही अधिक उच्चतर अवस्था बतलाते हैं। यही भाव सर्वोच्चभाव है या नहीं, इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते। परन्तु इस अवस्थामें जब शक्ति तल्लीन रहती है, तब सृष्ट्यादि कार्य नहीं होते हैं, अतः त्रिगुण या तज्जनित त्रिताप भी वहाँ अविद्यमान रहते हैं। यह अवस्था नित्य त्रितापसन्तप्त व्यक्तिके लिये अत्यन्त लोभनीय होंगी, इसमें तो सन्देह ही क्या है? परन्तु उसका प्रत्यक्ष भाव भी कम लोभनीय नहीं है। परम ब्रह्म तो अवाङ् मनस गोचर है, परन्तु उसकी चिच्छक्ति भी सर्वदा प्रकाशिता नहीं है। यह शक्ति जब भाग्यवश प्रकाशित होती है, तब जीवजगत् मुग्ध हो जाता है। हाथ जोड़कर, नतमस्तक हो देवदानव, ऋषिमुनि उसकी महिमा प्रकट करते हुए दिव्य स्तुतिसे स्तवन करते हैं। भारतवर्षमें इस प्रकारके प्रकाशके दृष्टान्त इस घोर कलिकालमें भी अनेकों स्थलोंपर मिलते हैं, इसकी प्राप्तिके लिए शास्त्रोंमें नानाविध उपदेश और साधनाएँ वर्णित हैं। यह अप्रकट शक्ति समय-समयपर प्रकटित होती है, इसका उल्लेख शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंमें हम देखते हैं। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत चण्डीमें लिखा है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

वह जब देवी-देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिए आविर्भूत होती हैं, तब नित्या होनेपर भी वह जगत्में 'उत्पन्न हुई' कहलाती

हैं। वस्तुतः जब ब्रह्म ही उत्पत्तिविनाश रहित है, तब उसकी स्वकीयाशक्तिकी ही नये रूपमें किस प्रकार उत्पत्ति हो सकती है ? परन्तु जब वह अव्यक्त रूपा रहती है, तब निराकारा रहती है, और भक्तके भक्ति-स्रोतमें प्रदीप्त हो उठनेपर अथवा साधक के साधनफल दातृरूपमें प्रकाशित होनेपर उसका दिव्य रूप देखनेमें आता है।

इस परम तत्त्वके उपदेष्टा भी असाधारण मनस्वी हैं। श्रुति कहती है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

विवेकहीन साधारण पुरुष यदि इस परम तत्वका उपदेश करे तो उससे यह परमार्थ ज्ञान परिस्फुटित नहीं होता, क्योंकि इसका अनेकों प्रकारसे चिन्तन होता है।

बाह्य युक्तितर्क द्वारा भगवत् अस्तित्वका निरूपण करने जाना केवल अनर्गल वाग्विलास मात्र है, उससे कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार 'न' कहा जाता है, उसी प्रकार 'हाँ' भी कहा जाता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

जो उसे अपना जीवन सर्वस्व समझकर सब छोड़कर एकमात्र उसे ही वरण कर लेता है, वही उसे पाता है। शास्त्र आदेश करते हैं—'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगाद्वैहि।' श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगादि अभ्यासोंके द्वारा उसे अवगत करो।

इस श्रद्धाभक्ति द्वारा ब्रह्मकी शक्ति ही अवगत होती है। ब्रह्म निर्गुण है, उसकी केवल सत्ता रूपता ही बोधका विषय है। परन्तु जब तक वह प्रकृतिको ग्रहण करता है अर्थात् उसके भीतर जो इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है वह जब किसी इच्छावश नहीं, स्वतः ही स्फुटनोन्मुख होती है तभी मानो ब्रह्म प्रकृतिको ग्रहण करता है। किन्तु वह शक्ति उसके अपने भीतर ही वर्तमान रहती है। कहीं अन्यत्रसे उसे लाना नहीं पड़ता।

प्रकृतिके साथ ब्रह्मका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् प्रकृति के बिना ब्रह्म नहीं रहता तथा ब्रह्मके बिना प्रकृति भी नहीं रह सकती। प्रकृतिका आश्रय ब्रह्म है और ब्रह्मकी अघटनघटना-पटीय सी शक्ति ही प्रकृति हैं। तिलमें तेलकी तरह प्रकृति ब्रह्ममें सदा अनुलिप्त, अभेद्य सम्बन्धमें जड़ित रहती है। यह प्रकृति जब उसमें तल्लीन रहती तब ब्रह्म निर्गुण कहलाता है। तब वह केवल चिन्मात्र, मन बुद्धिसे अतीत समाधिबोधगम्य मात्र होता है। जब उसमें प्रकृति जाग उठती है तब यह केवल बोधमात्र या शून्यमात्र नहीं रहता, तब यह जड़ातीत होते हुए भी जड़के मध्यमें आकर प्रकाशित होता है। इस प्रकट भावको ही भगवत् कृपा या अनुग्रह कहा जाता है। उस समय मानो चैतन्य और कर्त्तृत्व दोनों उसमें एक साथ दृष्ट होते हैं। इसीलिये कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्मको (पुरुषको) केवल चैतन्य मात्र कहा गया है और उसमें कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वको अस्वीकार

किया गया है परन्तु पुरुष प्रकृतियुक्त होनेपर ही सगुण ब्रह्मके नामसे कीर्त्तित होता है, उस समय उसमें चैतन्य और कर्तृत्व दोनों वर्तमान रहते हैं। किन्तु इस अवस्थाका अभाव होनेपर फिर उसका ईश्वरत्व नहीं रह जाता। ईश्वरत्वके स्थायी भावमें प्रकृति-पुरुषयुक्त भाव ही अनादि है, यही तन्त्र स्वीकार करते है। इस अवस्थाकी कभी किसी कालमें विच्युति नहीं होती। परन्तु निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें जो भाव रहता है उसे निर्गुण भाव कहने पर भी उस समय उसमें ईशित्व नहीं है ऐसी बात नहीं है, अवश्य ही वह तल्लीन रूपमें रहता है।

तुरीय ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म है, मूल प्रकृति उसमें स्वतः विद्यमान रहने पर भी तुरीयावस्थामें प्रकृति उसमें तल्लीन रहती है—कृष्णमें राधा अपने आपको विलीन कर देती है—उसका तब कोई कार्य नहीं रह जाता। फिर निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म जब मायाको अङ्गीकार कर सगुण ब्रह्म या महेश्वर बनता है, तभी उसमें सृष्टिकी इच्छाका उदय होता है। तब—

'स ऐक्षत एकोऽहं बहुस्याम्।

उसी ईक्षणसे प्रकृतिमें प्राणका स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे सृष्टिके मूलपञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः।
वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।' (तैत्तिरीय०)

यह प्रकृति ही मानो ब्रह्मका अधिष्ठान है। यह हमारा शरीर जिस प्रकार हमारे आत्माका अधिष्ठान है, इस देहके

बिना आत्मा रहता ही नहीं, यह बात नहीं है, परन्तु उस समय उसका प्रकाश नहीं रहता, जिस प्रकार इस प्रकाश का क्षेत्र देह है उसी प्रकार प्रकृति ही ब्रह्मका अधिष्ठान या लीलाभूमि है। तुरीय ब्रह्मके साथ इस मूल प्रकृतिका साक्षात् सम्बन्ध है। वह जिस प्रकार चेतन स्वभाववाला है वैसे ही प्रकृति भी चेतन स्वभाववाली है। यह उससे कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यही उसकी–'ममयोनिर्महद्ब्रह्म' यही उसकी जीवभूता, प्राणरूपा परमा प्रकृति है, यह उसके साथ नित्ययुक्त, अच्छेद्यभावसे मिलती है।

प्रकृतिके ब्रह्ममें लीन होनेका अर्थ यह है कि उस समय ब्रह्मकी लीलाशक्ति ब्रह्ममें संकुचित हो जाती है, अर्थात तब उसकी प्रकाश शक्ति या लीला रह नहीं जाती। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके द्वारा ही तो विश्वका खेल होता है, गुणत्रयके न रहने पर फिर विश्वका खेल ही कहाँ होगा। मूलप्रकृति इस गुणत्रयकी जननी अर्थात् गुणत्रयका निद्रास्थान है। गुणक्षोभ होनेपर अर्थात् ब्रह्मकी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उसकी प्रकृतिमें चाञ्चल्य समुत्थित होता है। इस चाञ्चल्यसे ही त्रिगुणोंकी उत्पत्ति होती है। तब तामसिक अंश से महेश्वर और महाकाली, राजसिक अंशसे ब्रह्मा और महा-सरस्वती, तथा सात्त्विक अंशसे विष्णु और महालक्ष्मी प्रकट होते हैं।

ब्रह्मके साथ इनका पारस्परिक सम्बन्ध है। उपनिषदोंके साथ इनका क्रम मिलाकर देखिये।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था: अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।

चक्षु, कर्ण आदि स्थूल इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप आदि श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म हैं, इन्द्रिय विषयसे विषय को ग्रहण करनेवाली शक्ति मन श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म है, मनसे निश्चयात्मिका वृत्ति वा विचारशक्ति—बुद्धि-श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान आत्मा अर्थात् समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ है, हिरण्यगर्भसे अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, प्रकृतिसे परब्रह्म या पुरुष श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। वही काष्ठा या अन्तिम सीमा है और वही श्रेष्ठ गति है; क्योंकि वहाँसे फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

इससे समझा जा सकता है कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक सूक्ष्मभूतादि वा तन्मात्रा जो जगत्के साक्षात् प्रकाशक हैं, स्थूल जगदादि जाग्रत भावसे श्रेष्ठ हैं, उनसे सङ्कल्पात्मक मन (सृष्टिकी उन्मुखता या चाञ्चल्य, स्वप्नावस्था या सूक्ष्म शरीर) सूक्ष्म है ; पुनः इस अवस्थासे सूक्ष्म सङ्कल्पका कारणभूत बीज रूप कारण शरीर या सुषुप्तावस्था श्रेष्ठ है। उससे भी सूक्ष्म समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ है, एवं हिरण्यगर्भसे सूक्ष्म उसका कारण अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, तथा प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ आत्मा है। प्रलय कालमें प्रकृति ब्रह्ममें

लीन हो जाती है, परन्तु उससे जीवको मुक्ति नहीं मिल जाती। प्रकृतिके उत्थानके साथ जीवको पुनः जगत्में आना पड़ता है। परन्तु ब्रह्म अन्तिम सीमा या अवधि है, वहाँ जो पहुँच जाता है, उसकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मके साथ जब प्रकृतिका अविना या नित्य सम्बन्ध है तब प्रकृतिलीन जीवोंकी पुनरावृत्तिका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि जिन जीवोंको ज्ञानोत्पन्न नहीं होता वे प्रलयकालमें अपरा प्रकृतिमें प्रसुप्त हो जाते हैं, वह अपरा प्रकृति परमा प्रकृतिका ही एक अंश है। जिस प्रकार हम गम्भीर निद्राके समय जगत्को भूल जाते हैं, अपनेको भी भूल जाते हैं, परन्तु जाग करके फिर पूर्व-स्मृतिके अनुसार जगत्के कार्य सम्पादन करते हैं। पर जो ब्रह्मलीन हो गये हैं, वे फिर नहीं जगते, इस देहमें पुनः नहीं लौटते क्योंकि ज्ञानके कारण उनका कर्म नष्ट हो जाता है, और कोई स्मृति नहीं होती, अतएव कर्म-चेष्टा भी नहीं होती। इसीलिये उन्हें शरीर ग्रहण करके फिर कर्मक्षेत्रमें विवश होकर लौटना नहीं पड़ता। हम जो प्रतिदिन निद्राके समय सब कुछ भूल जाते हैं, यह अज्ञान-लीन अवस्था है, ज्ञान-लीन नहीं।

प्रकृतिके गुणक्षोभसे जिस प्रकार सत्त्वादि समस्त गुण पृथक्-पृथक् रूपमें भासित हो उठते हैं, उसी प्रकार सर्वप्रथम मूल प्रकृति भी शुद्ध और अशुद्ध भेदसे दो अंशोंमें विभक्त हो जाती है। शुद्ध अंशका नाम परा प्रकृति या विद्या है और अशुद्ध अंशका नाम

अपरा प्रकृति या अज्ञान है। मूल प्रकृति ही महामाया या महाविद्या है। इस महामायासे उद्भूत विद्याशक्तियोंको भी महाविद्या कहा जाता है, क्योंकि उस चैतन्योपहित मूला प्रकृतिसे ये महाविद्याएँ अलग नहीं हैं। निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभावद्वारा परा प्रकृतिमें उपहित होनेपर जो शक्ति उत्पन्न होती है वही सर्वशक्तिमान् शिव या सर्वज्ञ ईश्वर हैं। इसी कारण महादेवीको शिवकी शक्ति भी कहा जाता है तथा उसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव-प्रसविनी भी कहते हैं।

यह शिव-शक्ति-सम्मिलित तत्त्व ही हिरण्यगर्भ या ईश्वर है सांख्यके मतसे भी प्रकृति और पुरुष यह दोनों मूलतत्त्व हैं। यद्यपि हिरण्यगर्भको सर्वविद् और सर्वकर्ता कहा गया है—'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'—तथापि वह जन्य ईश्वर है।

किन्तु तन्त्रमें इसे जन्य ईश्वर नहीं कहा गया है। ब्रह्मकी सिसृक्षासे उसमें स्थित शक्ति स्पन्दित होकर उस निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभाव और उसके साथ शक्तिके विकास (जो उसमें विलीन थी) से जो परम ऐश्वर्यमय शक्ति विकसित होती है वह न ब्रह्म ही है, न मूलप्रकृति ही; परन्तु ब्रह्म और प्रकृतिका सम्मिलन होकर (जिस प्रकार माता-पिताके सम्मिलनसे उत्पन्न पुत्र न वह माता है न पिता) जिस एक अद्भुतकर्मा शक्तिका विकास होता है वही इस जगत्-सृष्टिका मूल (Direct cause) है। इसीको उपलक्ष्यकर महानिर्वाणतन्त्रमें कहा गया है—

नमः सर्वस्वरूपिण्यै जगद्धात्र्यै नमो नमः।
आद्यायै कालिकायै ते कर्त्र्यै हर्त्र्यै नमो नमः॥

सृष्टेरादौ त्वमेवासीत्तमोरूपमगोचरम् ।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं परब्रह्मसिसृक्षया ॥
महत्तत्त्वादिभूतान्तां त्वया सृष्टमिदं जगत् ।
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥

× × ×

सत्यं ज्ञानमनाद्यन्तं अवाङ्मनसगोचरम् ॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ।
करोषि पासि हस्यन्ते जगदेतच्चराचरम् ॥
तव रूपं महाकालो जगत्संहारकारकः ।
महासंहारसमये कालः सर्वं ग्रसिष्यति ॥
कलनात्सर्वभूताना महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात्त्वमाद्या कालिका परा ॥
कालसंग्रसनात्काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्याकालीति गीयसे ॥
पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूप निराकृति ।
वाचातीतं मनोऽगम्यं त्वमेकैवावशिष्यसे ॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी ।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका ॥

सृष्टिके पूर्व एकमात्र तुम ही तमोरूपमें विद्यमान थी, तुम्हारा वह अव्यक्त रूप मन और वाणीकी पहुँचके परे है। पश्चात् परब्रह्मकी (अर्थात् मूल प्रकृतिके साथ तादात्म्यप्राप्त तुरीय ब्रह्म की) सिसृक्षाके अनुसार तुम्हारे ही (अन्य रूपमें) तमोरूप

शक्तिसे निखिल जगत्की सृष्टि होती है। महत्तत्त्वसे लेकर पञ्च-महाभूतपर्यन्त यह समस्त जगत् तुम्हींसे सृष्ट होता है। सब कारणोंका कारण वह ब्रह्म तो केवल निमित्तमात्र है। वह ब्रह्म सत्त्वस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, वह अनादि, अनन्त और मन-वाणीके अगोचर है। हे महायोगिनी! तुम उसकी इच्छामात्रका अवलम्बन कर इस चराचर जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करती हो। जगत्-संहारकारी महाकाल तुम्हारा ही रूपमात्र है। प्रलयकालमें यह महाकाल समस्त जगत्को ग्रास करेगा। सब प्राणियोंको कलन अर्थात् ग्रास करनेके कारण वह महाकाल नामसे प्रकीर्तित होता है। तुम उस महाकालका भी कलन अर्थात् ग्रास कर जाती हो, इसीलिये तुम्हारा नाम आद्याकालिका है। कालको ग्रास करनेके कारण तुम्हीं सबकी आदिभूता या कारण-रूपा हो, इसीसे तुम्हे सब आद्याकाली कहते हैं। फिर महाप्रलय-कालमें वाणी और मनसे अतीत तमोमय निराकार, अव्यक्त स्वरूप अवलम्बन करके एकमात्र तुम्हीं विद्यमान रहती हो। तुम मायाके द्वारा बहुत रूप ग्रहण करती हो, अतः तुम साकार होते हुए भी निराकारा हो। तुम सबकी आदि हो, परन्तु स्वयं अनादि हो। तुम्हीं सबकी सृष्टि करनेवाली, पालन करनेवाली और संहार करनेवाली हो।

इससे यह समझा जा सकता है कि मूल प्रकृतिसे उपहित ब्रह्म अथवा ब्रह्मके साथ अङ्गाङ्गीभावसे मिलित प्रकृति ही आद्याकाली हैं।

जीवके समष्टि अदृश्यसे उत्पन्न भोगकालके उपस्थित होनेसे ही आद्याशक्ति (प्रकृति) में गुणक्षोभ होता है, उस समय सर्वप्रथम तमोगुणका आविर्भाव होता है। चैतन्ययुक्त शक्ति जब इस तमोगुणमें अनुप्रविष्ट होती है तो उसे महाकाल कहते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सत्त्वगुण रजोगुणमें और रजोगुण तमोगुण में लय हो जाता है और तमोगुण प्रकृतिमें लीन हो जाता है। पुनः सृष्टिकालमें आद्याकाली महाकालीको प्रसवकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाती है, यही कालीकी विपरीतरतातुरा मूर्ति है। आद्याशक्ति यदि तमोगुणमें प्रवृष्ट न हो तो जगत्की उत्पत्ति ही कैसे हो? स्त्री-पुरुषके सहयोगसे जिस प्रकार जीवोत्पत्ति होती है, महाकाल और आद्याशक्तिके सहयोगसे उसी प्रकार यह जगत् उत्पन्न होता है।

इस आद्याशक्तिको राधाशक्ति भी कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के मतसे गोलोकके रासमण्डलमें राधिकाने एक डिम्ब प्रसव किया था, उस डिम्बसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर उत्पन्न हुए। यह डिम्ब ही महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व ही त्रिगुण भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरका रूप धारण करता है। वैष्णवलोग इसी कारण राधाकी इतनी भक्ति, इतना सम्मान करते हैं; वस्तुतः इस राधाके विना रास-रसलीला होनेका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। और इसके विना जगत्-सृष्टिकी भी सम्भावना नहीं है। आद्याशक्तिके अनुप्रविष्ट न होनेसे महाकाल तो तमोभूत जडमात्र है, वह सृष्टिलीलाके लिये कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये सुरसिक वैष्णव साधक कहते हैं—

राधासंगे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

यह कृष्णवर्ण तमोगुण ही नवीन-नीरद श्यामसुन्दर हैं, यही महाकाल हैं। गीतामें लिखा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

इस प्रकार तत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर तन्त्रमतानुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्याशक्तिसे नाद (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, नादसे बिन्दु (अहङ्कार-तत्त्व) की उत्पत्ति होती है। अहङ्कार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका है। इन तीन बिन्दुओं (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अहङ्कार) की समष्टिका नाम ही परम बिन्दु है। सात्त्विक बिन्दुका नाम बिन्दु, तामसिक बिन्दुका नाम बीज और राजसिक बिन्दुका नाम नाद है। इन बिन्दु, बीज और नादमें बिन्दु शिवस्वरूप या चिन्मय है, बीज शक्तिस्वरूप या प्रकृतिमय है, एवं नाद उभयात्मक या शिवशक्तिमय है।

बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगेऽभवन्नादास्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥

बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है, एवं इन दोनोंके योगमें नाद है, अत वह शिवशक्त्यात्मक है। इससे त्रिशक्ति अर्थात् ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है। यह ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति ही क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु नामसे आख्यात हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनोंकी समष्टि ही महत्तत्त्व या परमबिन्दु है। यही जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता अथवा ईश्वर हैं। यही सांख्योक्त—'स हि सर्वविद् सर्वकर्ता' है। वेदमें भी कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न होकर समस्त विश्वको उत्पन्न करते हैं और उसके पति या प्रभु बनते हैं। जबतक यह विश्व रहता है, वह तबतक इसके प्रभु बने रहते हैं। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता हैं। उन्हें कोई-कोई ब्रह्मा भी कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह त्रिशक्तिमय ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप अथवा सगुण ईश्वर हैं। वही योगदर्शनके 'पूर्वेषामपि गुरु' हैं। अर्थात् कपिल, नारद, वशिष्ठादि श्रेष्ठतम और प्राचीनतम आचार्योंके भी वह गुरु हैं। इस ईश्वरके प्रणिधानसे निश्चय ही समाधि-सिद्धि या योगकी प्राप्ति होती है। योगदर्शनके भाष्यमें महर्षि व्यास कहते हैं—

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिधानमात्रेण—

प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेषसे उसको आत्मसमर्पण करने पर ईश्वर अभिध्यान के द्वारा उस योगीके ऊपर अनुग्रह करते हैं।

इस उपास्य देवता या परमात्मशक्तिकी सात्त्विकादि गुणभेद से उपासनाकी भिन्नता तन्त्रमें देखी जाती है। और उसी प्रकार साधक और साधनाकी भी तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं।

अधिकारी-भेदसे यह साधनकी भिन्नता हिन्दुओंकी विशेषता है। अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके धर्मसाधनके उपाय और निष्ठा की बात तत्तद् धर्मशास्त्रोंमें एक ही प्रकारकी बतलायी गयी हैं। सबके लिये एक ही नियम निश्चित किया गया है, परन्तु वस्तुतः हम सबकी मनुष्याकृति होनेपर भी हम सभी समान मनुष्य नहीं हैं। जिनको यथार्थ सूक्ष्म दृष्टि (Insight) प्राप्त है, वे इस बातको समझ सकते हैं। वर्तमान युगमें हमलोग 'सबका अधिकार समान है' इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं, परन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है। हम देखते हैं कि एक ही श्रेणीके पाँच छात्र एक ही शिक्षकके द्वारा शिक्षित होते हैं, तथापि उनमें बुद्धिका तारतम्य दिखलायी देता है। और उसीके अनुसार परीक्षामें कोई प्रथम होता है, कोई मध्यम, कोई सबसे निम्न रहता है, तथा कोई दो उत्तीर्ण ही नहीं हो पाता। अत सिर्फ सीनाजोरीसे हम इस अधिकारकी भिन्नता अथवा भेदकी उपेक्षा नहीं कर सकते। गिलहरीके बिलमें सियार और बाघ नहीं रह सकते। प्राचीन कालके ऋषि इस बातको समझते थे, इसीलिये उन्होंने साधकोंकी योग्यताके अनुसार साधनाके स्तर और भेदोंको निश्चय किया था। तन्त्रमें लिखा है—जो ज्ञान-वैराग्ययुक्त पुरुष हैं वे ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकार देखते हैं—

सत्तामात्रं निर्विशेषं अवाङ्मनसगोचरम्।
समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः॥

ततो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन्सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः॥

जिससे अखिल विश्व उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न होकर जिसमें अवस्थान करता है, फिर प्रलयकालमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वही ब्रह्म है। वह सत्तामात्र, निर्विशेष, वाणी और मनके अगोचर है, समदृष्टिसम्पन्न पुरुषको समाधियोगद्वारा इस ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होता है।

बहिरन्तर्यथाकाश सर्वेषामेव वस्तुनाम्।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षीस्वरूपतः॥
(महानिर्वाण० १०। १८। १६)

जिस प्रकार सब वस्तुओंके भीतर और बाहर आकाश रहता है, उसी प्रकार सत्स्वरूप और साक्षीस्वरूप आत्मा स्वरूपत' सर्वत्र ही विद्यमान रहता है।

ज्ञानमात्मैव चिद्रूपो ज्ञेयमात्मैव चिन्मयः।
विज्ञाता स्वयमेवात्मा यो जानाति स आत्मवित्॥
(महानिर्वाणतन्त्र)

चिन्मय आत्मा ही ज्ञान है, चिन्मय ही ज्ञेय है, आत्मा ही स्वयं ज्ञाता है, जो इसे जानते हैं वही आत्मविद् हैं।

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परं ब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥
विहाय नामरूपाणि नित्ये ब्रह्मणि निश्चले।
परिनिश्चिततत्त्वो यः स मुक्तः कर्मबन्धनात्॥

ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत् मायाकल्पित है, एकमात्र परब्रह्म ही सत्य है। यह जानकर मनुष्य सुखी हो जाता है। जो नामरूप परित्यागकर नित्य निश्चल ब्रह्मका याथार्थ्य निर्णय कर सकते हैं वही कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं।

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेनापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसा विदुषां निर्मलात्मनाम्॥

तत्त्वविचार एवं निष्काम कर्मानुष्ठानद्वारा तमोराशिके क्षय होनेपर तथा हृदयाकाशके निर्मल होनेपर तत्त्वज्ञानका उदय होता है।

परन्तु साधारणतः कलिदूषित चित्तमें इस प्रकारके ज्ञानका उदय हो ही नहीं सकता। अतः कलिदोष-दूषित जनोंके लिये तन्त्रमें जो उपाय वर्णित हैं उनकी ही यहाँ आलोचना की जायगी। अब कलिकी अवस्था देखिये—

आयाते पापिनी कलौ सर्वधर्मविलोपिनी।
दुराचारे दुष्प्रपंचे दुष्टकर्मप्रवर्त्तके॥
न वेदा प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः।
तदा लोको भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः॥
उच्छृङ्खला मदोन्मत्ताः पापकर्मरताः सदा।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः॥
स्वल्पायुर्मन्दमतयो रोगशोकसमाकुलाः।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाचारपरायणाः॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्तापहारकाः।

परनिन्दापरद्रोहपरिवादपराः खलाः ॥
परस्त्रीहरणे पापशंकामयविवर्जिताः ।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः ॥
विप्राः शूद्रसमाचाराः सन्ध्यावन्दनवर्जिताः ।

इत्यादि ।

ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत् केवलं सूत्रधारणम् ।
नैव पानादिनियमो भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम् ॥
धर्मशास्त्रे सदा निन्दा साधुद्रोहो निरन्तरम् ॥

इत्यादि ।

अत: इस प्रकारके कलियुगमें (१) दिव्यभाव (२) पशुभाव और (३) वीरभावकी साधना असम्भव है। कलिकालमें पशु-भाव ही होना कठिन है—'पशुभाव कलौ नास्ति', फिर दिव्य-भावकी तो बात ही क्या है? दिव्यभावापन्न व्यक्तिको सदा देवताके समान शुद्ध अन्तःकरण, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेषवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होना चाहिये। इस कलियुगमें ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि लतासाधन आदिके द्वारा शीघ्र ही कुछ सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु सदा अस्थिर-चित्त, निद्रालस्य और प्रमादग्रस्त कलिदोषदूषित जीवोंके लिये यह सब साधन अत्यन्त ही विघ्नमय हैं। वीर साधनके लिये पञ्चमकार-रूपी पाँच तत्त्व अपरिहार्य हैं किंतु कलिकालके शिश्नोदरपरायण लुब्ध जीव इन पञ्चतत्त्वोंको लेकर साधन तो करेंगे नहीं, उलटे लोभवश इनमें आसक्त होकर ज्ञानशून्य पापाचारपरायण हो

जायँगे। पञ्चतत्त्वकी दुहाई देकर दुर्बलचेता, पापिष्ठ मनुष्य अगम्या-गमन करनेमें भी मुँह न मोड़ेंगे। इसी कारण कलियुग में इस प्रकारके साधनका शिवजीने निषेध किया है। यह सारे साधन तीक्ष्णधार तलवारके साथ खेल करनेके समान हैं। एक बार गिर गये तो फिर कहीं भी खड़े होनेतकको जगह नहीं है। जिनके चित्त कलिदोषदूषित नहीं हैं, जो अत्यन्त ही संयत और भगवद्भजनशील सत्यव्रत और सत्यपरायण हैं वे यद्यपि इन सब प्रणालियोंके द्वारा शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं तथापि इस युगके लिये, तो इस प्रकारकी साधना विषका काम करेगी। कलियुगमें द्रव्य, मन्त्र और ब्राह्मणशुद्धिके अभावमें श्रौत और स्मार्त कर्मादि भी पूर्वकी भाँति फलप्रद नहीं होते।

निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव।

समस्त वैदिक मन्त्र विषहीन सर्पके समान निर्वीर्य हो गये हैं। कलिकालमें वैदिक आचारोंकी रक्षा करनेमें प्रायः सभी असमर्थ हैं। इसका कारण द्रव्यादि शुद्धिका अभाव है। अत पद-पदपर सबको आचारभ्रष्ट होना पड़ता है। और आचार-भ्रष्ट होनेपर कोई वेदफल प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् मनु कहते हैं—

आचाराद्धि च्युतो विप्रः न वेदफलमश्नुते।

यही क्यों शूद्रराज्यमें बसनेपर ही वैदिक कर्मोंका पालन नहीं हो सकता। मनु भगवान् कहते हैं—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।

इन सब विषयोंका विचार करके कलिग्रस्त जीवोंके लिये शिवजी ब्रह्मदीक्षाका उपदेश करते हैं। महानिर्वाण-तन्त्रमें लिखा है—

> कलौ पापयुगे घोरे तपोहीनेऽतिदुस्तरे।
> निस्तारबीजमेतावद् ब्रह्ममन्त्रस्य साधनम्॥
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव सत्यं सत्य मयोच्यते।
> ब्रह्मदीक्षा विना देवि कैवल्याय सुखाय च॥

तपस्याविहीन, पापमय, अति दुस्तर इस घोर कलियुगमें ब्रह्ममन्त्रकी साधना ही एकमात्र निस्तारका उपाय है। हे देवि! मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि कलियुगमें सुख और मुक्ति प्रदान करनेवाला साधन ब्रह्मदीक्षाके अतिरिक्त दूसरा नहीं है।

अनेकों साधनोंकी बात तन्त्रमें होते हुए भी कलिके जीवोंके लिये शिव कहते हैं—*'कलौ दुर्बलजीवानां असाध्यानि महेश्वरि!'*—कलिके दुर्बल जीवोंके लिये अन्य समस्त साधन असाध्य हैं।

किसी बाह्य अनुष्ठानके बिना केवल ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासके द्वारा ब्रह्मसाधना सिद्ध होती है, केवल सत्यासत्य-निर्णयके चिन्तन द्वारा ही ब्रह्मसाधना अनुकूल होती है, इसी कारण अन्यान्य साधनोंकी अपेक्षा यह सुख-सम्पाद्य है।

परन्तु इस ब्रह्मसाधनाकी बात कहकर देवीके प्रश्नानुसार पुनः सदाशिव देवीकी उपासनाकी बात कहते हैं—यही कुलाचार-सम्मत साधना है। ब्रह्मसाधनाके पश्चात् पुनः पञ्चतत्त्वोंके द्वारा साधना मुक्तिप्रदानकारिणी है, ऐसा क्यों कहा गया है, यह

अवश्य विचारणीय विषय है। इसमें शिवजीका क्या उद्देश्य है, इसे बिना समझे तन्त्रोक्त साधनाका मर्म नहीं जाना जा सकता।

यह ठीक है कि ब्रह्मसाधना और भगवतीकी साधनामें तत्त्वतः वैसा कोई भेद नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसाधनामें जिसकी उपासना होती है, भगवती आद्याशक्तिकी साधनामें भी उसीकी उपासना होती है। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्मकी साधना होती ही नहीं। होती है मूलप्रकृतिसे उपहित निर्गुण ब्रह्मकी साधना अथवा निर्गुण ब्रह्म उपहित मूलप्रकृतिकी। इसमें प्रथम उपासनाका नाम है ब्रह्मोपासना और दूसरी उपासनाका नाम आद्याशक्ति या भगवतीकी उपासना। इसीलिये वस्तुतः ये दोनों ही उपासना ब्रह्मोपासना हैं। फल भी दोनोंका समान ही है। परन्तु दोनों उपासनाकी प्रणालियोंमें बड़ा भारी भेद है। ब्रह्मोपासना और मूलप्रकृतिकी उपासनाकी फल-साम्यता के विषयमें कुछ कहना नहीं है, क्योंकि सदाशिव कहते हैं—

> शृणु देवि महाभागे तवाराधनकारणम्।
> तव साधनतो येन ब्रह्मसायुज्यमश्नुते॥
> त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
> त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥

हे देवि! तुम्हारी आराधना क्यों करनी चाहिये, तथा तुम्हारी आराधनाके द्वारा क्यों ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है—इसका कारण सुनो। साक्षात् ब्रह्म या परमात्माकी तुम्हीं परा प्रकृति हो अतः केवल तुम्हारे ही साथ उसका साक्षात् और नित्य सम्बन्ध

है। हे देवि! तुमसे ही समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, अतएव तुम्हीं अखिल विश्वकी एकमात्र जननी हो।

यदि दोनोंकी उपासना एक ही है, तो विभिन्न प्रणाली क्यों प्रचलित हुई है? जो कुछ स्थूल-सूक्ष्म है सभी तो ब्रह्म और प्रकृतिविशिष्ट है, अतएव सब कुछ ब्रह्म-शरीर है। ब्रह्म नामसे जो पहले निर्गुण निराकार था उसे 'माँ' सम्बोधन करते ही मानो वह इन्द्रियबोधगम्य होने लगा। क्रमशः यह समझमें आने लगा कि जो स्थूल है वही सूक्ष्म है, तथा जो सूक्ष्म है, वही स्थूल है। जो निराकार और इन्द्रियोंके लिये अगम्य था वही साकार होकर इन्द्रियज्ञानका विषय बन गया। जो वाष्पाकार था वह घन होकर जल और अन्तमें तुषाराकार हो गया। परन्तु इस साकार और निराकारमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है। हम सोचते हैं कि वह हमें इन नेत्रोंसे नहीं दीख सकता; परन्तु इस विश्वरूपमें हमें किसकी मूर्ति दीखती है? क्या इस रूपमें कोई दूसरा है? क्या यह वही नहीं है? इस स्थूलरूपमें भी वही है। इसीसे कवि कहता है—

चोखे धूला आर माटी—
प्राण-रसनाय देख रे चेखे रसेर सँगे खाँटी।

जिसे इन नेत्रोंसे धूल-मिट्टी समझकर उपेक्षा करते हो, एक बार प्राणकी जीभसे उसे चखकर तो देखो, तुम्हें इन धूलके कणोंमें उसीका दिव्य रूप सुशोभित दीखेगा। इसीलिये श्रुति

कहती है—'मधुमत्पार्थिवं रजः'—एक बार मधुका आस्वादन पा लेनेपर फिर समस्त ज्ञानद्वारोंसे केवल मधु ही झरने लगता है, सारी वस्तुएँ मधुमय दीखने लगती हैं। परन्तु हमें दृष्टिदोषका संशोधन करना होगा, इसीका नाम साधना है। हिरण्यकशिपुने इस विश्वमें कहीं भगवान्‌को नहीं पाया, यह ठीक है, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न प्रह्लादकी दृष्टिमें तो वह कहीं नहीं छिप सका, उसने सब जगह उसीको देखा। इसी देखनेको दिव्यदृष्टि या साधनदृष्टि कहते हैं। इस प्रकार भगवान् इन्द्रियोंके लिये अगोचर होते हुए भी ज्ञानियोंके ज्ञाननेत्रमें और भक्तोंके शुद्धान्तःकरणमें—'रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्'—भगवान्‌की दिव्य कमनीय मनोमुग्धकारी दुःखनाशक मूर्ति प्रकट हो जाती है। यही बात महानिर्वाणतंत्रमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि।
दानवानां विनाशाय धत्से नानाविधास्तनूः॥

उपासकोंकी कार्यसिद्धिके लिये, जगत्‌के मङ्गलके लिये तथा दानवोंके विनाशके लिये तुम समय-समयपर अनेकों प्रकारके शरीर धारण करते हो।

जब भाफ और बरफ एक ही वस्तु है तब यदि बरफको देखकर ज्ञानकी स्पष्टता बढ़ती है तो फिर बरफ देखनेको नीचा क्यों माना जाय? जड़ जड़ नहीं है, वह भी चेतन है। जड़भावापन्न अकवि पुरुष उसे साकार कहें या निराकार बतलावें, उनके चित्तमें कोई भावना नहीं जम सकती। क्योंकि वहाँ उस

दिव्यदृष्टिका अभाव है। और जहाँ प्राण है, वास्तविक प्रेम है वहाँ परमात्मा बालिका कन्याका वेश धारणकर पिताके सांसारिक कार्यमें भी सहायता करने आते हैं। यह एक अपूर्व भावराज्यकी बात है, यह उपेक्षा करनेकी वस्तु नहीं है। रामप्रसादके जीवनमें इसका प्रमाण मिलता है।

देश, काल और अधिकार-भेदसे नाना प्रकारके आचार और भावके भेद दिखलायी देते हैं। इसलिये जो जिस प्रकारकी साधना का अधिकारी है वह यदि उसी प्रकारके मार्गका अवलम्बन करे तो उससे ठीक फलका भागी होकर संसारसागरसे पार हो सकता है।

कौलाचार

यह घोर कलिकालका समय है ऐसी अवस्थामें जो साधना सुगम है उसीका तन्त्रमें उपदेश दिया गया है। वह कौलाचार कहलाता है और वह ब्रह्मसाधनाके ही समान है। बहुतेरे इसपर सोचने लगेंगे कि तब क्या अन्यान्य साधना कलियुगमें निष्फल है? ऐसी बात नहीं है, यदि यही बात होती तो युगभेदसे होने वाला साधनभेद भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें अवश्य बतलाते। यहाँतक कि, भगवद्गीताके परवर्ती भगवान्के उपदेश उत्तरगीता, देवीगीता तथा ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रमें सर्वत्र ही ज्ञानका उत्कर्ष स्वीकृत किया गया है। एवं ज्ञानप्राप्तिके उपायस्वरूप योगादि मार्गोंका बारम्बार उल्लेख किया गया है। तन्त्रमें भी इसके विपरीत मार्गका अवलम्बन नहीं किया गया है। तन्त्रमें आध्यात्मिक मार्गके उपायरूपसे चार प्रकारके मार्गोंका उल्लेख किया गया है—

(१) पश्वाचार (२) वीराचार (३) दिव्याचार (४) कौलाचार। इनमें वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचारमें उपदिष्ट आचारका अवलम्बनकर जो साधनाकी जाती है वही पश्वाचार है। अज्ञानपाशमें बद्ध जीवको पशु कहा गया है। अर्थात् ऐसे साधक अत्यन्त संसारासक्त, सकामी होते हुए भी आस्तिक्यबुद्धिसम्पन्न और आचारनिष्ठ होते हैं। इनकी पूजाका उद्देश्य नित्यक्रियाके अनुकूल परलोकमें स्वर्गफलकी प्राप्ति और इहलोकमें सांसारिक विषयोंमें उन्नतिलाभ करना होता है। इसमें आत्मा या आत्मज्ञानके सम्बन्धमें अथवा भगवान्को निज-बोध करनेमें तनिक भी उत्कण्ठा नहीं होती। यह देहाभिमानके पाशसे बद्ध संसारासक्त जीवकी संसारगति प्राप्तिका मार्ग है, अतएव यह बद्धभाव है—अज्ञान—मोहरूपी फाँसीसे बँधा भाव है। यह उत्कृष्ट मार्ग नहीं है, इसे विशेषरूपसे समझानेकी आवश्यकता नहीं। इसमें पञ्चतत्त्वोंके गौणभावसे देवताकी आराधना होती है। पञ्चतत्त्वके मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन—इन शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ अथवा मुख्यार्थ हैं। तथा इनके गौण अर्थ भी हैं। बहुतेरे यह समझनेमें बड़ी भूल करते हैं कि इन शब्दोंद्वारा जिन बाह्य विषयोंकी भावना होती है, वही इनके मुख्यार्थ हैं। परन्तु यह बात नहीं है, वह तो अपेक्षाकृत गौण है। क्योंकि इन वस्तुओंका सेवन करनेवाला निम्नाधिकारी साधन करनेके लिये बैठे तो अभ्यास न होनेके कारण उचित समयतक बैठकर साधन करनेमें वह समर्थ न होगा। इसी कारण गुरुके सम्मुख गुरुके आदेश

के द्वारा इन गौण द्रव्योंका मर्यादित व्यवहार करके साधन करना होता है। इससे वृत्तिका संयम होता है और कुछ-न-कुछ फलकी प्राप्ति भी होती ही है। किन्तु जो लोग इन पदार्थोंको लेकर अपनी जघन्यवृत्तिको चरितार्थ करनेकी इच्छा करेंगे, ऐसे शिष्यको गुरु गुरुचक्रसे दूर कर देंगे। यदि इसीकी मुख्यता स्वीकारकी जाय तो महानिर्वाणतन्त्रगत देवीके मुखारविन्दसे निकले हुए इन व्याकुलतापूर्ण शब्दोंका क्या अभिप्राय होगा? देवी कहती है—

कलिकल्मषयुक्तानां सर्वदाऽस्थिरचेतसाम्।
निद्रालस्यप्रसक्तानां भावशुद्धिः कथं भवेत्॥
वीरसाधनकर्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च।
मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च।
एतानि पञ्चतत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शङ्कर॥
कलिजा मानवा लुब्धाः शिश्नोदरपरायणाः।
लोभात्तत्र पतिष्यन्ति न करिष्यन्ति साधनम्॥
इन्द्रियाणां सुखार्थाय पीत्वा च बहुलं मधु।
भविष्यन्ति मदोन्मत्ता हिताहितविवर्जिताः॥
परस्त्रीधर्षकाः केचिद् दस्यवो बहवो भुवि।
न करिष्यन्ति वै मर्त्याः पापा योनिविचारणम्॥

पापोंसे कलुषित, सर्वदा अस्थिरचित्त, निद्रालस्यपरायण कलिके जीवोंकी भावशुद्धि कैसे होगी? वीरसाधनके विषयमें आपने पञ्चतत्त्वोंको अपरिहार्य बतलाया है, परन्तु कलिकालके

मनुष्य लोभी और शिश्नोदरपरायण होते हैं। वे लोभवश होकर इन पञ्चतत्त्वोंमें पतित और आसक्त हो जायँगे, कुछ भी साधनादि न करेंगे। केवल इन्द्रियसुखके लिये अपरिमित मद्य-पान करके मदोन्मत्त हो हिताहितज्ञानसे रहित हो जायँगे। उनमेंसे कोई-कोई मदोन्मत्त होकर परस्त्रीके सतीत्वको नष्ट करेंगे, तथा कोई-कोई दस्युवृत्तिमें प्रवृत्त होंगे। वे पापिष्ठ मत्त होकर गम्य और अगम्य योनिका विचार न करेंगे।

इससे समझा जा सकता है कि मद्यपान इस साधनाके उद्देश्यका साधक कदापि नहीं हो सकता, तथापि इनमें जो कुछ गौण उद्देश्य था उसे यहाँ व्यक्त किया गया है।

साधनके गौण रूपमें सहायक इन वस्तुओंके ग्रहणकी जो विधि है, उससे यह समझ लेना ठीक न होगा कि तन्त्रमें इन्हीं वस्तुओंको साधनका एकमात्र मुख्य उपाय माना गया है। साधन करना ही साधकका लक्ष्य है, उस साधनामें कुछ सहायता करने के उद्देश्यसे ही पञ्चतत्त्व गृहीत हुए हैं, परन्तु जिस साधककी साधनामें ये सहायता न करके विघ्न उत्पादन करते हैं, उस साधक के लिए ये सर्वथा अस्पृश्य और उपेक्षणीय हैं।

वीर साधकोंके लिये ये साधनाके अङ्गरूपमें क्यों गृहीत हुए हैं; इसपर तनिक स्थिर भावसे विचार करने पर इसका उद्देश्य समझमें आ सकता है। वीर साधकका वीरत्व ही यही है कि वह तेजधार तलवार लेकर खेलका कौशल दिखलावे, परन्तु कहीं उससे तनिक भी चोट न खा जाय। तलवारको लेकर खेल करते-

करते जिसने अपने सारे शरीरको ही लहू-लुहान कर दिया, फिर वह वीर ही कैसा? उसका तो इन वस्तुओंको लेकर खेल करना मूर्खता ही है। जिसमें सामर्थ्य है, जो वीर है उसीके लिये इस प्रकारका खेल दिखलाना शोभाजनक है। तन्त्रोक्त वीर साधकको भी जब ये पञ्चतत्त्व तनिक भी विचलित नहीं कर सके तभी समझना चाहिये कि वह वीर है, और इस प्रकारकी साधना उसे कभी पथभ्रष्ट या लक्ष्यभ्रष्ट नहीं कर सकती। जब ये सारी उन्माद पैदा करनेवाली वस्तुएँ भी मनुष्यके चित्तको विक्षिप्त और उन्मत्त नहीं कर सकें तभी समझा जा सकता है कि वह यथार्थ वीर है, तथा उसकी साधनाका उपकरण भी यथार्थ वीरके समान ही होगा।

साधारणतः ये वस्तुएँ मनुष्यको उन्मत्त करती हैं, इसीलिये साधारण मनुष्यके लिये इनका अस्पृश्य होना विचार-संगत है। परन्तु सदा ही यदि ये मनुष्यको आकर्षण करके मोहकूपमें गिराती रहें, तथा सदा ही मनुष्य इनके भयसे यदि अधीर रहे; तो वह कभी भी इन प्रवृत्तियोंसे ऊपर नहीं उठ सकेगा। यदि मनुष्य यथेष्ट साधन-भजन करने पर भी इन वस्तुओंके देखते ही इनके लिये लोलुप हो उठता है, तो साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त करनेकी सम्भावना उसके लिये कैसे हो सकती है? तब तो शिक्षा, दीक्षा, साधना सभी वृथा हो जायगी। अपनेमें जो कच्चापन था, वह तो बना ही रहा, जल लगने मात्रसे हम गल गये। इस प्रकारसे तो काम नहीं चलेगा इसीलिये जब साधक पक्के हो जाते हैं, तब ये तत्व उनको आकर्षण नहीं कर सकते, वरन् इनके द्वारा

वे कितने ही सामयिक कार्योंको सिद्धकर सकते हैं। अतएव जिनका चित्त इन तत्त्वोंके संसर्गमें आकर गल नहीं जाता, उन्हें ही वीर साधक समझना चाहिये किन्तु केवल मुँहसे वीर कहने मात्रसे ही काम न चलेगा, परीक्षा देनी पड़ेगी।

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—यदि साधककी चित्तवृत्ति विकारका कारण उपस्थित होने पर भी विकृत न हो तभी उन्हें धीर कहा जा सकता है।

कापुरुषके समान कोई-कोई कह सकते हैं कि जिस पथमें भय है, उसमें जानेका प्रयोजन ही क्या है? निश्चय ही भयके मार्गमें न जानेसे स्थूल भयके दर्शनसे तो हम वञ्चित रह जाते हैं, परन्तु मनकी भयशून्यता रूप अभयभावको तो प्राप्त नहीं होते; हमारे मनसे भयका संस्कार तो दूर नहीं हो जाता। हम यदि सदा ही माता-पिताकी गोदपर चढ़े रहें तो इसमें आराम अवश्य मिलेगा, पैदल चलनेमें गिरनेका डर है इस भयसे चलने का अभ्यास न करने पर गिरनेसे तो हम बचेंगे परन्तु इससे हम सदाके लिये पंगु ही बने रहेंगे। चलने लायक कभी नहीं होंगे।

- इस पंगुत्वसे, इस विभीषिकासे जीवको अभय करनेके लिये ही तन्त्रकी इस अद्भुत साधनाका आविष्कार हुआ है। तन्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रग्रन्थोंमें वीर साधककी प्रशंसा दिखलायी देती है। शास्त्रान्तरमें लिखा है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयानुपसेवमानो
धीरो न मुञ्चति मुकुन्दपदारविन्दम्।

संगीतवाद्यपरिवृत्तवश गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥

धीर व्यक्ति बारम्बार विषय सेवन करते हुए भी मुकुन्द-पदारविन्दसे पृथक् नहीं होते। जिनका मन गोविन्दचरणारविन्द में रत हो गया है, उसका मन बाह्य विषयोंके उपभोग कालमें भी भगवान्के चरणाम्बुजमें लगा ही रहता है। वह सहस्रा कर्मोंमें लगे रहने पर भी मुख्य लक्ष्यको कभी नहीं भूलते। जिस प्रकार नटी यद्यपि घडा मस्तक पर रखकर अनेकों हाव-भावसे नृत्य करती है, तथा उसके संगीतका तान भी अनवरत अटूट भावसे चलता है, तथापि सिरके घडेके ऊपर उसका अटल लक्ष्य बना रहता है—वैसा न होनेसे उसका घडा सिरसे गिर जाता, इसी प्रकार जो साधक संसारके सब कर्मोंमें लिप्त रहते हुए भी गोविन्द को कभी नहीं भूलते, वही यथार्थ धीर हैं और यही यथार्थ वीर साधक हैं। ये वीर साधक इस प्रकार मस्तक पर अग्नि लेकर, दोनों हाथोंमें तलवार लेकर जिस प्रकार अपने विविध रूपसे अङ्गसञ्चालनके द्वारा खेल दिखलाते हैं, तन्त्रोक्त वीर साधक भी उसी प्रकार विमुग्धकारिणी वस्तु लेकर साधन करते हैं, तथापि वे वस्तुएँ उन्हें कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं करतीं। समय-समय पर युग-युगमें अनेक वीर साधकोंके चरण-स्पर्शसे यह धरणी पवित्र हुई है। विचारपूर्वक देखनेसे मालूम हो जायगा कि हमारे पुराणोंमें वर्णित ध्रुव-प्रह्लाद आदि सभी वीर साधक थे। प्रह्लादके सामने सहस्रों प्रलोभन आये, ध्रुवके सम्मुख कितने भीषण दृश्य आये—

तथापि उनको अच्युत चरणसे विच्युत करनेका सामर्थ्य किसीमें न हुआ। यदि वे इन सब भयङ्कर और मोहक द्रव्योंमें परीक्षा देनेका अवसर न पाते, तो क्या उनकी सात्विक शक्तिका परिचय जगत्को कभी मिलता ?

दिव्याचार

—जो दिव्यभावके साधक हैं वे इसकी अपेक्षा भी उच्चावस्था सम्पन्न पुरुष हैं, उनको नीचा दिखला सकनेकी शक्ति किसी सांसारिक वस्तुमें नहीं है। कोई भी प्रलोभन उन्हें मुग्ध या विचलित नहीं कर सकता। दिव्य भावापन्न साधक नर देव हैं। वे निरन्तर सन्तोषी, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेष विवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होते हैं। गीताके बारहवें अध्यायके उत्तम भक्तके लक्षणोंके साथ उनके सारे लक्षण मिल जाते हैं। वीर साधकोंके समान उनको अपनी असाधारण शक्ति प्रदर्शन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वे अपने शत्रुओंको सहजही अपने ऐसे सेवक बना लेते हैं मानों वे उनके घरके सदासे जाने-पहचाने हुए पुराने नौकर ही हों।

बाघको दबाकर उसे पराक्रम प्रकाशित न करने देना, अथवा उसके दोनो पैरोंको पकड़कर चक्रवत् घुमाकर तमाशा दिखलाना असाधारण शक्तिका परिचायक अवश्य है, परन्तु वह व्यक्तिविशेषका वीरत्व मात्र है, उसे देवत्व नहीं कह सकते। जब भेदभाव विकसित होता है तब बाह्य बलविक्रम या योगशक्तिका प्रभाव दिखलानेका प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो सर्वदा उसे

दिव्यशक्तिद्वारा विमण्डित कर रखता है, इसीसे उसका हृदय सर्वदा प्रशान्त रहता है, उसमें लेशमात्र भी उद्वेग या आशङ्का नहीं रहती उसमें एक ऐसा अपनेको भुला देनेवाला भाव रहता है, समस्त विश्वको अपना लेनेका एक ऐसा स्वाभाविक प्रेम उसके अन्तरमें उत्पन्न होता है, जिससे व्याघ्र सिंह आदि जीव भी उसे देखकर अपने स्वाभाविक हिंस्र भावको भूलकर भेदभावमें निमग्न हो जाते हैं। यही समाधिमग्न योगीका परम दिव्यभाव—आत्म-साक्षात्कार ज्ञानीकी अपरोक्षानुभूतिकी चरम सीमा है। इसकी साधना कौलाचारकी मानस पूजामें प्रारम्भ होती है, तथा दिव्य समरसमें निमज्जित हो जाना ही इसका अवसान है। यहाँ उसी दिव्याचारकी प्रारम्भिक मानस पूजाकी विधि शास्त्रानुसार उद्धृत की जाती है।

> हृत्पद्ममासनं दद्यात् सहस्रारच्युतामृतैः ।
> पाद्यं चरणयोर्दद्यात् मनस्त्वर्घ्यं निवेदयेत् ॥
> तेनामृतेनाचमनीयं स्नानीयं तेन च स्मृतम् ।
> आकाश तत्त्वं वस्त्रं स्याद् गन्धः स्याद्गन्धतत्त्वकम् ॥
> चित्तं प्रकल्पयेत्पुष्पं धूपं प्राणान्नियोजयेत् ।
> तेजस्तत्त्वञ्च दीपार्थे नैवेद्यं स्यात्सुधाम्बुधिः ॥
> अनाहत ध्वनिर्घण्टा वायुतत्त्वञ्च चामरम् ।
> सहस्रारं भवेच्छत्रं शब्दतत्त्वञ्च गीतकम् ॥
> नृत्यमिन्द्रियकर्माणि चाञ्चल्यं मनसस्तथा ।
> सुमेखलां पद्ममालां पुष्पं नाना विधं तथा ॥

अमायाद्यैर्भाव पुष्पैरर्चयेद्भाव गोचरम्।
अमायमनहङ्कारं अरागममदं तथा॥
अमोहकमदम्भञ्चाद्वैषाक्षोभकौ तथा।
अमात्सर्यमलोभञ्च दशपुष्पं विदुर्बुधाः॥
अहिंसा परमं पुष्प पुष्पमिन्द्रिय निग्रहः।
दया पुष्पं क्षमा पुष्पं ज्ञानपुष्पञ्च पञ्चमम्॥
इति पञ्चदशैर्भावपुष्पैः सम्पूजयेच्छिवम्।
कामक्रोधौ छागवाहौ बलिं दत्त्वा प्रपूजयेत्॥

इस मानसपूजापर विचार करनेसे समझमें आ जा सकता है कि दिव्यभाव द्वारा परिपूर्ण पुरुषके लिए मांसाहार करने या मदोन्मत्त होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है।

मुखसे केवल यह कहकर कि 'अपने हृदयपद्मको तुम्हारे आसन रूपमें मैंने दिया' मन्त्र पढ़ देनेसे ही आसन देना नहीं बनता। साधकको अनुभव करना पड़ेगा कि हमारे हृदयासनपर भगवान् बैठे हैं। हृदयमें दूसरी कोई झलक न उठे और न दूसरी कोई आशा ही जागृत हो। जो अपने हृदयके अधीश्वर हैं, भक्त केवल उन्हींको हृदयमें अनुभव करते हैं। इसी अवस्थामें हृदयासन उनके लिए अर्पित होता है। उसी प्रकार सहस्रारच्युत अमृत पाद्यरूपमें देना पड़ता है। किन्तु इसकी केवल मनमें कल्पनाकर देनेसे ही काम न चलेगा। जब यथार्थ रूपसे साधकके सहस्रारसे सुधा स्रवित होती है, तब उसके द्वारा साधक भगवान् के चरण प्रक्षालन करता है। वे चरण भी अद्भुत हैं, और

उनका प्रक्षालन भी एक अद्भुत रहस्य है। तत्पश्चात् मनको अर्घ्य बनाकर उन्हें समर्पण करना होगा। जो वस्तु दे दी जाती है, वह फिर अपनी नहीं रह जाती—इस मनको अर्घ्य रूपमें निवेदन कर देना होगा, जिससे वह फिर हमारे संकल्पोंका वाहक न रह जायगा। तब मन सदाके लिए विष्णुके परम पदमें अपने आपको लीन कर देगा। फिर इस पूजाके लिए पुष्प भी कितने सुन्दर हैं! दयापुष्प, क्षमापुष्प, ज्ञानपुष्प, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रहरूप परमपुष्प—और भी अनहङ्कार, अनासक्ति, अमद, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ आदि कितने सुन्दर-सुन्दर पुष्प हैं! इन पुष्पोंका चयन किये बिना इस पूजा का आयोजन ही कैसे होगा? इसीलिए सर्वत्र चरित्रबल, साधन-बलकी प्राप्ति होनेपर इस पूजाका पुजारी बना जा सकता है। यही दिव्याचारका मार्ग है।

कौलाचार

यह कौलाचार एक बड़ा ही जटिल विषय है। परन्तु तन्त्रमें इसकी बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। इसकी साधना वीराचारके ही समान है। परन्तु इसमें वीरता दिखानेकी अपेक्षा वीर बननेकी साधनाकी ओर ही विशेष लक्ष्य रक्खा जाता है। वीराचारकी साधनामें पहले से ही कुछ वीर होना, कुछ प्रकृत वीरत्वका होना परमावश्यक है, नहीं तो पतन अवश्यम्भावी हो जायगा। कुला-चारकी प्रणालीमें भी पञ्चतत्त्वोंका व्यवहार प्रचलित है अवश्य, परन्तु वह मत्स्य-मांसासक्त व्यक्तिको संयम-पथमें लानेकी एक

चेष्टा मात्र है। जो साधनहीन पुरुष इन पञ्च मकारोंमें डूबे हुए हैं, उनके उस घोर नशेको उतारनेके लिए, उन्हें और भी उच्चतर श्रेष्ठतर दिव्य मदका मार्ग दिखलानेके लिये जीवोंके प्रति भगवान सदाशिवकी अद्भुत करुणा इस साधनामें प्रकाशित होती है।

भोगोंके पीछे पागल हुए मनुष्योंको भोगोंसे छुड़ाकर मोक्ष सुखका स्वाद चखानेके लिये ही ऐसी व्यवस्था की जाती है।

भोगवारुणीके साथ मोक्षकी शान्त सुधा मिला दी जाती है, इसी कारण कौलाचारको भोगमोक्षपथ के नामसे पुकारते हैं। लक्ष्य तो केवल मोक्ष है, और भोग केवल उपलक्ष्य मात्र है, मोक्ष लक्ष्य या उपेय है और भोग उसका उपाय या साधन है। जो बालक औषधि नहीं खाना चाहता, उसे जिस प्रकार वैद्यराज खाँड या लड्डूका लोभ दिखलाकर औषधि लेनेके लिये प्रलुब्ध करते हैं—यह भी प्राय: वैसी ही बात है। मोक्षकी इच्छामें भोग के उपकरण द्वारा भोगको संयत करना ही इसका उद्देश्य है। तन्त्रमें कुलाचारके सम्बन्धमें लिखा है—

यत्रास्ति भोगबाहुल्यं तत्र योगस्यका कथा।
योगेऽपि भोगविरत: कौलस्तूभयमश्नुते॥

जहाँ भोगबाहुल्य है, वहाँ फिर योगप्राप्ति सम्भव नहीं है, फिर जहाँ योगानुष्ठान है, वहाँ भोग नहीं रह सकता। परन्तु कुलाचारमें प्रवृत्त होनेपर साधक भोग और योग दोनोंको प्राप्त करते हैं। इसी कारण यह पथ अपेक्षाकृत सहज और इस युगके लिये उपयोगी माना जाता है। इसमें पञ्चतत्त्वोंका स्थूल

भावमें ग्रहण करने पर भी इनके व्यवहारके जो नियम हैं (अर्थात् पञ्चतत्त्व शोधन करके व्यवहार करनेकी प्रणाली) तथा उसकी शोधन प्रणाली भी इस प्रकार साधनाङ्गके साथ जोड़ दी गयी है कि उसमें भोगका नाम मात्र ही रह जाता है—भोगवासना तृप्त करनेका अवसर ही नहीं रह जाता। पहले यह बात कही जा चुकी है कि इन तत्त्वोंके द्वारा जो साधनाका अनुष्ठान है वह भोगार्थ नहीं है, इन प्रवृत्तियोंसे छूट जाना ही इस साधनाका उद्देश्य है। महानिर्वाण तन्त्रमें लिखा है—

कुलाचारगता बुद्धिर्मवेदाशु सुनिर्मला।
तदाद्याचरणाम्भोजे मतिस्तेषा प्रजायते॥

'कुलाचारके अनुवर्ती होनेपर बुद्धि शीघ्र ही निर्मल हो जाती है, तथा बुद्धिकी निर्मलतासे जगज्जननी आद्याके चरणकमलमें स्थिर बुद्धि अर्थात् दृढ़ मति उत्पन्न होती है।'

इससे समझा जा सकता है कि बुद्धिको निर्मला और ब्रह्ममुखी करनेके लिये ही भोगके द्वारा मोक्षका द्वार खोलना इस साधनाका उद्देश्य है। परन्तु इन तत्त्वोंका इच्छानुसार व्यवहार नहीं करना होगा। उपयुक्त गुरुके सम्मुख बैठकर यह अनुष्ठान करने पड़ते हैं। उपयुक्त गुरुके न मिलने पर साधकको इन वस्तुओंको लेकर खेल नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने पर उससे लाभकी जगह हानि ही होगी। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या इन कुपथ्योंके द्वारा कभी भवरोग नष्ट हो सकता है? उत्तर यह है कि हाँ हो सकता है। भगवानने इस जगत्की प्रत्येक

वस्तुको इस कुशलतासे बनाया है कि उनके व्यवहारका यथार्थ ज्ञान होनेसे उनसे अमृतकी प्राप्ति हो सकती है, और व्यवहार-दोषसे उन्हींसे विष भी उत्पन्न हो सकता है।

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः।
तेनैव विषखण्डेन भिषगं नाशयते रुजम्॥

'जिस विषके खानेसे जीवकी मृत्यु होती है उसी विषके द्वारा वैद्य रोगीका रोग नाश करते हैं।'

इसलिये गुरु ऐसा होना चाहिये जो यथार्थ भवरोगका वैद्य हो। कुलाचार जीवोंको भवबन्धन नष्ट करने की ही चेष्टा करता है। जीवको मद्यपी या लम्पट बनानेके उद्देश्यसे शास्त्रविधिकी रचना नहीं हुई है।

स्त्रीके द्वारा कुलाचारका साधन होता है, परन्तु उस स्त्रीको भोगकी वस्तु नहीं समझना होगा, उसे साक्षात् इष्टदेवी स्वरूपिणी समझे बिना कोई तन्त्रोक्त साधनामें सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। चण्डीमें भी लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

'हे देवी! सारी विद्याएँ तुम्हारा अंशमात्र हैं। संसारकी सारी स्त्रियाँ तुम्हारा ही रूप हैं। एकमात्र तुम्हीं मातृ रूपमें इस जगत्‌के बाहर भीतर व्याप्त हो रही हो।'

अतएव तन्त्र इन तत्त्वोंको साधारण दृष्टिसे नहीं देखता। बुद्धि मलिन होनेके कारण ही हम पवित्र भावसे तन्त्रों

देख सकते। महानिर्वाणके सप्तमोल्लासके अन्तमें इसी कारण इसके व्यवहारके सम्बन्धमें सावधान कर दिया गया है—

> असंस्कृतञ्च यत्तत्त्वं मोहदं भ्रमकारणम्।
> विवादरोगजननं त्याज्यं कौलैः सदा प्रिये॥

ये पञ्चतत्त्व विधिपूर्वक शोधित न होनेपर केवल मोह और भ्रमका कारण बनते हैं, विवाद और रोग भी उत्पन्न करते हैं-अतः कौलोंको असंस्कृत तत्त्वोंका सर्वतोभावेन त्याग करना चाहिये।

तन्त्रोक्त साधनामें बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। जो सिद्धि लाभके लिये समुत्सुक हैं वे ही तन्त्रोक्त प्रणालीसे साधन करनेमें अग्रसर हो सकते हैं। परन्तु इससे साधन सिद्धि जैसे थोड़े ही दिनोंमें हो जाती है, इसी प्रकार इसमें उसी परिमाणमें साधनाकी उत्कटता भी अत्यन्त अधिक होती है। यह उत्कट भावकी साधना क्यों गृहीत हुई, इसपर विचार नहीं करना है, क्योंकि यह किसी मनुष्य विशेषके चिन्तनका फल नहीं है। यह साधकोंके साधनसे प्राप्त अनुभवके द्वारा आविष्कृत हुआ है—जिस अवस्थामें उन साधकोंको इसका ज्ञान हुआ है, उसको सदाशिवकी उक्तिके सिवा और क्या कहा जा सकता है। तन्त्रोक्त साधनाके स्थान और कालके विषयमें विचार करके देखिये। वह जीवके साधारण भावमें स्थित चित्तके द्वारा हो ही नहीं सकता। पहले सोचिये, साधनाका स्थान ही कैसा भयङ्कर है, वहाँ दिनमें भी जानेमें भय होता है। जहाँ नरकंकाल, नरमुण्ड और विच्छिन्न कंकालराशि इधर-उधर बिखरे पड़े हों, निर्जन, दुर्गन्धसे परिपूर्ण

सियारोंकी चिल्लाहटसे विभीषिकामय बने हुए श्मशान क्षेत्रमें अमावस्याके घोर अन्धकारमें मृतदेहके वक्षःस्थलपर बैठकर साधन करना होता है! बतलाइये, इसमें साधकके लिये कितने असीम साहसकी आवश्यकता है। इसीके लिये इसीके उपयोगी तत्त्वोंका भी प्रयोजन होता है।

जिसका इस मार्गमें अनुराग नहीं है, जिन्हे इन वस्तुओंसे यथेष्ट घृणा है, जानना चाहिये कि उनके लिये यह मार्ग कदापि नहीं है। क्योंकि शास्त्र जीवोंकी प्रकृतिकी विचित्रताका विचार करके ही नाना प्रकारके मार्गोंका उल्लेख करते हैं। जीवके रुचि भेदसे भिन्न-भिन्न भावमय उपास्य देवता और उनकी साधन-प्रणालीमें भेद होते हुए भी चाहे जिस मार्गका अवलम्बन किया जाय, साधकके लिये लक्ष्य स्थानपर पहुँचनेमें असुविधा नहीं होती, तथा सब साधनाओंके चरम लक्ष्य भगवान् ही पृथक्-पृथक् नहीं हो जाते। अतएव साधनाकी प्रणाली चाहे जो हो भगवत् प्राप्तिके विषयमें कोई वैलक्षण्य नहीं घटता। पद्मपुराणमें लिखा है—

> सौराश्च शैवगाणेशः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
> मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा ॥

पुनः यह भी विचार रखना होगा कि समस्त शास्त्र ऋषिप्रणीत हैं। हमारे जैसे अल्पपुरुष शास्त्ररचना नहीं कर सकते, इसलिये साधनके पथ भिन्न हों, विकट हों, या वीभत्स हों, हम उनकी निन्दा या उपहास नहीं कर सकते। जीव जिस प्रकार त्रिगुणान्वित

है उनकी शासन-पद्धति भी उसी प्रकार गुणभेदसे विभिन्न प्रकारकी होगी। ऋषिप्रोक्त शास्त्रोंकी यथार्थ महिमा ही यही है कि साधनपथ बाह्य दृष्टिसे चाहे जितना ही विकट और वीभत्स हो, साधक यदि यथार्थमें भगवान्‌को लक्ष्यकर अकपटभावसे साधनामें अग्रसर होता है, तो अन्तमें साधनाका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति उसे होगी ही। स्थूल दृष्टिसे किसी किसी तन्त्रोक्त साधन प्रणालीको चाहे हम कितना ही हेय क्यों न समझें, प्रकृत साधक के निकट वह हेय नहीं हो सकती।

यहाँ तक तन्त्रोक्त स्थूल अनुष्ठान पद्धतिकी ही आलोचनाकी गयी है अब इसके परम रमणीय आध्यात्मिक साधनके विषयमें कुछ लिखा जाता है।

तन्त्रमें साधकके बाह्य भावका उल्लेख करके उसके अन्तर्भावको जागृत करनेके लिये संकेत किया गया है, इस बातपर तनिक विशेष ध्यान देना होगा।

आद्यतत्त्वं विद्धि तेजो द्वितीयं पवनं प्रिये।
अपस्तृतीयं जानीहि चतुर्थं पृथिवीं शिवे॥
पञ्चमं जगदाधारं वियद्विद्धि वरानने।
इत्थं ज्ञात्वा कुलेशानि कुल तत्त्वानि पञ्च च।
आचारं कुलधर्मस्य, जीवन्मुक्तो भवेन्नरः॥

महादेव पार्वतीसे कहते हैं कि 'हे प्रिये, तेज ही आद्य तत्त्व, पवन द्वितीय तत्त्व, जल तृतीय तत्त्व, पृथिवी चतुर्थ तत्त्व तथा जगदाधार आकाश पञ्चम तत्त्व' है। हे कुलेश्वरि! कुलधर्मके

आचार तथा पञ्चतत्त्व जिस साधकको इस प्रकार विज्ञात हैं वह निश्चय ही जीवन्मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं।'

इससे समझमें आ सकता है कि ये तत्त्व साधनाकी उन्नतिके साथ-साथ फिर उस प्रकार स्थूलभावमें नहीं लिये जाते। इस अन्तर्लक्ष्यकी ओर गये बिना कोई भी साधक अन्तमें परम उच्चावस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता। इसी अन्तर्लक्ष्यकी आलोचना अब की जायगी। तेज नहीं रहनेसे साधनमें उत्साह नहीं रहता परंतु जिस साधकको विषय विषवत् बोध होते हैं, परमात्मा स्वादु बोध होते हैं उसको भगवत्पथमें चलनेके लिये किसी बाह्य उत्तेजक पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती। प्रियतम आत्मा या भगवान् को चाहे जैसे हो प्राप्त करना ही होगा, जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी ऐसी प्रबल इच्छा है, उसकी प्रबल इच्छा या तेज ही भगवत्प्राप्तिके मार्गमें उसके अन्दर असीम उत्साह उत्पन्न कर देता है। अतएव भगवत्प्राप्तिकी प्रबल इच्छा ही प्रथम तत्त्व है। यही भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥

जब फलकी इच्छा नहीं होती तथा कोई विघ्न-बाधा जिसे प्रतिरोध नहीं कर सकती उसी साधकका चित्त परमानन्दमें अवस्थान करता है, एवं इसी प्रकारकी भगवद्भक्ति ही जीवका परम धर्म है।

साधनामें यही तेज आवश्यक है, यही प्रथम तत्त्व मद्य है!

द्वितीय तत्त्व पवन, अर्थात् प्राण तत्त्व है। प्राण जबतक चञ्चल रहेगा, तबतक अन्त करण शुद्ध नहीं होगा, इसलिये श्वास पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। श्वासपर विजय प्राप्त करनेसे उसीके साथ मन भी स्थिर हो जायगा। इस प्रकारके प्रयत्नके फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार-लाभ हो सकता है। अतएव यह द्वितीय प्रयोजनीय वस्तु है। तृतीय तत्त्व है जल या रस। जिन वस्तुओंमें रस प्रतीत होता है, उन्हीं वस्तुओंके लिये मनमें स्वाभाविक आकर्षण होता है। जब प्राणोंकी स्थिरताके साथ मन की स्थिरता आ जाती है, तब एक अनिर्वचनीय रस या आनंदका अनुभव होता है। इस आनन्दके प्राप्त होते ही जीवको विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। चतुर्थ तत्त्व है पृथिवी अर्थात् मूलाधार ग्रन्थि। इस ग्रन्थिको बिना भेद किये जीवकी पार्थिव वस्तु अन्न-पानादि, नाना प्रकारके भोग और दृश्यपदार्थके प्रति आसक्ति नहीं जाती। साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त होनेपर भी जागतिक आकर्षण नहीं मिटता—इस पृथिवी तत्त्वके जय होनेपर फिर वस्तुओंके स्थूलत्वके प्रति आकर्षण नहीं रह जाता, तब वे स्थूल पदार्थ उसके निकट स्थूल जड़ पिण्डमय पदार्थ न रहकर मानो सभी चिन्मय हो उठते हैं। इस अवस्थामें साधकको स्थूलवस्तु या वाह्य रूप मुग्ध नहीं कर सकते। तत्पश्चात् पञ्चम तत्त्व आकाश है—जब साधकका चित्त समाधिमग्न होकर जगत्को भूल जाता है तब साधकका मन और उसके साथ ही जितने ज्ञेय वस्तु हैं सब आकाश हो जाती है। तब साधक वाह्य आकर्षण या मोह

की सीमासे बाहर आ जाता है। मन महाशून्यमें या परम व्योम में मिल जाता है। तब चैतन्य प्राप्त साधक ब्रह्मानंदमें विभोर हो उठता है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्॥

तब फिर उसके ज्ञाननेत्रोंके सामने—'नेह नानास्ति किञ्चन' रह जाता है। तन्त्रके मतसे यही शिवशक्तिके सहयोगमें समरस बोध है।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

आत्माको जानकर जिनकी कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं, तथा अविद्याको अतिक्रमकर जो कृतात्मा अर्थात् शुद्धात्मा हो गये हैं, उनकी इसी जन्ममें सारी कामनाएँ अर्थात् कामनाओंके बीज नष्ट हो जाते हैं। इस पञ्चतत्त्वसे ही जगत्—ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है।

ये पञ्चतत्त्व जैसे स्थूल हैं, वैसे ही सूक्ष्म सृष्टिके भी मूल हैं। प्रत्येक जीवमें ये पञ्चतत्त्व विद्यमान हैं। यदि जीव कभी मुक्तिपदपर आरूढ़ होता है तब भी इन पञ्चतत्त्वोंकी सहायतासे ही वह अपनी स्वरूपावस्थाको प्राप्त करता है। ये पञ्चतत्त्व ही स्थूलरूपमें भोगदेह हैं और पञ्च मकारद्वारा ही साधन प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु दुःखकी बात है कि हमारी बुद्धि इतनी स्थूल हो गयी है कि पञ्चतत्त्वके यथार्थ तत्त्वको हम नहीं समझ

पाते। इन पञ्चतत्त्वोंका सूक्ष्म उपादान जीवके मेरुदण्डके भीतर सुषुम्नाके अन्तर्गत चक्रके मध्यमें प्रसुप्त रहता है। इसी कारण सुषुम्नाका उत्थान हुए बिना जीवको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं मिलती, जीवनका बन्धन नहीं छूटता। इसीलिये साधक सुषुम्नास्थित शक्तिको जाग्रत करनेकी चेष्टा करते हैं। योगीके योगसाधनका मूल लक्ष्य यही है। तन्त्रोक्त योगी इस मेरुदण्डको ही कुलवृक्ष कहते हैं, तथा उसके मध्यमें स्थित विद्युज्ज्वालाके समान प्रकाशमयी कुल-कुण्डलिनीको परम शिव के साथ संयुक्त करना ही तन्त्रोक्त योगरहस्य है। इसीको लता-साधन भी कहते हैं। कुल-कुण्डलिनी ही लता है। हमारे यहाँ साँपको लता कहते हैं। कुल-कुण्डलिनी भी सर्पाकार है, जान पड़ता है इसी कारण लता नामसे प्रसिद्ध है। इस मूल वृक्षका अवलम्बन करके साधनाभ्यास सुदृढ़ होनेपर—'तदुपरि जाय लता गोलोक वृन्दावन' अर्थात् कुल-कुण्डलिनी शक्ति मस्तकस्थित सहस्रारमें परम पुरुषके साथ मिल जाती है। यही साधनाकी परिसमाप्ति है।

तन्त्र कुलका क्या अर्थ करते हैं, देखिये—

न कुलं कुलमित्याहुः 'कुलं ब्रह्म सनातनम्।

'वंशपरम्पराको कुल नहीं कहते, सनातन ब्रह्म ही कुलशब्द-वाच्य है।' इस ब्रह्मतत्त्वको वस्तुतः जानकर जो पुरुष मोहशून्य या निर्विकार हो सकते हैं वे कुलतत्त्वज्ञ हैं। जो इस साधनाके साधक हैं वे ही कुलसाधक या कौल हैं। इसी कौलकी तन्त्रमें बड़ी प्रशंसा की गयी है।

श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते ।

'चाण्डाल भी यदि कुलतत्त्वज्ञ हो तो वह ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है।' अतएव तन्त्रका कुलतत्त्व कोई सहज बात नहीं है तथा कौल बन जाना कोई मामूली बात नहीं है। तन्त्रमें लिखा है—

कुलं कुण्डलिनी शक्तिरकुलं तु महेश्वरः ।

'कुण्डलिनी शक्ति ही कुलशब्दवाच्य है तथा महेश्वरको ही अकुल कहा जाता है।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कुण्डलिनी-तत्त्वका ज्ञान होनेपर साधक ब्रह्मज्ञ हो जाता है और यही तन्त्रोक्त साधनाका मर्मस्थान है।

कुण्डलिनी ही जीवतत्त्व या मुख्य प्राण है। यही यथार्थतः 'अध्यात्म या परा प्रकृति' है। जगत्‌को यही धारण करती है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

योगीलोग इसीको प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राणो हि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः ।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत् ॥

'प्राण ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है, प्राण ही जगत्‌का धारण करनेवाला है। समस्त जगत् ही प्राणमय है।' जो महाशक्ति ब्रह्म-स्वरूपसे विकसित होकर स्थूलसे स्थूलतर जगदादिरूपमें परिणत होती है, वह विश्वका मूल या आदिशक्ति बीज ही प्राण या कुण्डलिनी है।

राधावक्ष स्थलस्थित पुरुष ही श्रीकृष्ण या पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्णको जाननेके लिये सबसे पहले राधाको जानना होगा।

वैष्णवजन कहते हैं कि श्रीकृष्णको पानेके लिये श्रीराधिकाका अनुगत होकर भजन करना होगा। यह परम सत्य है। योगी और तन्त्रोक्त उपासक भी यही कहते हैं कि कुण्डलिनी ही चैतन्य-शक्ति है, उसकी कृपाके बिना कोई शुद्ध चैतन्य या निर्गुण ब्रह्म को नहीं जान सकता।

कुल साधनाके द्वारा ही यह परम तत्त्व अवगत हो जाता है। यही जीवात्माके साथ परमात्माका संयोग साधन है, श्रीराधा के साथ श्रीकृष्णका मिलन आनन्द है। इसीको रेतस्के साथ रजका मिलन भी कहते हैं। वास्तविक तत्त्वको बिना समझे ही कुछ मूर्खोंने इस साधनकी आड़ लेकर न मालूम कितनी अद्भुत और घृणित साधनाओंका आविष्कार कर डाला है।

योगी इसे चन्द्र-सूर्यका मिलन, वा प्राणापानका गतिरोध या प्राणके साथ मनका मिलन कहते हैं। यही नादब्रह्मके साथ विन्दुका योग है। यथार्थ शक्तिसाधना यही है।

अब योगतत्त्वके साथ पञ्च मकारकी साधनाका उल्लेख कर इस लेखको समाप्त करना है।

पञ्चतत्त्वोंके निगूढ़ तत्त्व आगमसारमें किस प्रकार व्याख्यात हुए हैं, यहाँ वे उद्धृत किये जाते हैं। यथार्थ सत्य क्या है ?

सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद्वरानने ।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥

भगवान् महादेवजी श्रीजगदम्बासे कहते हैं कि 'हे वरानने ! ब्रह्मरन्ध्रसे क्षरित अमृतधाराका नाम मद्य है, जो साधक उसे

पानकर आनन्दित होता है वही मद्य-साधक है।' कैवल्यतन्त्रमें लिखा है—

> यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
> तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम्॥

निर्विकार निर्गुण परब्रह्ममें जो प्रमदन है वही ज्ञान है— एवं यह ज्ञान जगत्‌को भुला देता है, इसी कारण इसे मद्य कहते हैं। योगी कहते हैं कि नाभिदेशमें सूर्य हैं तथा तालुमूलमें चन्द्र हैं। सूर्यको योगाभ्यासके बलसे तालुमूलमें आकर्षण कर लानेसे ही चन्द्र-सूर्यका समागम होता है। चन्द्र-सूर्यके इस समागममें साधकको अमृतस्वरूप अनिल या सुधावायुकी अनुभूति होती है। यही मद्यका कार्य करता है। साधक इस अवस्थामें भगवानके नशेमें चूर हो जाता है, मदोन्मत्तके समान बाह्य ज्ञानशून्य हो जाता है।

मांसके सम्बन्धमें आगमसारमें लिखा है—

> मा शब्दाद् रसना ज्ञेया तदंशाद् रसनं प्रिये।
> सदा यो भक्षयेद्देवी स एव मांससाधकः॥

'हे प्रिये! मा शब्दसे जिह्वा जानो, और अंस शब्दसे उसके रसन अर्थात् वाक्यको समझो। हे देवि, जो साधक इस मांसका भोजन करते हैं अर्थात् जो वाक्यसंयमी मौनी हैं वही मांससाधक हैं।' जिह्वाको तालुमूलमें प्रवेश करानेसे ही अपने-आप वाक्य-संयम होता है, और वाक्यसंयमसे ही इच्छाका नाश होता है।

मत्स्य—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स एव मत्स्यसाधकः॥

'गंगा और यमुना अर्थात् इडा और पिङ्गलाके मध्यमें श्वास-प्रश्वासरूपी दो मत्स्य विचरण करते हैं, इन दो मत्स्योंको जो भक्षण करते हैं वही मत्स्यसाधक हैं, अर्थात् जो प्राणायामादि अभ्यासद्वारा प्राणवायुका निरोध कर समाधिस्थ हो सकते हैं वही यथार्थ मत्स्यसाधक हैं।

मुद्रा—

सहस्रारमहापद्मे कर्णिका मुद्रिता च यत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम्॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
अतीव कमनीयञ्च महाकुण्डलिनीयुतम्॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते।

'हे देवेशि! सहस्रार महापद्ममें मुद्रित कर्णिकाके मध्यमें आत्मा पारदके समान अवस्थित रहता है। उसका तेज कोटि सूर्यके समान दीप्तियुक्त है तथा कोटि चन्द्रके समान यह सुशीतल और अत्यन्त रमणीय है। इस महाकुण्डलिनीसे युक्त आत्माको जो अनुभव करते हैं वही मुद्रासाधक हैं।'

स्वशरीरस्थ सहस्रदलकमलके अन्तर्गत कर्णिकाके मध्यस्थित कूटस्थके अन्दर पारदके समान निर्मल शुभ्र वर्ण महाकुण्डलिनी

युक्त आत्मा रहता है। उसकी प्रभा चन्द्रसूर्यकी प्रभाकी अपेक्षा भी अधिक दीप्तिशाली और कमनीय है। वह कुण्डलिनी प्राणवायुके रूपमें देहमें रहती है। रुद्रयामल तन्त्रमें लिखा है—

सा देवी वायवी शक्तिः।

'यह वायवी शक्ति या प्राण ही सूत्रात्मा है। उपनिषद्में लिखा है—

वायुर्वै गोतम तत्सूत्र वायुना वै गौतम सूत्रेणाय च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्यांगानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दब्धानि भवन्ति।

'हे गौतम! सूक्ष्म वायु ही वह तुम्हारा (पूछा हुआ) सूत्र है। हे गौतम! वायुके सूत्रद्वारा इहलोक, परलोक तथा समस्त भूतगण ग्रथित रहते हैं। हे गौतम! इसीलिये लोकमें मृत व्यक्तिको देखकर कहा जाता है कि उसके अङ्ग-समूह विस्रंसित (शिथिलभूत) हो गये हैं। क्योंकि वायुरूप सूत्रद्वारा ही तो समस्त अंग विधृत होते हैं।'

यह प्राण ही इन्द्रियरूप तथा इन्द्रियभोग्यवस्तुरूपमें दृष्ट होता है। श्रुतिमें लिखा है—

अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। एतस्यैव सर्वे रूपमभवस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति।

'इन्द्रियोंने उसे जाननेके लिये मनोनिवेश किया, उन्हें ज्ञात हुआ कि वह हमसे श्रेष्ठ है—वह कार्य करते या न करते हुए

कभी शान्त नहीं होता, विनष्ट नहीं होता। अहो! हम सब उसीका रूप धारण करती हैं। हम सब उसका ही स्वरूप बन गयी अर्थात् सबने प्राणके रूपको ही आत्मरूपसे ग्रहण कर लिया। इसी कारण इन्द्रियाँ उसीके नामसे अभिहित होती हैं। इन्द्रियोंका व्यापार प्राण व्यापारके ही अधीन है। इसी कारण प्राण और मनके एक साथ स्पन्दित होनेसे प्राणके संयमसे मन का भी संयम हो जाता है। योगवाशिष्ठमें लिखा है—

य: प्राणपवन स्पन्दः चित्त स्पन्दः स एव हि।
प्राणस्पन्द क्षये यत्न कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः॥

'प्राणवायुके स्पन्दनको ही चित्तके स्पन्दनके नामसे पुकारते हैं। अतएव धीमान व्यक्तिको प्राण स्पन्दविरोधके लिये यत्न करना चाहिये। अमृतनादोपनिषद्में लिखा है—

यथापर्वत धातूना दह्यन्ते दहनान्मला:।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

'धातुको दहन करनेसे जैसे उसका मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियकृत दोष प्राणनिग्रहके द्वारा नष्ट हो जाते हैं।'

बाह्य प्राणस्पन्दन ही जगत्-व्यापारकी मूल अविद्याशक्ति है। प्राणस्पन्दनके रहते चित्त निरुद्ध नहीं होता, और चित्तके निरुद्ध हुए बिना विषयासक्ति दूर नहीं होती, तथा विषयासक्तिके रहते सुख-दुःखातीत ब्रह्मस्वरूपमें कोई प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ॥

'जिस अवस्थामें प्रकृतिप्रवाहके निवृत्त होनेपर पुरुष अखंड अव्यवधान (ध्याता और ध्येयके भेदसे रहित) आत्माका दर्शन करता है, तथा चित्तवृत्तिकी चरम निवृत्तिसे सुख-दुःखसे अतीत महिमामें (ब्रह्मस्वरूपमें) प्रतिष्ठित होता है।'

मैथुन—

मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥
रेफस्तु कुङ्कुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः ।
मकारो बिन्दुरूपश्च महायोनौ स्थितः प्रिये ॥
आकारो हंसमारुह्य एकतश्च यदा भवेत् ।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥
आत्मनि रमते यस्मादात्मा रामस्तदुच्यते ।
ब्रह्माण्डं जायते यस्मात्तस्माद्ब्रह्म प्रकीर्तितम् ॥
अतएव रामनाम तारकं ब्रह्म निश्चितम् ।
मृत्युकाले महेशानि स्मरेद्रामाक्षरद्वयम् ॥
सर्वकर्माणि सन्त्यज्य स्वयं ब्रह्ममयो भवेत् ।
इदन्तु मैथुनं तत्त्वं तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥
मैथुनं परमं तत्त्वं तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ।
सर्वपूजामयं तत्त्वं जपादीनां फलप्रदम् ॥
षडङ्गं पूजयेद्देवि सर्वमन्त्रं प्रसीदति ।

'मैथुन-तत्त्व परम गुह्य तत्त्व है, यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है। इसीके द्वारा सिद्धि और सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान लाभ हो सकता है। कुण्डके मध्यमें कुंकुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित रहता है। इसमें आरोहण करके आकार जब एकीभूत हो जाता है तब सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान और परमानंद उत्पन्न होता है। आत्मामें रमण करनेके कारण ही वह आत्माराम कहलाता है और उसीसे ब्रह्माण्डका उद्भव होनेके कारण वह ब्रह्म कहलाता है। अत: यह रामनाम ही निश्चयपूर्वक तारक ब्रह्म है। हे महेशानि! मृत्युकालमें 'राम' इन दो अक्षरोंका स्मरण करनेसे जीवका कर्मबन्धन छूट जाता है तथा वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यह मैथुन-तत्त्व परम गुह्य और तत्त्वज्ञानका कारणस्वरूप है। सब पूजाका सारतत्त्व और जपादिका समस्त फल इससे प्राप्त होता है। हे, देवी! षडङ्गपूजाके अनुष्ठान करनेसे सब मन्त्र प्रसन्न होते हैं।

संस्कृत श्लोकोंका उपर्युक्त अर्थ करनेसे ठीक मर्म ध्यानमें नहीं आता। इनका अर्थ भी विशेपभावसे ज्ञातव्य है। कुण्डमध्यमें कुंकुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित है—इसका भावार्थ यह है कि शरीरके भीतर नाभिचक्रमें कुंकुमकी आभाके समान रक्तवर्ण तेजसतत्त्व रहता है—यही 'रं' बीज है। उसी तेजसतत्त्वके साथ महायोनिमें बिन्दुरूप मकार रहता है। अर्थात् ब्रह्मयोनि—कूटस्थज्योतिर्मण्डलके मध्य जो बिन्दु रहता है वही मकार है। यहाँ पूर्वोक्त 'रं' बीज वा तेजसतत्त्वके साथ

एक 'आ'कार संयुक्त करना होगा, तब दोनोंके योगसे 'राम'नाम उत्पन्न होगा और यही रामनाम तारक ब्रह्म है। उसका आकार क्या है? वह हंसपर आरूढ़ है—हंस अर्थात् अजपारूपमें श्वास-प्रश्वास। इसी श्वास-प्रश्वासमें लक्ष्य या मनको लगाकर साधन करनेसे नाभिचक्रस्थित तेजस्तत्त्वरूप 'र' कारके साथ आज्ञा-चक्रस्थित बिन्दुरूप 'म' कारका मिलन होता है। इस प्रकार प्राणापानकी गति रुद्ध होने पर श्वास मस्तकमें स्थिर होता है। इस प्रकारकी स्थितिलाभ होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होती है, जीवका यही तारक मन्त्र है—

निःश्वासोश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्त्तते प्रिये।

'इस निःश्वास और श्वास वायुकी सहायतासे मन्त्रका मनन नहीं करनेसे वास्तविक मन्त्र चैतन्य नहीं होता।' प्राणायामद्वारा वायवी वा प्राणशक्ति कुण्डलिनी जब सहस्रारमें जाकर सहस्रा-रस्थित महेश्वरके साथ सम्मिलित होती है, तभी जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही बात देवीस्तवनमें है—

राज्यं तस्य प्रतिष्ठा च लक्ष्मीस्तस्य सदा स्थिरा।
प्रभुत्वं तस्य सामर्थ्यं यस्य त्वं मस्तकोपरि॥
निर्धन्यो निर्गुणो वापि सत्त्वेन परिवर्जितः।
परं पौरुषमाप्नोति यावत्त्वं मस्तकोपरि॥

गौतमीय तन्त्रशास्त्रमें भी लिखा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
एतत्किञ्चिन्न सिद्धयेत्तु यन्त्रमन्त्रार्चनादिकम्॥

जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा सप्रसवा यान्ति यन्त्रमन्त्रार्चनादय॰॥

'जबतक मूलपद्मविलासिनी कुलकुण्डलिनी शक्ति निद्रिता है तबतक माताका मन्त्र, यन्त्र, जप, अर्चनादि कुछ भी किसी रूपमें फलप्रद नहीं होता।' किन्तु भाग्यवश यदि वह जाग्रत् हो जायँ तो यन्त्र, मन्त्र, जप, अर्चनादि सब अनुष्ठान सुन्दर फल प्रदान करते हैं।

वस्तुत॰ देवीकी शक्तिके विना स्वतंत्रभावसे किसीमें कुछ करने की शक्ति नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवसे लेकर जितने देवगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, लता, तृण आदि जीव हैं। कोई, उस निखिल ब्रह्माण्डकी अधीश्वरीकी आज्ञाके विना स्वाधीनतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता। माँ! तुम प्रसन्न होकर जब साधकके मस्तकपर प्रतिष्ठित होती हो तब वह क्या नहीं कर सकता? जो अति निन्दित सब सत्त्वोंसे विवर्जित पशुतुल्य जीव है वह भी तुम्हारी कृपासे निर्वाण मुक्तिलाभ कर सकता है। तुम नाना आकारसे, नाना आधारसे जगत्-के शुभाशुभ समस्त कर्मोंको निष्पन्न करती हो। हम मूर्ख अज्ञ जीव समझते हैं कि सब कुछ हमीं करते हैं। तुम कालरात्रि रूपमें जगत्के जीवोंको भीत—सन्त्रस्त करके मृत्यु रूपसे ग्रास करती हो, फिर जगदाधिष्ठात्री जगद्धात्री रूपमें जगत्की माँ होकर जगत् जीवका परिपालन करती हो। तुम चामुण्डा रूपमें दुष्ट दैत्योंके दर्पको ध्वंस करके इनका रुधिर पान करती हो।'

फिर भुवनमोहिनी शिव-सीमन्तिनी गौरी रूपमें विश्वब्रह्माण्ड को विमुग्ध कर रखती हो! तुम कृपा करके जीवकी अशेष दुर्गति को दूर करके त्रिलोकपूज्या दुर्गारूपमें जीवोंके शान्तिविधानके लिये उन्हें परम शान्तिरूपा मुक्तिऐश्वर्य प्रदान करती हो। माँ अभये! हम अनेकों शत्रुओंके फेरमें पड़कर दिन-रात उत्पीड़ित हो रहे हैं, एक वार 'मा भैः मा भैः' रवसे दिङ्मण्डलको कम्पित करती हुई हमें अभय दान करो।

यह माँ भगवती ही समस्त विश्वका प्राण है। जब माँ शक्तिरूपमें जगद्व्यापारमें रत होती हैं तब निर्गुण ब्रह्म अचैतन्यभावसे माँके पैरोंके तले पड़ जाते हैं। तभी ब्रह्माण्डका पुनः-पुनः सृजन, पालन और ध्वंस होता है। पुनः जब उसमें पुरुषभाव जाग्रत् हो उठता है तब प्रकृति पुरुषमें आत्मसमर्पण करती है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन है। यह मिलन ही महा-समाधिकी अवस्था है। योगीकी समाधि और ब्रह्माण्डका महा-प्रलय एक ही वस्तु है।

सारे ही जगत्‌जीव पुरुष-प्रकृतिमय हैं। यह दोनों शक्तियाँ मिलकर 'राम' बन जाती हैं। यह रामनाम ही जीवका तारक मन्त्र है। परन्तु हम सभी सहज अवस्थासे च्युत हो गये हैं, इससे हम 'राम-राम' नहीं बोल सकते—'मरा-मरा' बोलते हैं। परन्तु इस 'मरा-मरा' (देहेन्द्रियादि) के द्वारा ही 'राम' में (आत्मचैतन्यमें) पहुँचना होगा। यही उलटा नाम है—इस उलटे नामकी साधना ही प्रचलित है। श्वासके बहिर्गमनागमनमें

जगद्दृष्टि नहीं ठहरती, इसपर ध्यान देनेसे, इस 'मरा-मरा' के जप करते रहनेसे श्वास ऊर्ध्व हो जायगा, इसका बहिर्गमनागमन बन्द होते ही प्राण सुषुम्नामें प्रवाहित होने लगेंगे, तभी जीवनमें परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

योगशास्त्रमें लिखा है—

> यदा सङ्क्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
> तदा समरसत्वञ्च समाधिरभिधीयते॥

'प्राण क्षीण होकर मनके लय होनेपर जिस समरसभावका उदय होता है उसीका नाम समाधि है।' यही तारक ब्रह्मनाम है। तन्त्रका यही सारांश है।

उत्तर

स्नेहास्पदेपु,

तुम्हारा पत्र अधिगत हुआ, तुम्हारे तीर्थभ्रमणके आनन्दका विवरण पढ़कर बहुत तृप्ति मिली। इस प्रकार शुद्ध और आनन्दित चित्तमे तीर्थभ्रमण करने पर तीर्थयात्राका वास्तविक फल प्राप्त होता है, सो तुमने प्राप्त किया है। × × × माँ की जो इच्छा होती है, वह ठीक ही होती है। वह अच्छा ही है, तुम्हारी माता तुम्हारे लिए बहुत व्याकुल थीं। व्याकुल होनेकी बात भी है, क्योंकि वह तुम्हारी माता जो हैं! और वह नित्य सत्य जगन्मयी जगन्माता भी अपनी सन्तानके लिए ठीक इसी प्रकार व्याकुल होती हैं। अपनी गर्भधारिणी माँ को देखकर उसके

हृदयमें जगन्माताके हृदयको पढलो तो उनकी करुणाके विषय में कोई सन्देह नहीं रह जायगा। असली माँ का हृदय वहीं है, और वही प्रेमका आदिस्थान है, वहाँ प्रेमका कैसा अनन्त उच्छ्वास है!—और यह उसका प्रतिबिम्ब है। जब प्रतिबिम्बमें इतनी करुणा, इतनी व्याकुलता है, तो असल स्वरूपमें वह कितनी अधिक होगी, इसका अनुमान कर सकते हो! आत्म-दर्शन न होनेके कारण माँ का स्नेह मोहान्वित होता है, और वह केवल हमारा शरीर देखती हैं। और असली माँ जो ब्रह्माविष्णु और शिवको प्रसव करती हैं वह क्या करती हैं, पता है? कोटि-कोटि जन्म जन्मान्तर तुम्हारे साथ फिरती हैं, और तुम दुष्ट बालक हो, उनसे दूर ही दूर भटकते हो, और रास्तेमें कीचड़ धूल लपेट कर भूत बनकर धूल-धूलका खेल खेलते हो, और चारों ओर धूल उड़ाते हो, घरकी खबर नहीं रखते, माँकी सुधि भी बिसार देते हो। इसी कारण वह तुमको पुकार रही हैं, उच्च स्वरसे पुकार रही हैं, उनके पुकारनेके ढंग कितने हैं? जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखकी शत-शत व्याकुलता—ये माँ की पुकार हैं। उसे ही मानो हम सहस्रों स्थानोंसे सुन रहे हैं—"अरे तू कहाँ गया, कहाँ गया?" माँ के उस निर्बन्ध पुकारमें रह-रहकर यह अखिल विश्व चमत्कृत हो रहा है। सब काम छोडकर स्तम्भित होकर जगज्जननीका मानव शिशु एक-एक बार अविरत कार्यस्रोतमें खड़ा हो जाता है, और खड़ा-खड़ा सुनता है। परन्तु वह दूरसे सुने गये बिहाग रागके समान केवल एकबार हृदयको डाँवाडोल

कर जाता है, परन्तु वह पुकार कहाँसे आ रही है, इसका कुछ ठीक निश्चय नहीं कर पाता। तथापि कभी-कभी उसके मनमें आता है कि, "एकबार घर लौट चलें, एकबार माँके दोनों अभय चरणोंको छू आयें।" और मोह और विस्मृतिके फेरमें पड़ कर फिर भूल जाता है।

माँ के शरीरसे ही तो बालकका शरीर है, अतएव तुम्हारे देहरूप और प्राण शक्तिके रूपमें वह तुम्हारे साथ हैं ही। तुम्हारा बाहर घूमना माताकी दृष्टिसे ओझल नहीं हो सकता। तुम खेलते खेलते कितनी बार गिरते हो, इसे वह अन्तर्यामी रूपसे देखती हैं, इसीलिए पतनसे तुमको बचानेके लिए व्याकुल स्वरसे पुकारती हैं—"आओ, लौट आओ, मेरी गोदमें लौट आओ।" यह बात भी जब तुमने न सुनी, तब दुःख और सन्तापके रूपमें आकर तुम्हारे विवेकको जागृत कर देती है, वह तुम्हारे पीछे पीछे दौड़ी आ रही हैं। उनका वह कातरस्वरका आह्वान जो ग्रामवासी जागे हुए हैं वह तो सुन लेते हैं। कब तुम खेलको भूल कर अपने आवागमनके इस बारबारकी दौड़-धूपको रोक सकोगे, तुम शान्त होकर अपनेको भूलकर मातृप्रेममें मग्न होकर उनके निकट आत्मसमर्पण करोगे तथा उनकी गोदमें सोकर चिरनिवृत्ति और परम शान्तिलाभ कर सकोगे यही जगज्जननीके मातृहृदयकी चिर आकांक्षा है! और यही तुम्हारे गुरुकी इच्छा है!

तुम्हारी माँने जो आशङ्का की थी कि तुम संन्यासी हो जाओगे, उनकी वह आकांक्षा तो निर्मूल नहीं है। गुरु तो तुमको

संन्यासी बना कर ही छोड़ेंगे, उसीकी राह भी ताक रहे हैं। परन्तु वह गेरुआ पहन कर संसार त्याग करनेवाला संन्यास न होगा—वह आत्मसमर्पणके द्वारा सर्वस्व त्याग करनेवाला संन्यास होगा। इस संन्याससे बढ़कर श्रेष्ठ पदार्थ स्वर्ग और मर्त्यलोकमें कहीं भी नहीं है।

और जो तुम्हारा एक प्रश्न है उसका क्या उत्तर दूँगा, उसका उत्तर तो देना ही है। याद तो है न, तुमने गुरुके चरणोंमें सिर रखकर क्या कहा था? तुमने कहा था—

> नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरु रूपिणे।
> विद्यावतार संसिद्धौ स्वीकृतानेकविग्रह ॥
> नारायण स्वरूपाय परमात्मैकमूर्त्तये ।
> सर्वाज्ञानतमोभेद मार्नवे चिद् घनायते ॥
> त्वत्प्रसादादहं देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ।
> मायामृत्युः महापाशाद् विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥

और गुरुने क्या कहा था?

> "उत्तिष्ठ वत्स मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव।"

मुक्तिका विज्ञापन तो जारी हो ही गया है। परन्तु यह समझ में कब आयगा? जब गुरुको आत्मसमर्पण प्रगाढ़ और सम्यक् होगा, तब उसका देहाभिमान दूर होगा, और तब वह मुक्त हो जायगा। गुरुने तो कह ही दिया है कि 'मुक्तोऽसि'। वह अपनी उस प्रतिज्ञाको कैसे भूलेंगे? शरीरकी मुक्ति या बन्धन तो असली मुक्ति या बन्धन नहीं है। इसको तो न जाने कितनी बार छोड़ना

और ग्रहण करना पड़ेगा। परन्तु जो जन्म जन्मान्तर कल्प कल्पान्तर घूम रहा है वह तो और किसी उपायसे जानेवाला नहीं है। वह आदिभूत अज्ञान, जीवका कारण देह है—उस पर ही लक्ष्य करके गुरु अस्त्रप्रयोग करते हैं। वह ज्ञानखड्ग हाथमें लेकर खड़े हैं संसार वृक्षका मूलोच्छेदन करनेके लिए। उसी कारण गुरुस्तोत्रमें लिखा है—

आधार पीठे स्थितदिव्य शक्ति, मन्दस्मित पूर्णकृपानिधानम्।

इस कारण देहमें ही जीवका अविद्या बीज संचित रहता है। इस ऊर्ध्व मूल अधःशाख वृक्षकी जड़ बहुत ही सख्त है। गुरुमें आत्मसमर्पण किया हुआ शिष्य गुरु कृपाके द्वारा प्राप्त असङ्ग शस्त्रके द्वारा दृढ़ हाथसे उस मूलका छेदन कर डालता है। वह ज्ञान खड्ग जिनके श्रीहस्तमें सुशोभित हो रहा है, जिनकी प्रसन्नतासे ही जीवको मुक्ति मिलती है, गुरुकी कृपासे जो जगज्जननी महाशक्ति शिष्यकी हृदयगुफामें प्रज्वलित होमानल शिखाके समान प्रस्फुरित होकर शिष्यके अज्ञानतमको सदाके लिए निर्मूल कर देती हैं, उनके उस त्रिलोकवन्दित चरणोंमें आओ हम मस्तक अवनत करें और शिशुके समान रुदन करते करते बोल सकें—

"प्रणतानां प्रसीद त्वं देविविश्वार्तिहारिणी।
त्रैलोक्यवासीनामीड्ये लोकानां वरदा भव॥"

चेतन गुरु चैतन्य मन्त्र बतलावें।
तेरा पूर्ण विकास देखता,

रंग महलके ऊपर तलमें—
मुझको फिर मत जाने देना मा मिथ्या क्रीडामें ;
दे मुझको मा भक्ति, मतिकी माल गले पहनावें ॥
—परिव्राजकका संगीत।

और उस ज्ञानखड्गको बारंबार नमस्कार ! उसके ही प्रचंड आघातसे ज्ञानरूपी महा मोहासुरका नाश होता है।

असुरासृग्वसापङ्क चर्चितस्ते करोज्वलः ।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वा नता वयम् ॥

हे माता, असुरोंके रुधिर और मेदरूपी पङ्कसे लिप्त तथा तुम्हारे कर-किरणोंकी मालासे उज्वल यह तुम्हारा खड्ग हमारा कल्याण करे, तुम्हारे शरणापन्न हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

इस ज्ञानकुठारका प्रचण्ड आघात उस अविद्याके क्षेत्रमें पड़ता है, इसी कारण लोग व्याकुल होकर विद्याकी उपासना करते हैं। विद्याकी उपासना शुरू होते ही अविद्या खण्ड-खण्ड होकर छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार सम्यक् ज्ञानके उदय होनेपर सारा अज्ञान विलीन हो जाता है।

यह जन्म वह जन्म नहीं है—वह जन्म तो एकबार ही होता है। उसके बाद जब गुरुके चरणोंमें जाता है तो दूसरा जन्म होता है। तभीसे अज्ञान रूपी संसार वृक्षके मूलमें कुठाराघात होने लगता है। फिर तो वह कितनी चोट सहेगा ? उसके बाद मांके निकट पशुबलि देना पड़ेगा पशुबलि मांको बहुत प्रिय है। जब-जब काम क्रोधादि अज्ञानरूपी पशुओंका दल सामने आकर

नृत्य करेगा तब-तब उनको पकड़ कर मांके सामने बलि देना पड़ेगा। उन कुप्रवृत्ति रूपी पशुओंको जब मांके चरणोंमें बलि दिया जायगा तो वे दिव्य भाव प्राप्त करके निवृत्त हो जायँगे। यह बलि संग्रह करना ही पड़ेगा मांके लिए। इसीसे हमारा जन्मजीवन सार्थक होगा।

नृत्य करेगा तब-तब उनको पकड़ कर मांके सामने बलि देना पड़ेगा। उन कुप्रवृत्ति रूपी पशुओंको जब मांके चरणोंमें बलि दिया जायगा तो वे दिव्य भाव प्राप्त करके निवृत्त हो जायँगे। यह बलि संग्रह करना ही पड़ेगा मांके लिए। इसीसे हमारा जन्मजीवन सार्थक होगा।

नृत्य करेगा तब-तब उनको पकड़ कर मांके सामने बलि देना पड़ेगा। उन कुप्रवृत्ति रूपी पशुओंको जब मांके चरणोंमें बलि दिया जायगा तो वे दिव्य भाव प्राप्त करके निवृत्त हो जायँगे। यह बलि संग्रह करना ही पड़ेगा मांके लिए। इसीसे हमारा जन्मजीवन सार्थक होगा।

जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूल गया है। किन्तु उसकी वह भूल सदा नहीं रहती। भूल मिटती है, खिलौनोंको फेंक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौड़ पड़ता है। घर पहुँच माँसे मिलकर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलौने फेंककर चले आनेका उसको किञ्चित् भी पश्चात्ताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साक्षी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पा गया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। 'उस' को पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परितृप्त रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना मोह नहीं होता; यदि कभी हो भी जाता है तो वह दीर्घकालतक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझा देती है कि 'भगवान् हैं'। जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको उतना नहीं खींच सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है। यह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अँधेरेमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं

होता। यह भी देखा जाता है कि सत्य और मिथ्या इन दोनोंमें लोग सत्यको ही चाहते हैं। स्वप्नमें प्राप्त धन और वास्तविक धनमें, लोग वास्तविक धनकी ही इच्छा करते हैं। जबतक सत्यका यथार्थ बोध न हो, तबतक सत्यके प्रति उपेक्षा दिखलाना सम्भव है, किन्तु एक बार सत्यको समझ लेनेके बाद उसके प्रति आकर्षित न होना असम्भव है। जबतक हम सासारिक वस्तुओंको सत्य समझते हैं तबतक उनको अधिक-से-अधिक पानेकी आकांक्षा करते हैं किन्तु जब वही वस्तुएँ हमारी बुद्धिमें असत्य प्रमाणित हो जाती हैं, तब उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। हम अज्ञानवश असत्यको तभीतक चिपटाये रहते हैं, जबतक उसको असत्य समझ नहीं लेते। इसी प्रकार सत्यके प्रति भी तभीतक उदासीनवत् व्यवहार करते हैं, जबतक सत्यका स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो जाता। सत्य सदा उपेक्षित नहीं रह सकता। इसी प्रकार असत्यके प्रति मोह भी सदा नहीं टिकता। इसीसे यह सम्भव है कि एक दिन सत्य अवश्य मिलेगा ही। सत्यके प्रति हमारा जो इतना खिंचाव है, यह हमारे अन्तरका एक अति गूढ रहस्य है। जो सत्य है वही तो सुन्दर है। सुन्दर के प्रति आकर्षण हमारा (Intuitive) सहजात ज्ञान है। यह सत्य हमारी अपनी वस्तु है, यह हमारे मनका मोहन, प्राणोंका आराम है। जबतक इसको भूले रहते हैं तभीतक 'अवस्तु' के साथ खेलना सम्भव है। 'सत्य' के पा जानेपर 'अवस्तु' के प्रति आदर नहीं रहता। जब बालक खिलौनोंको लेकर खेलमें रम

जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूल गया है। किन्तु उसकी वह भूल सदा नहीं रहती। भूल मिटती है, खिलौनोंको फेंक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौड़ पड़ता है। घर पहुँच माँसे मिलकर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलौने फेंककर चले आनेका उसको किञ्चित् भी पश्चाताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साक्षी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पा गया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। 'उस' को पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परितृप्त रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना मोह नहीं होता; यदि कभी हो भी जाता है तो वह दीर्घकालतक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझा देती है कि 'भगवान् हैं'। जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको उतना नहीं खींच सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है। यह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अँधेरेमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं

प्रतिबिम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवनका चरम सत्य है। यदि हम इस चरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता। उस आनन्दमें महान् आकर्षण है इसीसे तो वह कृष्ण है। उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस अनादि-कालसे दौड़ रहे हैं। उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन खिन्न हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पानेके लिये दौड़ने लगता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है ?

जो वस्तु ही न हो, उसे पानेके लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता। निश्चय ही 'वह' है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी इतनी टान है। इस आनन्दस्वरूप की नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्यइच्छित वस्तु है। और इस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही श्री भगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें ?

साधारणतः हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतासे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियोंद्वारा हम भगवान्‌को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल

हैं और उनको अपने हाथके समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमानेमें भी नहीं चूकते। ऐसा क्यों करते हैं? इसीलिये कि वे विषय हमको आकर्षित करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है; इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओंको पाना चाहते हैं। किन्तु इन वस्तुओंमें आनन्दका स्वप्न दीखनेपर भी ये क्षणभंगुर हैं, इनकी प्राप्तिसे हमारे प्राणोंकी आकांक्षा नहीं मिटती। जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी कालमें ध्वंस नहीं होता, जो आनन्द कभी चुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते कि बस, हो चुका और नहीं चाहिये। वह ध्रुव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् हैं। जब क्षणिक विषयानन्दके लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषयमे जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा ध्येय आनन्द है। यह सत्य है कि जगत्में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है। यही जीवकी आत्यन्तिक मर्मवेदना है। नाना प्रकारके सांसारिक आनन्दको पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता। आनन्दके सत्य स्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते। हम जो कुछ देखते हैं वह काँचके अन्दर आवृत प्रकाशका

प्रतिबिम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवनका चरम सत्य है। यदि हम इस चरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता। उस आनन्दमें महान् आकर्षण है इसीसे तो वह कृष्ण है। उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस अनादि-कालसे दौड़ रहे हैं। उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन क्षिप्त हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पानेके लिये दौड़ने लगता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है ?

जो वस्तु ही न हो, उसे पानेके लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता। निश्चय ही 'वह' है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी इतनी टान है। इस आनन्दस्वरूपकी नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्यइच्छित वस्तु है। और इस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही श्री भगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें ?

साधारणत हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतासे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियोंद्वारा हम भगवान्‌को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल

हैं और उनको अपने हाथके समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमानेमें भी नहीं चूकते। ऐसा क्यों करते हैं? इसीलिये कि वे विषय हमको आकर्षित करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है; इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओंको पाना चाहते हैं। किन्तु इन वस्तुओंमें आनन्दका स्वप्न दीखनेपर भी ये क्षणभंगुर हैं, इनकी प्राप्तिसे हमारे प्राणोंकी आकांक्षा नहीं मिटती। जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी कालमें ध्वंस नहीं होता, जो आनन्द कभी चुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते कि बस, हो चुका और नहीं चाहिये। वह ध्रुव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् हैं। जब क्षणिक विषयानन्दके लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषयमें जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा ध्येय आनन्द है। यह सत्य है कि जगत्में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है। यही जीवकी आत्यन्तिक मर्मवेदना है। नाना प्रकारके सांसारिक आनन्दको पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता। आनन्दके सत्य स्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते। हम जो कुछ देखते हैं वह काँचके अन्दर आवृत प्रकाशका

प्रतिविम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवनका चरम सत्य है। यदि हम इस चरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता। उस आनन्दमें महान् आकर्षण है इसीसे तो वह कारण है। उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस अनादि-कालसे दौड़ रहे हैं। उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन क्षिप्त हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पानेके लिये दौड़ने लगता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है ?

जो वस्तु ही न हो, उसे पानेके लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता। निश्चय ही 'वह' है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी इतनी टान है। इस आनन्दस्वरूप की नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्यइच्छित वस्तु है। और इस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही श्री भगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें ?

साधारणतः हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतासे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियोंद्वारा हम भगवान्‌को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल

इन्द्रियोंकेद्वारा स्थूल विषयोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तुके जाननेका उपाय तो दूसरा ही है। वह ज्ञान इन इन्द्रियों-की सहायतासे सहजमें नहीं हो सकता। पदार्थसमूह इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य होनेपर भी ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ अथवा कीटाणु हैं जिनको हम इन चक्षुओंद्वारा नहीं देख सकते। उनका देखना या तो सूक्ष्म शक्तिवाले कृत्रिम यन्त्रादिद्वारा हो सकता है या मनुष्य के अन्तरमें स्थित अतीन्द्रिय शक्तिके स्फुरणद्वारा। वस्तु तो यन्त्रादिकी सहायतासे शायद दीख भी सकती है, किन्तु आत्म-दर्शन अथवा ईश्वरदर्शनमें इन यन्त्रादिकी सहायता बिल्कुल व्यर्थ होती है; उसके लिये तो दिव्य चक्षु चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही दिव्य चक्षु दिये थे, इसीसे वह विश्वरूप देख सका था। ये अतीन्द्रिय दिव्य नेत्र सब मनुष्योंके अन्दर हैं किन्तु वे न तो उनका सद्व्यवहार करना जानते हैं और न उन्हें प्रस्फुटित करनेका उपाय ही। इसीलिये सबके पास दिव्य चक्षु होनेपर भी वे उनके अधिकारमें नहीं हैं। भगवान्का स्वरूप अलौकिक है, अतः उसके दर्शनके लिये अलौकिक नेत्रोंकी आवश्यकता है। सौभाग्यसे जिनके ये अलौकिक नेत्र खुल गये हैं, वे भगवान्के—

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।

—को देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं है। भगवत्-स्वरूपके दर्शन किये जा सकते हैं, यह परम सत्य है। आजीवन विषयोंके पीछे भटकनेके कारण हमारा मन अत्यन्त चञ्चल हो गया है। इस चञ्चलताके मिटते ही हृदय-पटमें उसका

ललित त्रिभङ्ग सजल जलद कान्ति, बाँकेविहारी मधुर रूप प्रकट होता है। किन्तु स्थूल विषयोंका चिन्तन करते-करते हमारा मन बहुत ही स्थूल हो गया है, इसीसे 'सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयम्' सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय परमात्माके दर्शन-लाभसे वह वंचित रहता है। यह बात नहीं कि उनका अस्तित्व ही नहीं है, इसीसे हमें उनके दर्शन नहीं होते। 'वह' हैं, परन्तु हमारे अन्दर सूक्ष्म दृष्टि—योग-दृष्टिका अभाव है, इसी कारण हम उनके दर्शन-लाभसे वञ्चित हैं, नहीं तो—

ईशा वास्यमिद् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

—ऐसे भगवान्को क्या हम देख नहीं सकते ? भगवान्को जाननेके लिये पहले अधिकार प्राप्त करना होगा। परमात्माको जाननेके अधिकारीके सम्बन्धमें यमराजने नचिकेताके प्रति कुछ बातें कहीं हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥

(कठ० १।२।११)

जो समस्त विषयभोग, संसारका स्वामित्व, यज्ञोंका अनन्त फल, सब भयोंके नाशकी पराकाष्ठा और अतिशय स्तवनीय और सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त शुभ फल और अपनी अत्युत्तम गति, इन सबकी आशाको त्याग सकता है, वह महात्यागीश्वर पुरुष ही इस परमतत्त्वको जान सकता है।

जो पुण्य-कर्मोंमें रत, सरल, परोपकारी और दम-गुण-सम्पन्न हैं, उनका भगवान्में अपने आप ही विश्वास होता है। भगवान्के मिलते ही सब कुछ मिल जाता है, इस प्रकारकी निश्चयात्मिका दृढ़ बुद्धिको धारण करके वे किसी भी सांसारिक फलकी कामना नहीं करते। विषयोंका लोभ सब प्रकारसे छूटे बिना भगवान्को प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ० २। ३। ६)

यह परमात्माका स्वरूप इन्द्रियका प्रत्यक्ष विषय नहीं है—इन्द्रियग्राह्य नहीं है, चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कोई भी उसको नहीं देख सकता। किन्तु विकल्पहीन अर्थात् संयत या निश्चल 'हृदा' बुद्धिद्वारा ध्यानकी सहायतासे वह अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित होता है, जो इसको जान जाता है वह अमृतस्वरूप हो जाता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १। २। ६)

जिनकी बुद्धि प्रमादग्रस्त है, जो धनके मोहसे मोहित है, ऐसे ज्ञानरहित बालक-सदृश व्यक्तियोंके निकट शास्त्रानुकूल साधनादि और उसका फल प्रकाशित नहीं होता। जो यह समझते-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ । २४)

जो पुरुष असदाचारी है, इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त है, एकाग्रतारहित अत्यन्त चञ्चल और अशान्त मनवाला अर्थात् फलकामनाके लिये अत्यन्त लोलुप है वह यदि ब्रह्म-विषयक विचार भी करे, तो भी इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठ० १ । २ । १२)

जो दुर्दमनीय विषय-लोभमें प्रमत्त नहीं है, अर्थात् धीर है, ऐसे धीमान् पुरुष परमात्मामें चित्त-समाधानरूप योगके अभ्यास से उस 'दुर्दर्श'—दुर्विज्ञेय 'गूढ'—इन्द्रियोंसे अग्राह्य और 'अनुप्रविष्ट'—सब भूतोंके अन्तरमें प्रविष्ट, प्राणियोंकी बुद्धिके भीतर विराजित देहरूप गर्तमें स्थित, सदा विद्यमान उस परमदेवको मानकर विषयोंसे उत्पन्न सुख-दु:खादिका परित्याग करते हैं। अर्थात् गम्भीर ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर उनको फिर विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख द्वारा विडम्बित होना नहीं पड़ता।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

(कठ० २ । ३ । १७)

जो अंगुष्ठ-परिमाण पुरुष हृदयाकाशमें प्रकाशित है, वही जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठ० १।२।२३)

जो मुमुक्षु साधक इस आत्माको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करता है, अथवा वही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, यों समझकर उसको वरण करता है, उसी मुमुक्षु साधकद्वारा यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उस मुमुक्षु उपासकके निकट अपनी मूर्ति प्रकाशित करता है। साधककी ऐकान्तिक शरणागति और भगवत्कृपा ही उसके साक्षात्कारका उपाय है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

(कठ० २।३।१५)

जब इस जीवनमें ही अन्तःकरणके समस्त बन्धन (देहादिमें ममत्वबुद्धि) नाश हो जाते हैं, तब यह मरणशील देह-विशिष्ट व्यक्ति अमृत हो जाता है। यहाँतक अनुशासन है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद फिर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

यह आत्मा ही—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

यह पुरुष उपद्रष्टा अर्थात् साक्षीमात्र, अनुमन्ता—अनुमोदन

करनेवाला, यही सबका भरण करनेवाला, पालन करनेवाला और महेश्वर अर्थात् ब्रह्मादिका भी अधिपति है। श्रुतिमें कहा है—

एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः।

(बृह० ४ । ४ । २२)

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जीव वृथा-आशा, वृथा-कर्मी होकर सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमतत्त्वको न जाननेके कारण मनुष्य-देह-धारी मुझ परमात्माकी अवज्ञा करते हैं, किन्तु—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९ । १३)

हे पार्थ! दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुष मुझमें एकाग्रचित्त हुए मुझे जगत्-कारण और नित्य-स्वरूप समझकर मेरी आराधना करते हैं। अतएव जिसमें आसुरी स्वभाव बदलकर दैवी स्वभाव प्राप्त हो, इसके लिये चेष्टा करना परम कर्तव्य है। दैवी स्वभाव-वाले पुरुषको ही स्वरूप-साक्षात्कार होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४ । २६)

जो अन्य लक्ष्य त्यागकर एकान्त-भक्तियोगद्वारा परमेश्वर-स्वरूप मुझ वासुदेवकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको उल्लंघन करके मोक्षप्राप्तिके लिये समर्थ होता है।

भगवान्‌के अस्तित्वका प्रमाण

भगवान्‌में विश्वास करके खोजने पर ही उनके अस्तित्वका प्रमाण मिलता है। हम अल्पबुद्धि मानव ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें क्या युक्ति दे सकते हैं? हम इन्द्रियाराम हैं, हमारी बात या युक्तिका मूल्य ही क्या है? लौकिक युक्तिके द्वारा उनको स्थापित करनेमें कब कौन समर्थ हुआ है? ध्याननिष्ठ ज्ञानीके, तथा उनमें सब आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तके अचल हृदयासन पर वह नित्य ही सुप्रतिष्ठित हैं। और प्रमाण हम क्या दें? हमारे द्वारा उनके अस्तित्वका प्रमाण प्रदर्शन करना एक प्रकारका उन्मत्त प्रलाप है। जिस प्रकार सूर्यको देखनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार उनके अस्तित्वके प्रमाणके लिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, भक्त और ज्ञानीकी स्वानुभूति ही उनके अस्तित्वकी साक्षी है। और समस्त ज्ञानकी खानि, साक्षात् ईश्वरकी वाणी श्रुति ही उनके अस्तित्व का

सर्वोत्तम प्रमाण है। जो लोग श्रुति-प्रमाणको नहीं मानते, उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। मैं यथासाध्य श्रुतिप्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति तथा अपनी अतिक्षुद्र स्वानुभूतिके आधार पर यह प्रबन्ध लिख रहा हूँ। आशा है, भगवद्भक्त महापुरुष मेरी इस धृष्टताको क्षमा करेंगे। अपने जीवनकी अनुभूति दो एक बातें इस लेखके परिशिष्टमें या पीछे उल्लेख करूँगा। इसके लिए भी सज्जनवृन्दसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

भगवान्‌में सभी विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे—यह बात किसी प्रकार भी संभव नहीं है। नारदजीने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है—'सा कस्मै परम प्रेमरूपा'। यहाँ 'किं' शब्दका प्रयोग कर नारदजीने यह बतलाया है कि जो 'किं' शब्दवाच्य हैं उन्हींसे प्रेम करना होगा। इस 'किं' शब्दका अर्थ यह है कि जो सदा ही जिज्ञास्य हैं। अर्थात् जिसके विषयमें अनेक लोग अनेक बातें करते हैं। इस विषयमें अनेक प्रश्न हुए हैं, अनेक मेधावी पुरुषोंने इसका सदुत्तर भी प्रदान किया है। परन्तु फिर भी मानव हृदयके इस चिरन्तन प्रश्नका शंकारहित, सन्देहहीन और सबके लिए ग्राह्य सदुत्तर कोई न दे सका। इसलिए जब-जब इस प्रश्नकी सुन्दर मीमांसा हुई है, तब-तब फिर कुछ कालके बाद सन्देह घनीभूत होकर प्रश्नको जागृत किया है! यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

"देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।"

प्राचीनकालमें देवताओंने भी आत्माके (ईश्वरके) अस्तित्वके विषयमें सन्देह किया था। क्योंकि यह विषय 'न सुविज्ञेयम्'

सहज ही बोधगम्य होनेवाला नहीं है। कारण यह है कि जगतको धारण करनेवाला आत्मा—'अणु'-सूक्ष्म है, चिन्तनके भी परे है।

इसीसे मैं कह रहा था कि सभी भगवान्‌में विश्वास नहीं कर सकते, बहुतोंको उनका सन्धान भी नहीं मिलता। भगवान्‌में विश्वास करनेका कोई सहज सरल मार्ग है, यह कहा नहीं जा सकता। हम जो उनमें कुछ विश्वास करते हैं, यह उनकी ही करुणा मात्र है।

पुत्र जो अपनी मातामें विश्वास करता है, वह किसीकी बात सुनकर या कुछ युक्तिसंग्रह करके करता हो—ऐसी बात नहीं है। माताका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको क्या समझा देता है, इसे व्यक्त करनेमें समर्थ न होनेपर भी वह अपने अन्तःकरणमें एक अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है और फलतः माताको माँ, माँ पुकार उठता है, तथा असीम विश्वासमें माँ की गोदमें पड़ रहना है। इसी प्रकार युक्तिद्वारा कोई भी कभी भगवान्‌में विश्वास नहीं कर सकता, प्रेम भी नहीं कर सकता, उनकी विश्वविमोहिनी शक्ति या बाँसरी भक्तके प्राणोंमें न जाने कौन-सा संगीत सुना जाती है कि उससे भक्त सदाके लिये उनके चरणोंका भिखारी बन जाता है। उसे किसी उपायसे भी उस मार्गसे विचलित नहीं किया जा सकता—ऐसा ही उसके आकर्षणका जोर है! यदि कोई कहे कि वह तो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सबके आत्मा हैं, फिर वह चुन करके कुछ भक्तोंको ही अपनी बाँसरी सुनाते हैं, और कोई नहीं सुन सकता, इसका कारण क्या है? तो इसका उत्तर वह गीतामें स्वयं ही देते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

यदि भक्त मोक्ष प्राप्त करता है और अभक्तको मुक्ति नहीं मिलती तो क्या उनमें भी वैषम्य है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"मैं सब भूतोंमें एक सा हूँ, मेरे शत्रु, मित्र नहीं । परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें रहते हैं, और मैं भी उन सबमें रहता हूँ।" जिस प्रकार जो मनुष्य अग्निके समीप रहता है, उसके लिए अन्धकार, शैत्य आदि अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाते हैं ; उसी प्रकार पापी या पुण्यात्मा जो भगवान्‌का भजन करते हैं वे ही उनकी महिमाको जानते हैं और शान्ति प्राप्त करते हैं । पुत्र जिस प्रकार माताका विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिको प्यार करती है, कुत्ता जैसे अपने अन्नदाता पर विश्वास करता है, ठीक उसी प्रकार भक्त भगवान्‌को प्यार करता है और विश्वास करता है।

जो निराकार, निर्विकार, और न जाने क्या-क्या है, जिसको खोजनेमें बुद्धि हार मान लेती है, सहस्रों युगोंसे अनेकों लोगों ने उसका अनुसन्धान किया, पर पता न पाया—वह अचिन्त्य वस्तु पायी जा सकती है, उस अगम्य वस्तुका भी पता मिलता है ! पर कहाँ ?

"भक्त हृदयमें हेरते उनके चरन कमल"

भक्तको ही देखकर अभक्त और अज्ञानीके हृदयमें भगवान्‌के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। जिससे वह कुछ प्रत्यक्ष अनुभव करता है। जिससे उसकी नजरोंमें कोई अचिन्त्य वस्तु आ जाती

है। भगवत्प्रेममें मतवाले श्री नित्यानन्द प्रभुको देखकर चिरकाल के पापोंसे कलुषित चित्तवाले महा पापी जगाईकी पाप-प्रवृत्ति शान्त हो गयी, चिरकालके अभ्यस्त विषयोंसे मानो वह दूर जा सके। यही है साधुसङ्गकी महिमा। और जब भक्तावतार श्री चैतन्यदेवके प्रेमचक्षुका अवलोकन किया, उनके शरीरसे स्पर्श करके वायु जगाई मधाईके शरीरमें जाकर लगा, तब एक बिजली की लहर उनके रोम-रोममें दौड़ गयी और दोनों आदमी अनास्वादितपूर्व भगवत्प्रेममें विभोर हो गये, चिरकालके लिये उनकी कुप्रवृत्ति शान्त हो गयी। जो कभी भगवान्का स्मरण नहीं करते थे वे भगवान्को पानेके लिए व्याकुल हो उठे। यही भगवद्भक्तकी संगतिकी महिमा है।

"यदेव सत्संग तदेव सद्गतौपरावरेशे त्वयि जायते रतिः"

भक्त भी अपने बलसे भगवान्को नहीं प्राप्त कर सकता, भगवान् स्वयं ही आकर भक्तको वरण करते हैं। भगवान्के शरण में जाने या उनका भजन करनेकी यह महिमा है। जो भगवान्में विश्वास नहीं कर सकते, वे उनके भजनमें प्रवृत्त नहीं हो सकते, और भजनके बिना उनकी अपार महिमा किसीके लिए बुद्धिगम्य नहीं होती। उनको समझे बिना, और उनका हुए बिना मनुष्य जन्म सफल नहीं हो सकता। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

इहलोकमें यदि उस सत्यस्वरूपका पता लग जाय या उसको जान लिया जाय तो 'सत्यमस्ति'—मनुष्यका जीवन सफल है; यदि इहलोकमें उसे न जान सके तो 'महती विनष्टिः'—महा अनिष्ट हो गया, मनुष्यका महा विनाश हो गया। क्योंकि जिस

आनन्दकी खोजमें जीवसमुदाय अत्यन्त व्याकुल हैं ; लोग जिस आनन्दकी प्राप्तिके लिए कितने-कितने अनर्थ करते हैं, परन्तु फिर भी उस परमानन्दके स्रोतका पता नहीं पाते ; यदि किसी प्रकार उसका पता पा जाते, उस परमानन्दके अनन्त और अनादि स्रोतके पास पहुँच सकते तो हमारे आनन्दकी सीमा नहीं रहती, हम जन्म-मरणके ताप, नित्यके शोक-रोगादि दुःखों के ताप, शीत-उष्ण और अभावके सन्ताप आदिसे चिरकालके लिए परित्राण पा जाते। श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

तब वे परम भक्त धीर ज्ञानी जन सब भूतोंमें उसको प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकारके अनुभवी पुरुष ही इहलोकसे गमन करके ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं।

भक्त जिस प्रकार भगवान्‌के लिए पागल हो जाते हैं भगवान भी उसी प्रकार भक्तवत्सल हैं। माता यशोदा बहुत चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको पकड़ न सकी, तो वह माताको श्रान्त क्लान्त देखकर स्वयं ही आकर पकड़ा गये।

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरणकमलमें रेणुकणके समान नृत्य कर रहे हैं, उनको कौन पकड़ेगा ? यदि वह पकड़ा न जायँ ? कातर भक्तको भगवान् स्वयं आकर पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्तिप्रिय माधवको भक्तिके बलसे ही पकड़ लेते हैं। भक्तिका यह पाथेय जिसके पास नहीं है, वह किस प्रकार भगवान्‌के समीप पहुँचेगा ? और बिना उनके समीप गये किस प्रकार उनमें विश्वास कर सकेगा ?

अतएव हमारे जैसे प्राकृत नर यदि भगवानमें विश्वास नहीं कर पाते तो उनको उतना अधिक दोष नहीं दिया जा सकता। साधारणतः जो सामान्य भगवद्विश्वास हममें है उसमें लेशमात्र भी प्रकृत विश्वास नहीं है। भगवद्विश्वास अपूर्व वस्तु है, अप्राकृत अमूल्य निधि है! उसके उदय होते ही जीव कृतार्थ हो जाता है, उसका भव-बन्धन छूट जाता है।

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।"

भक्त प्रह्लादके भीतर विश्वासका कैसा अपूर्व सौन्दर्य, कैसा विलक्षण माधुर्य विकसित हुआ था! इसी कारणसे उनको समुद्र में डुबाने पर अतितुङ्ग गिरिशिखरसे गिराने पर तनिक भी भय न हुआ। मतवाले हाथीके पैरोंके नीचे कुचले जाते समय उनके मनमें तनिक भी शंका न उठ सकी, क्योंकि वह उनके अभय मुखारविन्दका दर्शन करके चिरकालके लिए भयको भूल गये थे। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सम्मुखके स्तम्भकी ओर संकेत करके कहा—"क्या तेरा भगवान् इसके भीतर है?" तो प्रह्लादने अटल चित्तसे उत्तर दिया—"वह सर्वत्र ही हैं, इस स्तम्भके भीतर भी अवश्य हैं।"

यह है भक्तकी शुद्ध भावनासे भावित चित्तका अपूर्व विकास! ऐसा चित्त पाये बिना क्या किसीको भगवद्दर्शन हो सकता है? यह कोई युक्ति नहीं है, भक्तकी यह जानी हुई बात है—'येन सर्वमिदं ततम्।'

भगवान् शरणागतवत्सल हैं। जो उनके शरणमें जाता है, उसके ऊपर वह कृपा करते हैं। उनकी नित्य वर्तमान कृपाका

स्पर्श वह अपने हृदयमें अनुभव कर सकता है। सकाम, आर्त्त, अर्थार्थी भक्त पर भी भगवान् कृपा करते हैं, और जिनकी भक्ति फलकी कामनासे शून्य है उनकी तो फिर बात ही क्या ?

एकवस्त्रा निःसहाया द्रौपदी सभामें नग्न होनेके दारुण भय और लज्जासे अभिभूत होकर जब कातर स्वरसे जी खोलकर पुकार उठी तो भगवान् उपेक्षा न कर सके, और न उनसे रहा गया। एक अद्भुत घटना घटी और सभाके लोग स्तम्भित और विस्मित हो उठे। भयार्त्तके भयका भञ्जन होते देखकर भक्तिमान् चित्त भगवन्के लिए रो पड़ा, परन्तु अविश्वासी दुर्योधन उसे अपनी आँखों देखकर भी विश्वास न कर सका, उसको यह दृश्य कुछ भी विचलित नहीं कर सका। उसके हृदयमें ईश्वर के प्रति कुछ भी विश्वास क्यों न उत्पन्न हुआ ? इसका कारण यह था कि वह अहङ्कारी और अभिमानी था, अतएव अधिकारी न था—अपनेकोही बड़ा समझता था। उसका हृदय अन्धकारमय था, चारों ओरसे अवरुद्ध था, भगवान्का प्रकाश वहाँ कैसे पहुँचता ? इसी कारण भगवत् शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होकर भी वहाँ प्रकाशित न हुई। बाह्य युक्ति--तर्क द्वारा भगवान्के अस्तित्वका निरूपण केवल बाहरी वस्तु है, उससे भगवद्बोध स्फुरित नहीं होता। वह तो मनके स्वक्षेत्रके निभृत निकुञ्जकी वस्तु है। वह बाहर बोलनेकी वस्तु नहीं है।

बहुत दिनके प्रवाससे लौटे हुए स्वामी और स्त्रीमें जो एकान्त में प्रेमालाप होता है, उसकी भाषा, उसके भावका मर्म, उसकी

तर्क या युक्तिकी सहायतासे यह भाव उदय होनेका नहीं— "नैषा तर्केण मतिरापनेया।" यह ब्रह्मविषयिणी बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयपरायण चित्तके द्वारा हम उस गूढतम भगवत् स्वरूपके तत्त्वको अवगत नहीं कर सकते। वह इतना सूक्ष्म है, तथा इसी कारण इतना दुर्गम्य है।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥"

बहुतेरे इस आत्मविषयक ज्ञान या भगवत्कथाको श्रवण करनेका भी सुयोग नहीं पाते, कुछ लोग श्रवण करनेका सुयोग —के भी आत्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेमें समर्थ नहीं

करुण रागिनी को जाननेका अधिकार क्या बाहर किसीको है ? उसी प्रकार भगवद्दर्शनका, उनके अस्तित्वका, भक्त हृदयमें उनकी अभिरामताका जो माधुर्य है उसका लीलास्वाद भक्त हृदयमें ही हो सकता है, हम अभक्त उसके स्वादको क्या जानें ? फिर उसको व्यक्त क्याकर कर सकेंगे ?

Imitation of Jesus Christ नामक ग्रन्थमें लिखा है-

"It is improvement in holiness, not pleasure in the subtlety of thought or accuracy of expression that must be principally regarded The soul is not to be satisfied with the multitude of words, but a holy life is continual feast The kingdom of God is not in words

भगवान्के जाननेके लिए विशुद्ध चरित्र होना आवश्यक है। चरित्रके विशुद्ध हुए बिना कोई उनको जान नहीं सकता, और न देख पाता है। विषयोंमें व्याकुल चञ्चल चित्त आत्मदर्शन नहीं कर सकता। चित्तके स्थिर होने पर ही आत्म साक्षात्कार होता है। चित्तके स्थिर हुए बिना सहस्रों बार खोज करने या सैकड़ो ग्रन्थ पढ लेने पर भी भगवान्के अस्तित्व की टोह लगाना दुष्कर है। भगवद्दर्शनके लिए जिनमें तीव्र उत्कण्ठा होती है वे नचिकेताके समान "अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदान्"-विषयोंकी क्षण-भंगुरता और अनित्यत्वको देखकर विषयलिप्सामें पुन नहीं पडते, और जिसको प्राप्त कर यह जीवनयात्रा परिपूर्ण होती है, वह मानव शरीर सार्थक होता—उस परम पदके लिए लालायित होकर वह केवल उसे ही चाहता है, अन्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता।

तर्क या युक्तिकी सहायतासे यह भाव उदय होनेका नहीं—"नैषा तर्केण मतिरापनेया।" यह ब्रह्मविषयिणी बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयपरायण चित्तके द्वारा हम उस गूढ़तम भगवत् स्वरूपके तत्त्वको अवगत नहीं कर सकते। वह इतना सूक्ष्म है, तथा इसी कारण इतना दुर्गम्य है।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥"

बहुतेरे इस आत्मविषयक ज्ञान या भगवत्कथाको श्रवण करनेका भी सुयोग नहीं पाते, कुछ लोग श्रवण करनेका सुयोग प्राप्त करके भी आत्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेमें समर्थ नहीं होते; इस आत्मज्ञान या परमेश्वर विषयक ज्ञानके उपदेष्टा दुर्लभ हैं। इसके जानकार श्रोता भी दुर्लभ हैं। ज्ञानहीन पुरुषके द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता भी दुर्लभ हैं। अतिरिक्त इसके, जिस किसीके निकट आत्मतत्त्वकी बात सुननेसे भी कोई फल प्राप्त नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्य यदि इस परमतत्त्वका उपदेश देता है तो उससे आत्मज्ञान परिस्फुट नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

आत्माके सम्बन्धमें नानाप्रकारके विचार हैं। कोई कहते हैं, भगवान् हैं; कोई कहते हैं, नहीं हैं। कोई उनको कर्त्ता, कोई अकर्त्ता, कोई साकार, कोई निराकार, कोई न्यायी, कोई दयालु—इस प्रकार भगवान्‌के सम्बन्धमें लोग नाना प्रकारके विचार रखते हैं। हमारा ऐन्द्रिय ज्ञान और विचार उस अतीन्द्रिय परमात्मा-

को ठीक हृदयङ्गम नहीं करा सकता। कुछ लोग अपने मनके मुताबिक उनको गढ़-पीटकर ठीक कर लेते हैं।

परन्तु वह अद्वितीय देवता सर्वभूतोंमें गूढ़ रूपसे वर्तमान हैं, वह सर्वव्यापी और सर्वभूतोंके अन्तरात्मा हैं, वह सबके समस्त कर्मोंके साक्षी होते हुए भी निर्गुण हैं अर्थात् कोई गुण उनको आबद्ध नहीं कर सकता।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

उनको जाननेके लिए उनके शरणापन्न होना पड़ेगा—

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥"

शरणागतिके द्वारा भगवदुपदिष्ट साधनमें रत होने पर शरणापन्न साधकको भगवान् अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं।

शास्त्रादिके पाठसे केवल उनको जाननेकी आकांक्षा उत्पन्न होती है, अन्यथा बहुतसे शास्त्रोंको पढ़नेवाले उनको जान लेते, परन्तु ऐसी बात नहीं है। शास्त्रोंके स्वाध्यायके साथ-साथ साधन-सम्पन्न होना पड़ेगा।

शब्द ब्रह्मणि निष्णातः न निष्णायात्परे यदि।
श्रमतस्य श्रमफलं ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

जो लोग केवल शब्दब्रह्मसे अभिज्ञ हैं, परन्तु साधनाके द्वारा उनका मर्म उद्घाटनकी चेष्टा नहीं करते, उनका शास्त्राध्ययन केवल श्रम मात्र है। जैसे बाँझ गाय रक्षकके लिए श्रमोत्पादन करती है, पर उससे कुछ लाभ नहीं होता।

अतएव साधनाके बिना जब उनको जाननेका कोई उपाय

नहीं है, तब उनको जाननेके लिए साधन ही करना पड़ेगा। साधन के बिना जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित अन्तःकरणके मल दूर होने वाले नहीं हैं। मलको नष्ट करके अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन नहीं होता। भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना, दूसरोंके मुँहसे सुनकर या अपनी मन-मानी युक्तिद्वारा भगवत्स्वरूपका अस्तित्व ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। अतएव आत्मतत्वको जाननेके लिए या उनके स्वरूपका दर्शन करनेके लिए सद्‌गुरुका उपदेश प्राप्त करना परमावश्यक है। गुरु-कृपाके बिना कुछ होनेवाला नहीं। परन्तु अनुरागी भक्तके ऊपर गुरु-कृपा करते ही हैं। इस विषयक भागवतमें नारदकी कथा ध्यान देने योग्य है।

नारद कहते हैं—

> तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
> श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥
> ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
> अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥

नारद प्रभुके घर चातुर्मास्य बिताकर उन दीनवत्सल साधुओं ने जाते समय उस श्रद्धालु, विनीत, अनुरक्त और दमगुण सम्पन्न बालक (नारद) को गुह्यतम ज्ञान समझा दिया, जो गुह्यतम ज्ञान साक्षात् भगवान्‌का ही स्वरूप था।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि विनीत श्रद्धालु और सेवापरायण पुरुषके प्रति साधुलोग कृपा करते हैं। उनकी कृपा होनेपर ही

यह गुह्यतम भागवत ज्ञान जीवके अन्त करणमें समुद्भूत होता है। परन्तु भगवान्‌को जाननेकी रुचि होनी चाहिये। उनके प्रति दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है।

वह विश्वास दृढ़ कैसे होता है, और भगवान्‌में रुचि कैसे आती है? भागवतमें लिखा है—

> शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव कथारुचिः।
> स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थ निषेवनात्॥
> शृण्वतां स्वकथा कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः।
> हृद्यन्तः स्थोल्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
> नष्टप्रायष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया।
> भगवत्युत्तमः श्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

सेवा और तीर्थदर्शन आदिके द्वारा भगवान्‌की कथा सुननेमें रुचि लगती है। उस पुण्य श्रवण कीर्तन भगवत्कथाको जो सुनते है, भगवान् उनके अन्त करणके मलको अपने हाथसे धो डालते हैं। इस प्रकार नित्य साधुसंगके द्वारा तथा उनके मुखसे भगवत कथा सुनते-सुनते अन्त करणकी अमङ्गलकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है, तब उत्तम श्लोक भगवान्‌में निश्चला भक्ति उदय होती है।

नारद कहते हैं—

> तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृण्वम् मनोहराः।
> ता॰ श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्य ममाभवद्रतिः॥

वे प्रति दिन कृष्णकथाका गान करते थे और अनुग्रह करके उसे सुननेका अधिकार मुझे दिया था। उसे प्रत्यहं श्रद्धापूर्वक सुनते-सुनते भगवान्‌के प्रति मुझमें रति उत्पन्न होने लगी।

आदौ श्रद्धा ततः संगोऽथ भजनक्रियाः।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

पहले श्रद्धा और पश्चात् सत्संगके द्वारा चित्तमें भगवत्प्राप्तिकी आशा बलवती होनेपर भजन-अनुष्ठानके द्वारा विक्षेपादि नष्ट होते हैं, उसके बाद निष्ठामें रुचि होती है। रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाता है तब भगवान्‌में प्रबल आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्तिको ही भक्ति कहते हैं, यही विश्वासकी पराकाष्ठा है।

इस विश्वासको हम बातचीत द्वारा या युक्ति द्वारा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? जिनसे हम प्रेम करते हैं उनका चिन्तन करना भला मालूम पड़ता है। भगवान्‌में भक्ति होनेपर भी उनका अधिकाधिक चिन्तन करना अच्छा लगता है, तब भक्त भगवान्‌के चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार आनन्दघन भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाते हैं।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैः हरिः॥

भगवान्‌के पादपद्मका ध्यान करते-करते भक्तिकी प्रबलतासे नारदकी चित्तवृत्तियोंके बहिर्मुख भाव संयत हो गये, और क्रमशः प्रगाढ़ प्रेमके स्फुरणके साथ-साथ, कब उनका दर्शन मिलेगा, क्या मैं उनका दर्शन कर सकूँगा?—इस प्रकारके आग्रह और आकुलतामें नारदके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह होने लगा। उस समय श्री भगवान्‌की मूर्ति उनके हृदयमें आविर्भूत हुई।

उस समस्त अन्धकारका नाश करनेवाले आनन्दघन भगवान का दर्शन पाये बिना क्या जीवन कृतकृत्य हो सकता है? मनुष्य

आदौ श्रद्धा ततः सगोऽथ भजनक्रियाः।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

पहले श्रद्धा और पश्चात् सत्संगके द्वारा चित्तमें भगवत्प्राप्तिकी आशा बलवती होनेपर भजन-अनुष्ठानके द्वारा विक्षेपादि नष्ट होते हैं, उसके बाद निष्ठामें रुचि होती है। रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाता है तब भगवान्में प्रबल आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्तिको ही भक्ति कहते हैं, यही विश्वासकी पराकाष्ठा है।

इस विश्वासको हम बातचीत द्वारा या युक्ति द्वारा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? जिनसे हम प्रेम करते हैं उनका चिन्तन करना भला मालूम पड़ता है। भगवान्में भक्ति होनेपर भी उनका अधिकाधिक चिन्तन करना अच्छा लगता है, तब भक्त भगवान्के चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार आनन्दघन भगवान्को प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाते हैं।

ध्यायतश्चरणाम्भोज भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैः हरिः॥

भगवान्के पादपद्मका ध्यान करते-करते भक्तिकी प्रबलतासे नारदकी चित्तवृत्तियोंके बहिर्मुख भाव संयत हो गये, और क्रमशः प्रगाढ़ प्रेमके स्फुरणके साथ-साथ, कब उनका दर्शन मिलेगा, क्या मैं उनका दर्शन कर सकूँगा?—इस प्रकारके आग्रह और आकुलतामें नारदके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह होने लगा। उस समय श्री भगवान्की मूर्ति उनके हृदयमें आविर्भूत हुई।

उस समस्त अन्धकारका नाश करनेवाले आनन्दघन भगवान का दर्शन पाये विना क्या जीवन कृतकृत्य हो सकता है? मनुष्य

यह गुह्यतम भागवत ज्ञान जीवके अन्त करणमें समुद्भूत होता है। परन्तु भगवान्को जाननेकी रुचि होनी चाहिये। उनके प्रति दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है।

वह विश्वास दृढ़ कैसे होता है, और भगवान्में रुचि कैसे आती है? भागवतमें लिखा है--

> शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव कथारुचि.।
> स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थ निषेवनात्॥
> शृण्वतां स्वकथा कृष्ण पुण्यश्रवण कीर्तनः।
> हृद्यन्तः स्थोह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
> नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्य भागवत सेवया।
> भगवत्युत्तमः श्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

सेवा और तीर्थदर्शन आदिके द्वारा भगवान्की कथा सुननेमें रुचि लगती है। उस पुण्य श्रवण कीर्तन भगवत्कथाको जो सुनते हैं, भगवान् उनके अन्त करणके मलको अपने हाथसे धो डालते हैं। इस प्रकार नित्य साधुसंगके द्वारा तथा उनके मुखसे भगवत कथा सुनते-सुनते अन्त करणकी अमङ्गलकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है, तब उत्तम श्लोक भगवान्में निश्चला भक्ति उदय होती है।

नारद कहते हैं--

> तत्रान्वह कृष्णकथा. प्रगायतामनुग्रहेणाश्रृणवम् मनोहराः।
> ता श्रद्धया मेऽनुपद विशृण्वतः प्रियश्रवस्य ममाभवद्रतिः॥

वे प्रति दिन कृष्णकथाका गान करते थे और अनुग्रह करके उसे सुननेका अधिकार मुझे दिया था। उसे प्रत्यहं श्रद्धा-पूर्वक सुनते-सुनते भगवान्के प्रति मुझमें रति उत्पन्न होने लगी।

आदौ श्रद्धा ततः सगोऽथ भजनक्रियाः।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

पहले श्रद्धा और पश्चात् सत्संगके द्वारा चित्तमें भगवत्प्राप्तिकी आशा बलवती होनेपर भजन-अनुष्ठानके द्वारा विक्षेपादि नष्ट होते हैं, उसके बाद निष्ठामें रुचि होती है। रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाता है तब भगवान्‌में प्रबल आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्तिको ही भक्ति कहते हैं, यही विश्वासकी पराकाष्ठा है।

इस विश्वासको हम बातचीत द्वारा या युक्ति द्वारा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? जिनसे हम प्रेम करते हैं उनका चिन्तन करना भला मालूम पड़ता है। भगवान्‌में भक्ति होनेपर भी उनका अधिकाधिक चिन्तन करना अच्छा लगता है, तब भक्त भगवान्‌के चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार आनन्दघन भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाते हैं।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैः हरिः॥

भगवान्‌के पादपद्मका ध्यान करते-करते भक्तिकी प्रबलतासे नारदकी चित्तवृत्तियोंके बहिर्मुख भाव संयत हो गये, और क्रमशः प्रगाढ़ प्रेमके स्फुरणके साथ-साथ, कब उनका दर्शन मिलेगा, क्या मैं उनका दर्शन कर सकूँगा?—इस प्रकारके आग्रह और आकुलतामें नारदके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह होने लगा। उस समय श्री भगवान्‌की मूर्ति उनके हृदयमें आविर्भूत हुई।

उस समस्त अन्धकारका नाश करनेवाले आनन्दघन भगवान् का दर्शन पाये बिना क्या जीवन कृतकृत्य हो सकता है? मनुष्य

इसी आनन्दके लिए तो लालायित है! इसी आनन्दको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वह इन्द्रियोंके द्वारोंसे विषयोंके संग भीख माँगता फिरता है। कहाँ आनन्द है, कहाँ शान्ति है—की टेर लगाता हुआ निरन्तर छटपटाता रहता है, परन्तु 'नाभिगन्धको मृग नहिं जानत, ढूँढत व्याकुल दौर'—फिर उसे आनन्द कैसे मिलता? आनन्द तो विषयोंमें नहीं है। तथापि यह आनन्द ही जीवका उपभोग बना है। उस आनन्दका अणुमात्र विषयमें है, इसी कारण जीव विषयको छोड़कर हटना नहीं चाहता। आनन्द की आकांक्षा जीवके लिए स्वाभाविक है। उसने आंशिक आनन्द या आनन्दके एक साधारण कणको अनेकों बार प्राप्त किया है, परन्तु उसमें उसे तृप्ति नहीं मिली। वह चाहता है आनन्दरसके सिन्धुको। उसमें सदाके लिए डुबकी मारकर अपने आपको विलीन करनेकेलिए जीव पागल है। यह पूर्णात् पूर्णतर या पूर्ण-तम आनन्द भगवान्का स्वरूप है। उसको प्राप्त किए बिना, उसमें विश्वास करके अनुभव किए बिना यह जीवनयात्रा व्यर्थ है। अतएव भगवान्में विश्वास न करनेसे जो हानि होती है उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। आनन्दकी आकांक्षा ही पवित्र होकर भक्तिमें परिणत होती है। पहले कह चुका हूँ कि आनन्द की आकांक्षा जीवमें स्वाभाविक होती है, अतएव भक्ति मनुष्यका जन्मजात संस्कार है। उस भक्तिकी चारितार्थताके लिए भगवान् की आवश्यकता है। भक्ति हमारे भीतर है, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि भक्तिप्रिय माधव भी हैं।